भारी भ्रम

अर्थात्

राष्ट्रीय सुविधासे सैन्यबलका सम्बन्ध और उसके
समझनेमें भूल

रचयिता

नार्मन एंजेल

[राल्फ़ नार्मन एंजेल लेन]

अनुवादक

रामदास गौड़, एम्. ए.

प्रकाशक

एफ़. टी. ब्रुक्स

व्यासाश्रम पुस्तकालय, नं. ७, मंडावल्ली लेन,
मैलापुर, मद्रास

१९१५

इस पुस्तकके मिलनेके पते--

(१) मैनेजर, व्यासाश्रम पुस्तकालय,
नं० ७, मंडावल्ली लेन,
मैलापुर, मद्रास।

(ऊपरके पतेसे अंग्रेज़ीमें पत्रव्यवहार करनेमें अधिक सुविधा होगी।)

(२) पंडित सुदर्शनाचार्य्य, बी० ए०,
सम्पादक, "गृहलक्ष्मी"
इलाहाबाद।

❀ ❀ ❀ ❀

पट्ठेकी ज़िल्द बढ़िया काग़ज़ मूल्य १॥)
महसूल डाक ⁼)॥

सादी जिल्द साधारण काग़ज़ मूल्य १।)
महसूल डाक ⁼)

अनुवादकीय

भूमिका

पुष्यतां राजधानीषु सर्वसम्पन्महीक्षिताम्
पृथिवी भ्रातृभावेन भुज्यतां विज्वरो भव।

महाभारत, उ० पं०, १२६।१८॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने युद्धके पहले पांडवोंकी ओरसे दूत होकर जब शान्तिपूर्वक झगड़ा निबटानेके लिए दुर्योधनको समझाया था, उसी अवसरपर उपर्य्युक्त वाक्य कहा गया था। आज यदि वही वाक्य पृथ्वीके समस्त सभ्य कहलानेवाले राष्ट्रोंके प्रति दुहराया जाय तो अनुचित न होगा। उस समय परिस्थिति और थी और आज परिस्थिति एकदम भिन्न है। उस समय महाभारतीय युद्ध कई कारणोंसे अनिवार्य्य था। आज वह बात नहीं है। युरोपीय इतिहासके अनुशीलनसे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि युद्धकी मात्रा इधर अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक घटती गयी है और अनेक झगड़े जो सौ बरस पहले विना युद्धके न निबटते आज बातकी बातमें तय हो जाते हैं। यद्यपि हेगकी अन्तर्राष्ट्रीय पंचायतको कई कारणोंसे इच्छित सफलता नहीं हुई तथापि क्या वर्त्तमान प्रवृत्तिपर विचार करके यह आशा नहीं कर सकते कि एक दिन यह महासभा युद्धको पुरानी कहानी कर दिखाएगी? यह सुनकर किसको आनन्द न होगा कि जिस प्रकार रणमूर्त्ति भगवती दुर्गाको सब देवताओंके अंग प्रत्यंगकी शक्तियां मिलीं, उसी तरह आज हेगमें शान्तिमन्दिर-की स्थापनामें परस्पर-विरोध-रखनेवाली अनेक शक्तियोंने मिलकर

सहायता की और वह अनुपम अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिमन्दिर सर्वांगपूर्ण बन गया ?*

जिस भारतवर्षकी प्रत्येक प्रार्थनामें शान्ति मांगी जाती है, शान्ति ही जिसके विवेकशीलोंका आदर्श है, उसके लिए नार्मन एंजेलका "मा युध्यस्व"वाला आदर्श बाहुल्यमात्र होगा। किन्तु एंजेलने अपने "The Great Illusion" नामक पुस्तकमें जिस रीतिसे इस विषयका प्रतिपादन किया है, वह प्रत्येक भारतीयके जानने योग्य है। आधुनिक यन्त्राभ्युदयसे, रेल, तार, डाक, पत्रादि परस्पर व्यवहारके अनेक कारणोंसे अब भारतवर्ष संसारका एक अंग हो गया है। अतः यदि हम यही न जानें कि संसारमें क्या हो रहा है और जो कुछ हो रहा है उससे हमारा क्या सम्बन्ध है, उसमें हमारा क्या कर्त्तव्य है, तो हमारी दशा शरीरके उस अंगकी सी हो जायगी जो ज्ञानशून्य हो गया है, अतः निरर्थक है। संसारमें जो सर्वांगैक-चेतनता आ रही है उससे भारतवर्ष न तो अलग है न हो सकता है। उसे अभीसे संसारकी उस एकतामें एक प्रधान अंगकी

*इस मन्दिरके निर्म्माणके लिए स्काट धनकुबेर मिस्टर अंड्रू कारनेगीने पहले पहल पैंतालीस लाख रुपये दिये। डच पार्लिमेंटने आठ लाख चालीस हज़ार भूमिके लिए दिये। नारवे और स्वीडेनने दीवारोंके निचले भागके लिए पत्थर दिये, डेनमार्कने बाग़का फ़ौआरा बनवाया। हालैंडने ईंटें दीं और सभी सीढ़ियां बनवायीं। इटलीने बरामदोंके लिए संगमरमर और ब्रिटेनने खिड़कियों और दरवाज़ोंके लिए रंगीन कांच दिये। रंग पिचीकारी, चित्रकारी फ्रांसने करायी। रूसने एक बहुमूल्य संग-यशबका सुन्दर गुलदान, हंगरीने अत्यन्त सुन्दर शमादान, और आस्ट्रियाने उसके रखने योग्य बहुमूल्य रिकाबियां, अमेरिकाने कांसे और संगमरमरकी मूर्त्तियां, चीनने उत्तमोत्तम प्याले, और जापानने रेशमपरके उत्तमोत्तम चित्र दिये। ब्रेज़िल और संतसल्वेडरने लकड़ी देकर दरवाज़े आदि बनवाये। हैतीके हबशी प्रजातंत्रने कुर्सियां मेज़ें आदि दीं। रूमने और रूमानियाने दरी बिछवायी, स्विटसरलैंडने धवरहरेके लिए धर्म्मघड़ी, बेल्जियमने लोहेके किवाड़, युयुत्सु जर्म्मनीने बाहरके फाटक और आस्ट्रेलियाने सभापतिके लिए मेज़ बनवायी।

भाँति सम्मिलित होनेके लिए तय्यार रहना चाहिए जो शान्तिके आन्दोलनवाले संसारकी होनहार दशा तथा अपना इष्ट समझते हैं। संसारमें जो कुछ हो रहा है उससे हम लोगोंको उदासीन और अनभिज्ञ न रहना चाहिए। समाचारपत्रोंके अनेक पाठक जो बहुधा विदेशी तार समाचारोंके अर्थ नहीं समझते उसका कारण यही उदासीनता है। हिन्दी भाषामें ऐसी पुस्तकोंका सर्वथा अभाव है। इस अनुवादसे हिन्दीके पाठकोंको युरोपकी अनेक ऐतिहासिक घटनाएं मालूम हो जायँगी और उनकी वास्तविक स्थिति समझमें आ जायगी। पाठकोंकी विशेष सुविधाके लिए प्रस्तावनारूप युरोपका संक्षिप्त इतिहास और परिशिष्टरूप ग्रंथ-कार परिचय, विषयसूची और टिप्पणी भी अनुवादकने दी है।

अनुवाद कठिन काम है। विषयकी नवीनतासे, भाषामें उपयुक्त राजनीतिक शब्दोंके अभावसे, एवं अनुवादककी अयोग्यता अस्वास्थ्य और समयाभावसे कठिनाई और भी विशेषरूपसे बढ़ गयी। इस अनुवादमें यथाशक्ति उन्हीं शब्दोंके प्रयोगका प्रयत्न किया गया है जो अखबारी दुनियांमें चल गये हैं। नयी टकसालके शब्दोंसे भी लाचार हो काम लेना पड़ा है। उपयुक्त शब्दोंके चुननेमें कई मित्रोंने सहायताकी, जिसके लिए अनुवादक उनका अनुगृहीत है।

प्रयागराज।
श्रावणी, १९७० वि०

अनुवादक

युरोपका संक्षिप्त इतिहास और वर्त्तमान परिस्थिति

सभ्यता क्या है ?

मनुष्योंके परस्पर मेलजोलसे रहनेमें उन्नति, एकताकी वृद्धि, तथा जातिभेद वा देशभेदवाले भावोंमें कमीको स्थूलतः "सभ्यता" (Civilization) कहते हैं। सभ्यताके साथ ही साथ सामाजिक मानसिक और नैतिक सब तरहके ज्ञानमें वृद्धि और इस वृद्धिके साथ ही साथ बढ़ा हुआ दायित्व भी होना अनिवार्य्य समझा जाता है। ज्ञानका जितना ही उत्तम प्रयोग होगा, दायित्वको जितना ही अधिक गौरव दिया जायगा उतनी ही अधिक जातीय वा व्यक्तिगत सभ्यता समझी जायगी। पाश्चात्य दार्शनिक प्रायः इसी प्रकार सभ्यतादेवीके रूपका वर्णन करते हैं।

यूनानी

इतिहाससे प्रकट है कि भारतकी प्राचीन सभ्यताका जब ह्रास हो रहा था उस समय यूनानदेशकी नवोत्थित सभ्यताका भी ह्रास हो चला था। यूनान और भारतका बहुत बड़ा सम्बन्ध था। वही यूनान, आजकलका ग्रीस, जो वर्त्तमान युरोपके पूर्व-दक्षिणमें स्थित है युरोपकी प्राचीनतम सभ्यताका केन्द्र था। यूनानमें अनेक छोटी छोटी जातियां थीं जिनका राज्य प्रायः नगरोंमें विभक्त था। इससे ही राजनीतिका नाम "पालिटिक्स" अर्थात "नगर-शास्त्र" पड़ा। पहाड़ी देश होनेसे जातियां दूर दूर बसी हुई थीं किन्तु भाषा और धर्म्म एक होनेसे और खेल और व्यायामके प्रसिद्ध स्थान और तीर्थोंमें परस्पर मिलनेसे सबमें एक-जातीयताका भाव था। हिन्दुओंकी तरह यूनानी देवी देवताओंको पूजते तिहवार मनाते और होम आदि करते थे। जिस तरह युद्धकलामें कुशल थे उसी तरह उन्होंने विद्यामें भी बड़ी उन्नति की। गणित, ज्यौतिष, न्याय, दर्शन, धर्म्मशास्त्र, राजनीति, वैद्यक आदि सब विषयोंमें इनके दार्शनिक पारंगत हुए।

यूनानका इतिहास ईसाके डेढ़ हज़ार बरस पहलेसे प्रारंभ होता

है। एथेंसका राज्य प्रजासत्ताक था और स्पार्टाका राजवंशीय। इन्हीं दो रीतियोंपर और भी नगरोंके राज्य थे। ५६४ वर्ष खीष्टसे पहले यूनानमें सोलन नामक प्रसिद्ध धर्म्मशास्त्री हुआ था। जगद्विजयी सिकन्दरका नाम जो प्रसिद्ध है यूनानके अन्तर्गत मकदूनियाका राजा था। यूनानी जलस्थल दोनोंमें बलवान थे। मराथन, थर्म्मापोली, सलामिस, मयकाली आदिके युद्ध प्रसिद्ध हैं जिनमें मुट्ठी मुट्ठोभर यूनानियोंने लाखोंकी सेना तहस-नहस कर डाली हैं। पारसीकोंपर अनेक बार विजय प्राप्त करके वे इतने मत्त हो गये कि आपसमें ही लड़ने लगे। खीष्टाब्दके सौ बरस पहले ही यूनानपर रोमका आधिपत्य हो गया था। जब रोम-साम्राज्यके दो भाग हो गये यूनान पूर्वीयके अधिकारमें रहा। जब तुर्कोंका अधिकार पूर्वीय भागपर हो गया तबसे तुर्कोंके अधीन रहा। १८०० बरस पीछे, फिर स्वाधीन हुआ है।

यूनानका इतिहास
खी. पू. १५००
—१८२१ ई०

यूनानियोंके वृद्धिकालमें ही युरोपके उत्तर इटली प्रायद्वीपमें टैबरनदीके किनारे रोमलने रोम नगर बसाया। रोमका अधिकार बढ़ते बढ़ते इतना बढ़ा कि उसने समस्त युरोपपर आधिपत्य किया। रोमके लोग भी यूनानियोंकी नाईं, बल्कि प्रायः उन्हीं देवी देवताओंके उपासक थे। रण-कौशलके साथ ही साथ रोम भी यूनानियोंकी तरह विद्या-व्यसनी थे।

रोमका इतिहास

रोमल पहला राजा हुआ। उसके बाद छः और राजा हुए जिनका राज्य २४४ सालतक रहा। फिर प्रजातंत्र हुआ जिसके राष्ट्रपति विविध नामोंसे ४८३ वर्षतक राज्य करते रहे। रोमनोंमें एक ऊंची जाति थी दूसरी नीच। ऊंची जातिवाले पहले अधिक प्रभावशाली रहे परन्तु धीरे धीरे नीच जातिवालोंके भी अधिकार बढ़े और प्रजातंत्रमें वह भी अधिकारी हुए। २७ वर्ष ईसाके पूर्वसे ३९५ ईसवीतक उनके साठ सम्राटोंने राज्य किये। पहले रोमका राज्य रोम नगरमें ही सीमित था। धीरे धीरे पूरा इटली, सिसिली, कारथेज आदि भी रोमने ले लिये और यूनानको भी साम्राज्यमें मिला लिया। खीष्टके जन्म-कालतक रोमका साम्राज्य पश्चिममें ब्रिटेनसे लेकर पूर्वमें इराकतक फैल गया था और मिस्रपर अधिकार हो गया था।

खी. पू. ८००
—३९५ ई०

ईसाई धर्मका प्रचार

इसी समय ईसाई मतका प्रचार होने लगा। लोकमत इस नये धर्म्मके इतना विरुद्ध था कि नये ईसाइयोंको प्राण बचाना कठिन था। सन् ६६में रोममें ही संत-पालका सिर काट लिया गया। किन्तु होते होते यह मत ऐसा फैला कि उसी रोममें पोपका राज्य हो गया।

रोम साम्राज्यमें परिवर्त्तन ३३०–३९५ई०

आजकलकी युरोपीय राजनीतिक पद्धतिका प्रारंभ उसी समयसे समझना चाहिए जब रोमन साम्राज्यपर टिउटोनिक जातियोंके ऐसे आक्रमण हुए कि तहस-नहस हो गया। एक तरहसे रोमन साम्राज्यकी अधोगति पहलेसे ही हो रही थी। युद्धादि कारणोंसे जनसंख्याका दिनोंदिन ह्रास होता गया और देशमें विदेशी लोग आ आकर बस गये थे। सेनामें अधिकांश जर्म्मन भर्त्ती थे और इनमें कितने तो साम्राज्यके बड़े उच्च अधिकारी हो गये थे। अन्ततः रोमन सम्राट सकुटुंब निर्दय राज्य करने लगा और प्रजाका रक्त चूस चूस कोष भरने लगा। उसके साम्राज्यके अनेक भागोंमें जो असभ्य देशाधिपति हुए उन्होंने भी इस काममें कुछ उठा न रक्खा। पहले पहल चौथी सदीमें टिउटनोंके आक्रमणका इतना बड़ा दबाव सीमापर पड़ा कि साम्राज्यमें परिवर्त्तन अनिवार्य्य हो गया। सन् ३३०में सम्राट कंस्टंटैनने रोमसे हटकर इस्तंबोलमें राजधानी स्थापित की। उसके ही नामपर नवीन राजधानी कुस्तुंतुनिया कहलायी।

कंस्टंटैन

कंस्टंटैन बड़ा प्रतापी रोमन सम्राट हुआ। उसने साम्राज्यके प्रबन्धमें अनेक महत्त्वके सुधार किये। उसकी माता ब्रिटिश राजकुमारी हेलेना ईसाई थी, इससे उसे इस मतपर बड़ी श्रद्धा थी। उसने ईसाइयोंकी अनेक भांतिसे सहायता की यद्यपि इसे उसने राज्यधर्म्म नहीं बनाया। मृत्युके थोड़े ही दिनों पूर्व वह स्वयं ईसाई हो गया। वही पहला ईसाई सम्राट हुआ। कुछ दिनतक, ब्रिटेनसे लेकर एशियाके इराकतक, साम्राज्यका प्रबन्ध नयी राजधानीसे हुआ किन्तु ३९५ई०में पूर्वी और पच्छिमी दो विभाग हो गये। इसी समयसे युरोपीय सभ्यता तथा धर्म्ममें भी दो विभाग हो गये जिनका भेद नित्य बढ़ता ही गया।

अब टिउटन लोगोंके आक्रमण नित्य बढ़ने लगे। इनमें दो तरहकी जातियां थीं। एक तो जर्म्मनीकी जातियां गोल बांधे आती थीं और लूटमार करके निर्वाह करती थीं किन्तु बस नहीं जाती थीं। जैसे, Goth जाट, वंडाल, बरगंडी, लम्बर्ड आदि। दूसरी ऐसी जातियां थीं जिनके गोल तो नहीं थे किन्तु अलग अलग वर्गोंमें बसने योग्य स्थानकी खोजमें आती थीं और बस जाती थीं—जैसे फ़िरंग और सक्सन। ये लोग रोमन साम्राज्यके प्रबन्धसे लाभ उठाते और स्वयं अपने राजा बनाकर उसी साम्राज्यमें रह जाते थे। यही राजा आगेके परम्परागत-राज्योंके मूल-पुरुष हुए। इन लोगोंके आक्रमणका कारण यह था कि पूर्व दिशासे तूरानी आक्रामक लोग इन्हें भगाते थे और ये लड़भिड़कर साम्राज्यके भीतर बसकर अपनी रक्षा करते थे।

टिउटनोंकी चढ़ाई

३७८में जाटोंने अड्रियानोपुलके युद्धमें सम्राट वेलंसको पराजित किया और ४१०में पच्छिमी जाटोंके राजा अलर्कने रोमको घेरकर ले लिया और अलर्कके पीछे जाट लोगोंने स्पेन और गालपर भी अधिकार कर लिया। ४२६में वंडालराज गयसर्कने उत्तरीय अफ्रिकाका भी एक भाग ले लिया। इस तरह भूमध्यसागरके उत्तर दक्षिण दोनों ओर टिउटोनिक जातियोंका अधिकार हो गया। उत्तर फ़िरंगी और बरगंडी जर्म्मनी और गालमें फैल रहे थे और ब्रिटेनमें सक्सनों आंगलों और Jutes यूतोंने अधिकार कर लिया था। प्राचीसे तूरानियोंके ऐसे आक्रमण हुए कि कुछ कालतक यह अनिश्चित हो गया कि युरोपपर आर्य्योंका राज्य रहेगा कि तूरानियोंका। किन्तु ४५१में सर्वविजयी हूणराज अट्टिला (देखो 'भारी भ्रम' नोट पृ० ४५) जाटराज (Theodosius) दिवोदाससे चालोंसकी लड़ाईमें ऐसी बुरी तरहसे हारा कि हूणोंका बल अत्यन्त दब गया, और तूरानियोंका राज्य नष्टप्राय हो गया। सन् ५२६तक जाटोंका राज इटली गाल और स्पेनमें रहा। उसी साल जाट-सम्राट (Theodoric) देवद्वारके मरते ही साम्राज्य तहसनहस हो गया। गाल और स्पेनके राज्य अलग अलग हो गये। ४२७–५६५तक रोमन सम्राट जस्टिनियनके समयमें अफ्रिकाका

जाट और हूण
३७८–५६८ई०

वंडाल राज्य नष्ट हुआ, इटलीके पूर्वी आटोंका दमन किया गया, दक्षिण स्पेन ले लिया गया और पारसियोंका आक्रमण रोका गया। जस्टिनियनके मरते ही ५६८में लम्बर्ड-राज अलबोइनने इटलीपर अधिकार कर लिया। यद्यपि सम्राट (Heroclius) हरिकुलने प्राचीमें पारसीकोंको पराजित करके रोमन साम्राज्यकी वृद्धि की, किन्तु इटलीका प्रायद्वीप सदैवके लिए अलग हो गया।

पोपोंके अधिकार

इस घटनाका परिणाम बड़े महत्वका हुआ। सातवीं सदीके लगते लगते रोम पोप लोगोंका नगर बन गया; और ईसाइयोंके राजगुरु वा महा-महन्तकी पदवीसे बढ़ते बढ़ते पोपोंने राजनीतिक अधिकार भी अपने हाथमें कर लिये। राजनीतिका भी अधिकार रखनेवाला पहला पोप महा-ग्रेगरी (५९०–६०४) हुआ। इसने धर्म्मके बहाने समस्त ईसाई राजाओंपर अपना अधिकार जमाया और नाममात्रको महन्त किन्तु वास्तविक सम्राट बन गया।

इसलामका अभ्यु-दय, ६२२ई०

इधर सातवीं सदीमें अरबमें मुहम्मद साहबने मुसलमानी मत चलाया और खड्गके बलसे प्रचारका आरम्भ हुआ। ताज़ेदम अरबके मुसलमान नये धर्म्मके जोशमें भरे हुए सारे एशिया-मैनरमें फैल गये, मिस्रको जीत लिया उत्तरीय अफ्रिकापर अधिकार जमा लिया, उत्तरीय स्पेनको दख़ल करके आगे नारबोनतक बढ़ गये, किन्तु ७३२में टूर्सके युद्धमें हारकर गालसे निकल आये और अधिक आगे न बढ़ सके। इसका परिणाम यह हुआ कि ईसाई लोग युरोपमें ही बन्द से हो गये और उनका प्राच्य व्यापार-मार्ग अवरुद्ध हो गया। मुसलमान लोगोंने युरोपमें विद्याका प्रचार किया और विश्वविद्यालय स्थापित किये। माध्यमिक कालमें युरोपीय सभ्यताके गुरु यही थे। स्पेनमें तो पन्द्रहवीं सदीतक इनका कुछ न कुछ अधिकार बना ही रहा।

कराल-वंश

नारबोनका विजेता कराल मर्टल यद्यपि राजा नहीं था तथापि बड़ा उच्च अधिकारी होनेसे फ़िरंगियोंका वास्तविक शासक था। इस विजयसे उसका बल और भी बढ़ गया। उसके मरनेपर उसका पुत्र पिप्पिन फ़िरंगियोंका राजा हो गया। रोमके पोप तृतीय स्टीफ़ेनकी प्रार्थनापर इटली जाकर पिप्पिनने उसे लम्बर्डियोंके आक्रमणसे बचाया, इससे करालके

घरानेकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ गयी। इसी पिप्पिनका पुत्र कराल-महान (Charlemagne) बड़ा प्रतापी सम्राट हुआ। इसने लम्ब-र्डोंको जीतकर उत्तर इटलीको भी अपने राज्यमें मिला लिया।

रोम-साम्राज्यके दो टुकड़े, ७९७ई०

७९७में कुस्तुन्तुनियामें एक रानीके गद्दीपर बैठनेसे पोप लिओ और रोमके लोगोंने यह ठहराया कि स्त्री सम्राटका स्थान नहीं ले सकती और रोम तथा पश्चिमी साम्राज्य एकदम अलग हो गया। लिओने पच्छिम युरोपका सम्राट कराल-महानको बनाया। उस समयसे तुर्कोंके विजयतक (१४५३) कुस्तुन्तुनियामें बराबर पूर्वीय साम्राज्यकी राजधानी रही।

कराल-महानकी मृत्यु और साम्राज्यमें फूट। माध्यमिक काल, ८००–१६००ई०

कराल-महानका राज्य आजकलके पूरे जर्म्मनी और फ्रांसपर था तथा इटली और स्पेनका अधिकांश भी सम्मिलित था। शासन-नीति रोमन और टिउटोनिक मिली जुली थी। मरनेपर अपने पीछे उसने सर्व-देशैकराज्यकी प्रथा छोड़ी जिसपर फ्रांस और जर्म्मनीमें अलग अलग किन्तु बड़े बड़े पूर्णाधिकार-वाले राज्य बन गये। रोमवाली यह प्रथा भी चल गयी कि रवाजके अनुसार जिस कुलके लोग राज्य करते थे उनकी परम्परा बन गयी और उनको परम्परागत अधिकार मिल गये, किन्तु उसकी मृत्युसे [८१४] लेकर बारहवीं सदीतक यह प्रथा शक्ति-हीन ही होती गयी और छोटी छोटी रियासतोंकी प्रथा दृढ़ होती गयी। इसी बीचमें पूर्वीय साम्राज्य टूटते टूटते बचा। इससे मुसलमानोंका ज़ोर रुका रह गया और युरोप और ईसाइयोंका राज्य सुरक्षित रहा। साथ ही साथ पूरब और पच्छिमके ईसाई मतमें भी भेद पड़ता गया। रोम और कुस्तुन्तुनियां यह दोनों रोम साम्राज्यकी राजधानियां जबसे हुईं* तबसे दोनों जगह अलग अलग खीष्टीय धर्म्माध्यक्ष भी हो गये। ४८४में दोनों जगहोंके धर्म्माध्यक्षोंने एक दूसरेको धर्म्मसे वहिष्कृत कर दिया। इसके अनन्तर कई बार यह घटना हुई। यहांतक कि रोमके मूर्त्तिपूजक

---

*तबसे ही आजकलकी टर्कीको साधारणतः "रूम" कहने लगे। अब "रूमसे" लोग "टर्की" समझते हैं। "रोम" इटलीकी राजधानी है उससे और "रूमसे" कोई सम्बन्ध नहीं है।

धर्म्मकी कुस्तुन्तुनियांका अमूर्त्तिपूजक धर्म्म निन्दा करने लगा। बादको वही कुस्तुन्तुनियांवाला "ग्रीक चर्च" और रोमका "कथलिक चर्च" कहलाने लगा। मूर्त्तिखंडन और मूर्त्तिमंडनका झगड़ा पड़ते पड़ते परिणाम यह हुआ कि तेरहवीं सदीमें यरूशलीम तीर्थपर प्राण निछावर करनेवाले धर्म्मवीरोंने कुस्तुन्तुनियांपर अधिकार कर लिया और रोमका सा राज्य फिर यहां स्थापित किया।

इसी बीच पच्छिमी साम्राज्य भी टूटता गया जिसमें पुनर्विभाग हो होकर अन्ततः आजकलके फ्रांस और जर्म्मनी नामधारी देश अलग अलग कहलाने लगे।

जल-डाकू

जिस कालमें यह राज्य बन बिगड़ रहे थे युरोपके तीनों ओरके समुद्रतटोंसे जल-डाकू बराबर लूटमार मचाते थे, और तटसे देशके भीतरतक घुस आते और गावँके गावँ जला डालते थे। इनके उत्पात और उपद्रवसे शान्तिपूर्व्वक राज्यव्यवस्था नहीं हो सकती थी। इनमें बहुतेरे द्वीपों और समुद्रतटके देशोंमें बसकर अपना राज्य भी स्थापित कर लेते थे। आजकलके जितने युरोपीय देश हैं, सबमें अपनेको कुलीन लगानेवाले बहुतेरे रईस किसी न किसी प्रसिद्ध जल-डाकूको अपने वंशका पूर्वपुरुष प्रमाणित करनेमें अपना गौरव समझते हैं।

रोम-साम्राज्यका पतन

उसी कालमें राज्यकी साधारण व्यवस्था बिगड़ गयी। फ़िरंगी ज़मींदार स्वतंत्र हो गये। सम्राटके कर्म्मचारी जागीरदार रईस थे ही, इनकी वंशपरम्परा रईसोंकी बन गयी। यह भी स्वतंत्र ही से थे। सम्राट अत्यन्त बलहीन होकर प्रजाकी रक्षामें असमर्थ था। स्वभावतः प्रजा भी पूर्वोक्त ज़मींदारोंसे ही रक्षा पाने लगी। इस तरह यह छोटे छोटे स्वतंत्र राजा बड़े राजाकी सहायता करके राज्यकी रक्षा करने लगे। इससे यह प्रथा चली कि महाराजा तो जागीर देकर रईस या राजा बना देता और राजा उसके बदले उसका पक्ष लेकर काम पड़े तो युद्ध करता था। ग्यारहवीं सदीमें नारमन जातिने इंगलैंडको जीतकर वहां भी यह रीति चलायी। इसी प्रकार इटली और सिसिलीमें भी इनके ही द्वारा यह प्रथा जारी हुई। फ्रांस और जर्म्मनीमें तो इस प्रथाका राज्य ही था। परन्तु इंगलैंडने इस प्रथासे बहुत जल्दी पल्ला छुड़ा लिया। फ्रांसके राजाका अधिकार

बढ़ते बढ़ते सत्रहवीं सदीतक यह प्रथा वहांसे उठ गयी। किन्तु जर्म्मनीकी दशा और ही थी। जर्म्मन राजा रोमका सम्राट कहलाता था। इस नाममात्रकी पदवीके लिए जागीरदारोंकी सहायताके बिना काम नहीं चल सकता था। इसके सिवा यह पदवी पोपसे ही मिलती थी और पोप अपने अर्थसाधनके लिए रईसोंको भड़काया करता था। अतः जर्म्मन सम्राटको दोनों पक्षको प्रसन्न रखना पड़ता था। होते होते वंशपरम्परा टूट गयी और रईसोंके निर्वाचन तथा पोपकी स्वीकृतिपर सम्राट बनाया जाने लगा। सम्राटका अधिकार बराबर घटता जाता था और यह प्रथा जड़ पकड़ती जाती थी। इस तरह रईस लोग क्रमशः स्वतंत्र राजा हो गये, और रोमन सम्राटकी पदवी जो नाममात्रकी रह गयी थी १८०६में बिलकुल उड़ गयी और बादको राजाओंके निर्वाचनपर ही जर्म्मन-सम्राटकी पदवी प्रशाके राजाको मिली। माध्यमिक कालमें [८००-१६००] यह प्रथा प्रारंभ हुई, अपनी उन्नत अवस्थाको पहुँची और उसके अन्तमें नगरोंकी उन्नति, युद्धकी रीतियोंमें परिवर्त्तन एवं विद्याकी वृद्धिसे उठ गयी।

"क्रुसेड" धर्म्मयुद्ध १०९३-१२९१ई०

पहले पहल १०७३में रोमन सम्राटकी पदवी प्रदान करनेके अधिकारपर पोप और जर्म्मन सम्राटसे झगड़ा उठा। यह उस बड़े झगड़ेका प्रारंभ था जिससे सांसारिक मामलोंमें धर्म्माध्यक्षोंका अधिकार धीरे धीरे जाता रहा। तथापि आदिमें पोपका ही प्रभाव बढ़ा रहा यहांतक कि पोप द्वितीय अर्बनके समयमें धर्म्माधीशका अधिकार अपनी चरमसीमाको पहुँच गया था जिसका सबसे बड़ा और प्रत्यक्ष प्रमाण यह था कि जब १०९५में पोपने क्लरमंटकी कौंसिलमें युरोपके राजाओंकी दुहाई दी कि ईसाइयोंके पवित्र तीर्थोंको तुर्कोंके हाथसे छुड़ा लें तो सारा खीष्टीय युरोप खलबला उठा और राजा, राजकुमार, प्रजा, सैनिक सबके सब इस धर्म्मयुद्धमें तनमनधन निछावर करनेको तय्यार हो गये। इन चढ़ाइयोंका नाम "क्रुसेड" पड़ा। पहला क्रुसेड १०९३में पीटर नामक ईसाई संन्यासीके नेतृत्त्वमें यरूशलीमपर हुआ था। इसी तरह वस्तुतः आठ चढ़ाइयां हुईं। धर्म्मवीरोंने यरूशलीमको लेकर राज्य स्थापित कर ही दिया। यह राज्य पूरे दो सौ बरस भी न रहा। मिस्रके सुलतानने १२९१में एकड़ नामक स्थान छीन लिया और इस राज्यको नष्ट कर डाला।

इन धर्म्मयुद्धवाले दो सौ बरसोंने युरोपपर विलपवकारी प्रभाव डाला। पोपका अधिकार बढ़ गया। युरोपके राजाओंके बलमें वृद्धि हुई। प्राचीसे परिचय अधिक हो गया। वाणिज्य व्यापार बढ़ा। नये नये उद्योग फैले। रईसों और जागीरदारोंका प्रभाव शीघ्र घटने लगा और नागरिक जीवनका अभिनव अभ्युदय हुआ। मठ और संन्यासी बढ़ गये, साहित्य और दर्शनोंका अध्ययन होने लगा। किन्तु विद्या धर्म्माध्यक्षोंका ही स्वत्व बनी रही जिससे उनका अधिकार इतना बढ़ा कि सारे पश्चिम युरोपसे कर ले लेकर पोप लोगोंने वह राज्य किया जो किसी सम्राटने न किया होगा। उनको अनोखा अन्तर्राष्ट्रीय अनुभव था। उनकी विद्या और बुद्धि उस समय अप्रतिम थी और उनका चरित्र भी पवित्र था। इस तरह केवल धर्म्म-शासक ही नहीं किन्तु युरोपीय राजनीतिक एकता जो कुछ उस समय समझी जाती थी उसकी मूर्त्ति भी वही थे।

पोपका शासन

क्रुसेडसे मुसलमानोंका ज़ोर थम गया, बल्कि ख़िलाफ़तका बड़ा नुक़सान हुआ। स्पेनसे भी मुसलमान निकाले जाने लगे। तुर्कोंकी बाढ़ इतनी रुकी कि दो सौ बरसोंके लिए कुस्तुंतुनिया सुरक्षित हो गया। इटलीके वीनिस फ़्लोरेंस आदि नगरोंका व्यापार जगद्व्यापी हो गया। अबतक जो राजनीतिमें रोमन सम्राट और धर्म्ममें पोप सारे युरोपके शासक समझे जाते थे, १४–१५ सदीमें राज्योंके सुव्यवस्थित हो जानेसे और राष्ट्रीयताकी वृद्धिसे वह बात धीरे धीरे जाती रही। इंगलैंड फ्रांस और स्पेनमें स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्य हो गये। इटलीमें राज्यव्यवस्थाके बिगड़ जाने और जीवनका भय होनेसे पोप क्लीमेंटको फ्रांसमें १३०५से १३७७तक रहना पड़ा। रोममें दूसरा पोप स्थापित हो गया। दो पोपोंमें कुछ दिन झगड़ा चला, तबसे उनका अधिकार एवं प्रभाव अत्यन्त कम हो गया। पोपसे श्रद्धा हट गयी। धर्म्मसम्बन्धी क्रुसेडवाला जोश ऐसा मिट गया कि सम्राट षष्ठ जान युरोपके राजाओंके द्वार द्वार घूमा कि तुर्कोंकी बाढ़ रोकनेमें सहायता करें पर किसीने न सुना। पोपकी दुहाई तिहाई भी व्यर्थ ही गयी। लोग अपने राज्य सँभालने और घरेलू झगड़े निबटानेमें फँसे रह गये। उधर तुर्कोंने पूर्वीय

माध्यमिक और परिवर्त्तनकाल १३००–१५००

साम्राज्यपर चढ़ाई की और अन्ततः १५४३में कुस्तुन्तुनियांमें दख़ल कर लिया। इस समय इटलीमें भी स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गया था। युरोपके पश्चिमीय स्वतंत्र राज्योंमें तुर्कोंके आक्रमणसे भागे हुए दार्शनिकों, साहित्यिकों तथा साधारणतः विद्या व्यसनियोंको शरण मिली, तबसे युरोपमें पादरियोंके सिवाय साधारण लोगोंमें भी विद्या और स्वतंत्र विचारका प्रचार हुआ। जिस विद्यापर पादरियोंने अपना इजारा कर रक्खा था उसके सर्वसाधारणमें फैलनेसे नये भाव नये विचार उत्पन्न हुए। इसलिए १४--१५ सदीको "परिवर्त्तनकाल" कहते हैं।

जादू-टोने और जागृति

इस जागृतिके पहले युरोपके सर्वसाधारणके विचार अत्यन्त संकुचित थे। मूढ़ता और अन्धविश्वास ऐसा फैल रहा था कि सभी जादू टोने टोटकोंके भक्त थे। ईसाई मत तो नाममात्र को था। भूतप्रेत जादू टोना बड़े पढ़े लिखे पादरी भी मानते थे। कोई अनिष्ट हुआ नहीं कि उसका दोष किसी जादूगरनीके सिर मढ़ा गया। इतना ही नहीं। जादूगरों और जादूगरनियोंको समुद्रमें तूफ़ान उठा देने, राज्यमें अवर्षण करा देने, मरी फैलाने आदि माने हुए अपराधोंपर अनेक यातनाएँ दे दे मार डालते थे। यों तो यह मूर्खता युरोपभरमें बहुत कालसे थी किन्तु तेरहवीं सदीसे ख़ूब बढ़ी। वैज्ञानिक खोज करनेवाले, रासायनिक, भौतिक आदि जिस किसीने कोई अचम्भेका गुण अपनेमें दिखाया जादूगर समझा गया और विविध यातनाओंका पात्र बन गया। पादरी लोग कहते थे कि यह लोग शैतानके चेले हैं और मूर्ख जनसाधारण इसी विश्वासपर इनपर टूट पड़ता था। राजर बेकन नामक एक प्रसिद्ध पादरी वैज्ञानिक इसी बातपर पेरिसमें बन्दी रहा। अठारहवीं सदीतक इस मूढ़ताका ऐसा ज़ोर रहा कि प्रसिद्ध रासायनिक प्रीस्टलेका घर जला दिया गया। इस अन्धविश्वासका कारण बैबिलके ही कुछ वाक्य थे। बैबिलने आदिसे ही स्त्री जातिको पापोंका मूल ठहरा रक्खा था सो स्त्रियां ही अधिकतः जादूगरनियां बनाकर मारी जाती थीं। सत्रहवीं सदीतक युरोपीय मनुष्योंके मनपर जादू टोनेका राज्य था। विज्ञानके प्रचारसे ही बस अन्धपरम्पराका ह्रास हुआ। किन्तु अब भी जादू टोने माननेवाले मनुष्य युरोपके सभ्य जनसाधारणमें कम नहीं हैं।

विद्या और वैज्ञानिक आविष्कारोंके साथ साथ स्वतंत्र विचार भी ऐसा बढ़ा कि स्वर्गके लिए सर्टिफ़िकेट देनेवाले पोपोंसे श्रद्धा हटने लगी। ब्रिटेनमें विक्लिफ़ (१३२०-१३८४) और जर्म्मनीमें हुस (१३७३-१४१५) तथा लूथर (१४८३-१५४६) आदि बड़े प्रसिद्ध प्रसिद्ध सुधारकोंने अपनी जानोंपर खेलकर पोपसे विरोध किया। विक्लिफ़ स्वयं तो बच गया किन्तु उसके शिष्योंकी दुर्दशा हुई। हुस जीता जला दिया गया। लूथर बहुत दिनोंतक बन्दी रहा। इन सबने देशी भाषाओंमें बैबिलका प्रचार किया और पादरियोंका इजारा छीन लिया, इनके मतके लोग "प्रोटेस्टंट" (विरोधी) कहलाये। कथलिकों (सार्वदेशिकों) और प्रोटेस्टंटोंमें ऐसा कठिन झगड़ा चला कि एक दूसरेके जानो दुश्मन हो गये। जहां कथलिकका आधिक्य होता वहां प्रोटेस्टंट छिप छिपकर प्राणरक्षा करते थे और जहां प्रोटेस्टंट अधिक होते कथलिकोंकी जानके लाले पड़ जाते थे। प्रोटेस्टंट-राजा कथलिक पादरियोंको और कथलिक-राजा प्रोटेस्टंट पादरियोंको जीता जला देते थे। यह रोमांचकारी घटनाएं उन दिनों नित्यकी बातें थीं। पोपोंने यह प्रसिद्ध कर रक्खा था कि प्रोटेस्टंट शैतानके चेले हैं। इनमें बहुतेरोंपर जादूगरीका भी आरोप किया जाता था। इसी कल्पनापर कथलिक राष्ट्रोंने "धर्म्मपरीक्षक" नियुक्त किये। धर्म्मपरीक्षक लोग कथलिक-धर्म्मके विरोधियोंको—बच्चे, बूढ़े, स्त्रियां सबको—शैतानके चेले ठहराकर अनेक यातनाएं दे देकर शूली फांसी देते वा जीता जला देते थे। (Inquisition) "धर्म्मपरीक्षा" बारहवीं सदीमें प्रारम्भ हुई। इसका सबसे बड़ा ज़ोर स्पेनमें था। इसकी ओटमें राजा लोग अपने विरोधी रईसोंका और बहुधा जिनकी चल जाती थी वही अपने वैरियोंका सर्वनाश कर डालते थे। स्पेनमें यह प्रथा पहले पहल १८२०में आईनद्वारा रद्द की गयी। १४७८से १८२०तक स्पेनमें ही साढ़े तीन लाखके लगभग मनुष्य इस "धर्म्मपरीक्षा" नामक पाखंड और अत्याचारके शिकार हुए।

पोपसे विरोध
प्रोटेस्टंट मत
१३२०-१५४६

मध्यवर्त्ती काल सोलहवीं सदीके अंतमें समाप्त हो गया। इसके समाप्त होते होते कई एक ऐसी महत्त्वकी घटनाएं हो गयी थीं जिनका आगेकी सभ्यतापर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। प्राचीसे व्यापार करनेका वीनिसने मानों इजारा कर लिया था। उसका

प्रभाव कम होने लगा। व्यापारकी वृद्धिसे पश्चिम युरोपवालोंके हौसले बढ़े। भारतका धन भी इसमें प्रवर्त्तक हुआ। भूमध्यसागरके सिवा और मार्गोंकी खोज होने लगी। अगले लोग समझते थे कि युरोप-एशिया-अफ्रिका-मात्र संसार है जिसके चहुँओर समुद्र ही समुद्र है। वैज्ञानिकोंने पादरियोंके विरुद्ध यह सिद्ध किया कि पृथ्वी नारंगीकी तरह गोल है। इसी विचारपर स्पेनकी रानीकी सहायतासे कोलम्बस पश्चिमकी ओर जहाज़ ले भारतका नया जलमार्ग खोजने निकला। जाते जाते जिस द्वीपपर पहुँचा उसे ही भारत समझा। यही अमेरिका था। अमेरिकासे आना जाना व्यवहार व्यापार प्रारंभ हुआ। युरोपकी राज्यव्यवस्था अधिक सुगठित होती गयी। राज्योंमें आपसके झगड़े राजदूतों और संधियोंद्वारा निबटने लगे। राज्योंकी दृढ़तासे यह कल्पना बँध गयी कि राजाओंको राज्य करनेका अधिकार ईश्वरदत्त है और सारी भूमि राजाओंकी है। धर्म्मसुधारके फैलनेसे जातियों-के भीतर ही आपसमें फूट फैल गयी, धर्म्म और जातिकी एकता नष्ट हो गयी। जाति जातिमें युद्ध होने लगे। रोमसाम्राज्यके अधः-पतनसे और पोपके अधिकारोंमें अत्यन्त कमी आ जानेसे देश देशके राजा पूर्ण स्वाधीन हो परस्पर कूटनीतिक व्यवहार करने लगे। होते होते राजाओंमें Balance of Power बल-साम्यकी स्थापना हुई। मैत्रीद्वारा कुछ शासक सहयोगी और मित्र हो गये और कुछ प्रतियोगी और वैरी। युरोपमें कई राज्य मिल मिलकर इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें अपने अपने पक्षोंको पुष्ट करने और युद्ध होनेपर पूरी सहायता करने लगे। अब राजा अपने और अपने कुलके स्वार्थसाधनको अपना मुख्य कर्त्तव्य और प्रजाके स्वार्थको गौण समझने लगे।

अमेरिका (१४९२) [illegible]

सोलहवीं सदीमें प्रथम फ्रांसिस फ्रांसमें और पंचम कराल जर्म्मनीमें राजा हुए। इन राजकुलोंमें परस्पर कठिन प्रतियोगिता चली जो थोड़ी बहुत १७५६तक जारी रही। पहले करालका ही प्रभाव बढ़ा रहा किन्तु लूथरके अनुयायी पोप-विरोधियोंने और तुर्कोंके आक्रमणने करालको फ्रांसिसका सामना सफलतापूर्वक न करने दिया। १५४४में जब सन्धि हुई पोपके विरोधियोंका बल इतना बढ़ चुका था कि उनका दबना असंभव हो गया। तुर्कोंके सुल्तान

फ्रांसिस और कराल १५४४–१७५६

सुलेमानका प्रभाव हूनगरी (Hungary) और जर्म्मनीमें ही नहीं बलिक भूमध्यसागरके पच्छिमी किनारेतक पड़ रहा था। १५५६में फिर फ्रांसिससे हारकर कराल स्पेनमें चला गया। जर्म्मन राज्य अपने भाई फ़र्डिनंड और स्पेन आदि अपने पौत्र फ़िलिपको दे दिया। इसके अनन्तर फ्रेंचराज द्वितीय हेनरी और फ़िलिपमें संधि हो गयी।

साम्प्रदायिक संघर्ष, तीस बरसका युद्ध

पोप-विरोधी इस समय नारवे, स्वीडन, डेनमार्क, इंगलैंड, जर्म्मनी, फ्रांस और स्पेनतक फैल गये थे। किन्तु रोमनकथलिक अब धीरे धीरे सँभलने लगे और विरोधियोंका प्रचार कुछ दिनोंके लिए रुक सा गया। १५३५में लयोला नामक कथलिकने (Jesuits) यीशुविदोंका एक नया सम्प्रदाय बनाया। यीशुविदोंकी सहकारितासे और पोपोंके प्रयत्नसे १५६४में एक महती सभाने कथलिक सिद्धान्तोंका सुधार किया और यीशुविदोंने घूम घूमकर देश देशमें पोप और कथलिकमतके प्रति भक्तिका प्रचार करना आरंभ कर दिया। सबसे अधिक राजकीय सहायता इस काममें द्वितीय फ़िलिपसे मिली। फ़िलिपने सुधारविरोधके साथ साथ अपना अधिकार भी बढ़ाना चाहा और उसे अवसर भी मिला। तब भी उसके प्रयत्न सफल नहीं हुए। उसने हालैंडका एक भाग ले लिया पर आगे न बढ़ सका क्योंकि इसी बीच हालैंड प्रजातंत्र राज्य हो गया। पारमाकी सहायतासे उसने इंगलैंडपर चढ़ाई की, किन्तु उसका अजेय-अरिमर्द्दक (Invincible Armada) नामक प्रचंड बेड़ा इस चढ़ाईमें नष्ट हो गया और कूटनीतिक चालोंमें भी इंगलैंडकी महारानी एलिसबथके होते उसकी दाल न गली। फ्रांसको दबानेमें भी वह असफल रहा। १५९८में जो फिर संधि हुई उससे फ्रांसको दृढ़ता हुई। स्पेनके बलका ह्रास होने लगा। इंगलैंडकी स्वतंत्रतामें भी कोई कसर नहीं थी। सब कुछ हुआ पर प्रोटेस्टंटो और कथलिकोंके साम्प्रदायिक झगड़े ज्योंके त्यों रहे। वरन् नित्य विकट होते गये। फ्रांस स्वीडन और जर्म्मनीके प्रोटेस्टंट प्रदेश एक ओर और हब्सबर्ग कुलके स्पेन जर्म्मनी और आस्ट्रिया राज्य जो कथलिक थे, दूसरी ओर सत्रहवीं सदीमें (१६१८–१६४८) तीस वर्षतक लड़ते भिड़ते रहे। इस लम्बे युद्धका अन्त विष्टफालियाकी संधिमें हुआ

जिससे हप्सबर्गवालोंका बल टूट गया और समस्त जर्म्मनीमें स्वराज्य स्थापन न कर सके, वरन् जर्म्मनीके प्रादेशिक राजाओंकी स्वतंत्रता सिद्ध हो गयी और प्रत्येक राजाको यह अधिकार हो गया कि अपने प्रदेशमें अपने मनमाने सम्प्रदायका प्रचार करे। जर्म्मनीसे आस्ट्रिया और इटलीतक ३००से अधिक छोटे छोटे राजा जो पहले उस साम्राज्यके अन्तर्गत थे अब इतने स्वाधीन हो गये कि विदेशी राजाओंसे मैत्री, संधि, युद्ध यथेच्छा कर सकते थे और अपने देशपर शासन करनेमें उन्हें पूरा अधिकार था। साम्राज्यका अब नाम ही नाम रह गया।

विष्टफालियाकी सन्धि (१६४९)

जिस समय विष्टफालियाकी यह प्रसिद्ध सन्धि हुई उसी समयके लगभग (१६४९) इंगलैंडका राजा प्रथम चार्ल्स अपने उद्धत स्वभावके कारण प्रजाके हाथों मारा गया और प्रजातंत्र स्थापित हुआ। यह व्यवस्था प्रजातंत्र-रक्षक क्रामवेलके (१६५८) मरनेपर न चल सकी, एवं १६६१में फिर द्वितीय चार्ल्सको राज्य दिया गया। जर्म्मनी, फ्रांसादिकी दशा कही जा चुकी है। रूसमें भी वहांके रईस राजाका अधिकार घटा रहे थे। डेनमार्क, स्वीडन आदिमें स्वतंत्र राज्य हो गये। इसी कालमें फ्रांसमें चौदहवां लूई राज्यासनपर बैठा। यह समय युरोपके प्रायः सभी राज्योंकी आन्तरिक दुर्बलताका था। इंगलैंडकी प्रजा द्वितीय चार्ल्स और द्वितीय जेम्सके ही झगड़ोंमें फँसी हुई थी। स्पेन अवनतिकी दशामें था। आस्ट्रिया और पोलैंड तुर्कोंसे लड़नेमें लगे हुए थे। हूनगरी, जर्म्मनी आदि देश विष्टफालियाकी सन्धिसे नन्हे नन्हे राज्योंमें विभक्त होकर बलहीन हो गये थे, और तुर्कोंसे पीड़ित थे। फ्रांसकी दशा अच्छी थी सो लूईने इस अवसरसे लाभ उठाया और अपने पैर फैलाये। यह १६४३में पांच बरसकी उमरमें गद्दीपर बैठा था किन्तु मन्त्री मज़ारिन राज्य-व्यवस्था करता रहा। मज़ारिनके मरनेपर १६६१से विना मन्त्री ही स्वतंत्र राज्य करने लगा। उसने जर्म्मनी और स्पेनके कई प्रदेश छीन लिए। उधर तुर्कोंने १६८३में आस्ट्रियाके वीना (Vienna) नगरको घेर लिया। युरोपके सौभाग्यसे आस्ट्रिया और पोलैंडने मिलकर किसी तरह तुर्कोंको हटाया और जब तृतीय विलियम इंगलैंडमें राजा हुआ तो अंग्रेज़ोंको भी लूईकी बाढ़ रोकनेकी फ़रसत

मिली। धीरे धीरे लूईको रोकनेका प्रयत्न होने लगा। युरोपके राजाओंने गुट्ट की ओर अन्ततः लूईका रुकना पड़ा और जब स्पेनके राजा चार्ल्स १७००में मरे तो स्पेनमें इस बातका झगड़ा उठा कि राजा कौन हो। लूईने अपने पोते फ़िलिपको पूर्व सन्धियोंके विरुद्ध राजा कर दिया और इतनेपर भी सन्तुष्ट न होकर और भी कई अत्याचार किये। इसपर प्रायः सब युरोप एक हो गया और लूईसे सात बरसतक स्पेनके राज्याधिकारपर युद्ध होता रहा। अन्तको १७१३-१४में सन्धि हो गयी और १७१५में चौदहवां लूई ७२ बरस राज करके मर गया।

सन्धिसे लाभ

इस सन्धिसे ब्रिटेनको मिनोरका और जिब्राल्टर मिला, कनाडामें अधिकार हुआ, दक्षिण अमेरिकामें वाणिज्यकी स्वतंत्रता मिली निदान ग्रेट-ब्रिटेन एक वर्द्धमान औपनिवेशिक और सामुद्रिक शक्ति बन गया। आस्ट्रियाने बेल्जियम पाया जिसपर अठारहवीं सदीतक उसका अधिकार हो गया जिसे उसने १८५९तक अपने हाथमें रक्खा। स्वयं स्पेनके हाथसे जो इटली और बेल्जियम निकल गया वह भी उसके लिए अच्छा ही हुआ क्योंकि उसमें उसका बहुत व्यय होता था और उसकी अपनी ही व्यवस्थामें यह देश बाधक होते थे। इससे अठारहवीं सदीभर औपनिवेशिक नीतिमें वह सफलतापूर्वक ब्रिटेनका मुकाबला करता रहा।

१७१५–१७४०

१७१५-४०तक कोई बड़े महत्वकी घटना नहीं हुई। किन्तु अठारहवीं सदीमें धीरे धीरे रूस और प्रशाने अपना प्रभाव इतना बढ़ाया कि बड़ी जातियोंमें इनकी भी गिनती होने लगी। इस सदीमें बलसाम्यकी कल्पना ऐसी कुछ उलटी हो गयी कि प्रशाने बलपूर्वक आस्ट्रियासे शैलेशिया ले लिया और पोलैंड भी आस्ट्रिया रूस और प्रशामें बँट गया, परन्तु किसी और शासकने इसे अनुचित न समझा। जिसकी लाठी उसकी भैंसवाली राजनीति फिर प्रचलित सी हो गयी। साथ ही शक्तियोंने समान उद्देश्योंपर गुट बना लीं। यहांतक कि ब्रिटिश औपनिवेशिक बल रोकनेको सदाके वैरी स्पेन और फ्रांस परस्पर मिल गये। राजाओंने अनियंत्रित शासन किया।

नया युग

१७४०से युरोपमें नया राजनीतिक युग प्रारम्भ हुआ। जर्म्मनी-के साम्राज्यके लिए आस्ट्रिया और प्रशामें परस्पर झगड़ा उठा। भारतवर्ष कनाडा और अमेरिकाके द्वीपोंमें प्रभुत्वके लिए फ्रांस और ब्रिटेनमें भी नये सिरसे चली। यह दूसरा सप्तवर्षीययुद्ध "आस्ट्रिया राज्योत्तराधिकारके" नामसे हुआ। १७४८में जो सन्धि हुई उसपर युरोपके सब शासकोंके हस्ताक्षर हुए। इस सन्धिसे फ्रांस और ब्रिटेनने भारतवर्ष, युरोप और अमेरिकामें परस्पर जो कुछ ले लिये थे लौटा दिये। इन्हें तो सन्तोष हुआ किन्तु औरोंको इस सन्धिसे दुःख ही हुआ। आस्ट्रियाको शैलेशियाके निकल जानेपर सन्तुष्ट रहना पड़ा और पारमा और पयसेंज़ा डानफ़िलिपको दे देना पड़ा। स्पेनको जिब्राल्टरसे सदैवके लिए हाथ धोना पड़ा।

सप्तवर्षीय युद्ध
१७५६–१७६३

१७५६में दूसरा सप्तवर्षीय युद्ध चला। इस साल जब ब्रिटेनने प्रशासे मैत्री की तो उसके उत्तरमें फ्रांसने अपने पुराने वैरी आस्ट्रियासे मैत्री कर ली। रूस और आस्ट्रिया पहलेसे मित्र थे। अब रूसने प्रशा-राजपर एक बहुत बड़ी सेना लेकर चढ़ाई की, परन्तु राजा फ्रेडरिकको पराजित न कर सका, क्योंकि उसको उधर अंग्रेज़ोंकी कुमक पहुँची थी और इधर फ्रांस बलहीन था और रूस अपने आन्तरिक झगड़ोंसे दुर्बल हो रहा था। अन्तमें जब १७६३की सन्धि हुई तो फ्रेंचसे अंग्रेज़ोंको कनाडा एकदम मिल गया, और भी बहुतेरे फ्रेंच प्रदेश मिले और प्रशाकी शक्ति आस्ट्रियाके बराबर मानी गयी। १७६१से ब्रिटेनका साम्राज्य जगद्व्यापी हो गया। इस सन्धिके बाद ही फ्रांसने स्पेनसे तीसरी बार गुप्त मैत्री कर ली और दोनों इस अवसरकी ताकमें रहे कि ब्रिटेनसे कब बदला लें। इधर ब्रिटेन अपना घर सँभालने लग गया। अवसर पाकर १७७२में रूस प्रशा और आस्ट्रियाने पोलैंडको आपसमें बांट लिया। उधर इंगलैंडमें जब अमेरिकाके उपनिवेशोंपर टैक्स लगाये जाने लगे तो अमेरिकावालोंने इसका प्रतीकार किया। इंगलैंडकी ज़बरदस्तीपर वहांके तेरह प्रदेश जार्ज वाशिंगटनके नेतृत्वमें मातृ-भूमिसे लड़ गये। इस युद्धमें मौका पाकर फ्रांसने अमेरिकनोंकी सहायता की। १७७६में अमेरिकाने अपनी स्वाधीनताकी घोषणा की और आठ वर्षके युद्धमें अन्तको १७८३में ब्रिटेनने उसकी स्वतंत्रता स्वीकार

की। इस बीचमें रूसको युरोपमें अपनी धाक बैठानेका अच्छा अवसर हाथ लगा। १७८०–८४ तकमें उसने क्रीमियाको हड़प लिया और आस्ट्रियाको साथ ले तुर्कोंको दमन करनेमें लग गया। फ्रांसने हालैंडमें, डेनमार्कने स्वीडनमें पैर फैलाना चाहा। परन्तु इनके हौसले यों पस्त हो गये कि इंगलैंडके मन्त्री पिट्टने प्रशा और हालैंडसे "त्रिविध-मैत्री" स्थापन की और शान्तिपूर्वक इन लोगोंको रोक दिया। १७९२तक रूम, रूस और आस्ट्रियामें भी सुलह हो गयी।

फ्रांसकी राज्य-क्रान्ति (१७८९)

इधर १७८९में फ्रांसमें राज्यक्रान्ति प्रारंभ हुई। अमेरिकाकी सहायतामें फ्रांसका दिवाला निकल गया था और सोलहवें लूईको लाचार हो प्रजाकी सभा बुलानी पड़ी। उधर हालैंडमें भी द्वितीय जोज़फ़के सुधारोंके विरुद्ध विप्लव हो रहा था। पोलैंडमें भी राज्यस्थापनार्थ विप्लवकी तय्यारियां हो रही थीं। फ्रांसकी समस्त प्रजा उच्छृंखल हो गयी। लूईने सभा तोड़ दी परन्तु प्रजा उससे इतनी रुष्ट हो गयी थी कि उसे बन्दी कर लिया और जनवरी सन् १७९२में उसपर मुक़द्दमा क़ायम हुआ। विचारकोंने दोषी ठहराया और उनकी आज्ञासे उसका सिर काट लिया गया। अब फ्रांसमें पंचायती राज्य प्रारंभ हुआ। इस समय सारी फ्रेंच प्रजा दृढ़ देशानुरागसे उत्तेजित हो रही थी। दृढ़ निश्चय और हार्दिक बल फ्रेंच जातिमें उबला पड़ता था। उसने एप्रिलसे युरोपके समस्त राज्योंसे युद्ध ठान दिया। आस्ट्रियासे श्रीगणेश किया और ब्रिटेनसे उसकी इतिश्री हुई। युरोपके अन्य राज्य उसके विरुद्ध मिलजुलकर तो लड़े परन्तु उनमें एकता नहीं थी, पोलैंडविभागके झगड़ोंमें भी उलझे थे। १७९५में उनका मेल टूट गया और फ्रांससे सुलह करनी पड़ी। इटलीमें नेपोलियनके असाधारण विजयोंसे त्रस्त हो सारडिनिया और आस्ट्रियाको भी सुलह करनी पड़ी। अकेला ब्रिटेन फ्रांसके विरुद्ध डटा रहा। १७९९में फिर ब्रिटेन रूस और आस्ट्रियाकी त्रिगुट हुई, पर ये फिर फ्रांससे हारते ही गये। १७९९में नेपोलियन फ्रांसका राष्ट्रपति हो गया। इसने फ्रांसाधीन जर्म्मनीमें ऐसा विप्लव उत्पन्न किया कि १८०६में प्राचीन "पवित्र-रोमन-साम्राज्यका" अन्त हो गया। युरोपमें बड़ा भारी परिवर्त्तन हो गया पर अभी मध्य युरोपमें ठीक ठीक जातीयताका प्रचार नहीं

हुआ था। १८०७में टिलसिटकी जो सन्धि हुई उससे रूसको लेकर प्रायः समस्त युरोप फ्रांसके अधिगत हो गया। यहांतक कि १८१०में नेपोलियनने, जो अब फ्रेंच सम्राट था, आस्ट्रियाकी राजकुमारीसे विवाह किया और चाहा कि युरोपके इस महान साम्राज्यकी राजधानी पैरिस हो और रोम इसका दूसरा नगर रहे और मेरे वंशज इसके उत्तराधिकारी हों। उसने हालैंड, नेपल्स और विष्टफालियाका राज्य अपने तीनों भाइयोंको दे रक्खा था। १८१०के बाद उसके बुरे दिन आये और युरोपके प्रत्येक देशमें जातीय जागृति हो जानेसे अब वह हारने लगा। १८१३में लैपसिग-की लड़ाईमें बेतरह हारा जिससे उसका गौरव एकदम नष्ट हो गया। अन्तको बेल्जियममें वाटरलूकी लड़ाईमें अंग्रेज़ोंसे हार गया और बन्दी करके सेंट-हेलेना टापूमें भेज दिया गया और वहीं १८२१में मर गया।

वीनाकी अन्तर-राष्ट्रीय पंचायत (१८१५)

लैपसिगकी लड़ाईमें फ्रांसके हारते ही युरोपकी सभी बड़ी शक्तियोंने मिलकर १८१४में पंचायत करके फ्रांसकी उचित सीमा नियत कर दी थी और बलसाम्यको फिर स्थापित किया था तथा फ्रांसकी गद्दीपर फिरसे पुराने राजवंशको बैठालनेका निश्चय कर लिया था। जर्म्मनीमें जो छोटे छोटे अनेक राज्य थे उसमें बवेरिया, सक्सनी, वीरतमवर्ग और हनोवर [जिसके वंशज इंगलैंडके राज-कुलवाले थे और हैं] इस पंचायतसे स्वतंत्र राज्य हुए और आस्ट्रियाके स्थानमें प्रशा अब उनका रक्षक हुआ। पोलैंडके चार भाग हुए। एक एक भाग आस्ट्रिया, प्रशा और रूसने लिये और चतुर्थ लघु भागका प्रजातंत्र बना जो पीछे जातीय असंतोषका कारण हुआ। फ़िनलैंड रूसने ले लिया। स्कन्दनवीयोंका राज्य इन विभागोंसे बिलकुल अलग सा हो गया। सारडिनिया द्वीपका राज्य युरोपके पीडमंट और सवायतक निश्चित हुआ और इटलीमें आस्ट्रियाका महत्त्व बना रहा। आधी सदीतक वीना-कांग्रेसके फ़ैसले माने गये। किन्तु नेपोलियनसे भयभीत होकर, भीरुता और कूटनीतिक चालोंसे जो निबटारा हुआ उसका एकदम यथेष्ट मान्य और उचित होना कैसे संभव था। इस निबटारेके पीछे आधी सदीतक युरोपका अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास इसी प्रयत्नको प्रकट करता है।

वीनाकी पंचायतके बाद लयबाक और विरोना आदिमें भी पंचायतें हुईं और राजदूतोंने मिलजुलकर बल-साम्य और राष्ट्रीय भावको दृढ़ कर दिया। वीना आदिके पंचोंकी कल्पनामें "राष्ट्र" और "जाति" एक ही बात थी और जो जातीय सीमा थी वही राष्ट्रीय सीमा हुई और इन निश्चित सीमाओंकी रक्षा पंचोंने अपना अपना कर्त्तव्य समझा। इस जातीयताके भावने कुछ और झगड़े उठाये वीनाके पंचोंके मनमें जिनकी कल्पना भी नहीं थी।

यूनान बेल्जियम और मिस्रकी स्वतंत्रता १८२१-१८३२

यूनानी लोग जो तुर्कोंके अधीन थे १८२१से १८३२तक अपनी स्वतंत्रताके लिए लड़े। यद्यपि १८३२में लंडनमें संधि हो जानेसे यूनानका एक छोटा सा स्वतंत्र राज्य बन गया किन्तु इसका फल बड़े महत्त्वका हुआ। पंचोंने जो यह तय किया था कि युरोपकी जैसी अवस्था है वैसी ही रहे वह प्रतिज्ञा टूट गयी और उसके तोड़नेमें रूस, ब्रिटेन और फ्रांस जैसी महाशक्तियों-ने सहायता दी। यूनानियोंसे सहानुभूतिके वहाने युरोपके उदार-मतवादी और भी परिवर्त्तनोंके इच्छुक थे। शान्तिस्थापनसे शिल्प-कलामें, वाणिज्य व्यापारमें, परस्पर व्यवहारमें बड़ी उन्नति हुई और देशोंकी सम्पत्तिमें बड़ी वृद्धि हुई। मध्यकोटिके प्रजावर्ग धनसम्पन्न हो गये। उनका प्रभाव, उनकी प्रतिष्ठा, उनका अधि-कार बढ़ गया। १८३०में बेल्जियन लड़कर (हालैंड) डचसे अलग हो गये और बेल्जियमका स्वतंत्र राज्य स्थापित हुआ। उसी साल फ्रांसने उत्तर अफ्रिकाका अल्जिर्ज़ प्रान्त मुसलमानोंसे छीन लिया और अफ्रिकामें फ्रेंच साम्राज्यकी नींव डाली। १८३२में ब्रिटेनमें प्रजाकी मध्यम श्रेणीको राजनीतिक अधिकार मिले। १८३१से १८४१तकमें पश्चिमके ब्रिटेन और फ्रांसके वैध राज्योंसे और पूर्वके रूस प्रशा और आस्ट्रियाके अनियंत्रित राज्योंसे विरोध रहा और मिस्रका मुहम्मद अली पाशा रूमसे बिगड़ गया था। मुहम्मद अली पाशाका झगड़ा सुलतान रूमने यों निबटाया कि उसे कुछ अधिकार दे दिये और उसे और उसके वंशजोंको मिस्रका राज्य मिल गया। इसके पहले १८३०में रूसके ज़ारको एक संधिसे रूमपर बड़ा अधिकार हो गया था किन्तु मिस्रके सिर उठानेपर

जब रूस सहायता न कर सका तो वह बात जाती रही। सन १८३३-में फ्रांस आस्ट्रिया और रूसने मिलकर यह निश्चय किया कि रूमका राज्य ज्योंका त्यों रहने दिया जाय और बर्लिनमें गुप्त रीतिसे यह निश्चय हुआ कि यदि कोई मित्र राजा अपने देशीय विषयमें किसी गुटवाले राज्यकी सहायता चाहे, तो अन्य कोई राज्य उसमें हस्तक्षेप न करे। अन्तको मिस्रवाले मामलेकी पंचायतमें ब्रिटेन, आस्ट्रिया, प्रशा और रूस एक हो गये और फ्रांसको उसमें शामिल नहीं किया। इससे जो कुछ वैमनस्य फ्रांस और ब्रिटेनमें हुआ वह कुछ तो मिस्रके झगड़ोंके तय होने पर, और कुछ उस समय जब पोलैंडके क्राकोवाले प्रजातंत्रको रूस प्रशा और आस्ट्रियाने तोड़ना चाहा था, फ्रांस और ब्रिटेनके साथ ही आपत्ति लानेपर और अन्तको दोनों राज्योंके शासकोंके सम्मिलनसे मिट गया।

फ्रांसमें फिर राज्यक्रांति १८४८

फ्रेंचराज लूई फ़िलिपने अपने वंशको स्पेनका राज्य देनेके लिए वहांकी युवती रानीके सन्तानवती होनेके पहले ही राजकुलमें अपनी नादान राजकुमारी लूईसाको ब्याहनेके लिए बहुत ज़ोर दिया। इस बदनीयतीसे केवल अंग्रेज़ और स्पेनी ही नहीं वरन् उसकी ही प्रजा उससे ऐसी रुष्ट हो गयी कि १८४८में फ्रांसमें राज्यक्रान्ति हुई और उस राजवंशके शासनकी इतिश्री हो गयी।

उदारमत और व्यापक राज्यक्रान्ति १८४८–१८५२

इस राज्यक्रान्तिके पूर्व ही युरोपभरमें उदारमतवादका प्रभाव इतना बढ़ चुका था कि अयलैंडसे रूससीमातक १८४८में राज्यक्रान्तिकी हवा बह रही थी। स्वित्सरलैंडमें उदारमतवादकी जीत हो चुकी थी। नेपल्स, पलरमो, पीडमंटमें वैध राज्य स्थापित हो गये थे। यह राज्यक्रान्तियां राजनीतिक ही नहीं थीं। इनमें जातीयता एवं सामाजिक प्रश्नोंकी उलझन भी थी। फ़्रांसमें समष्टि-वादियों और व्यक्ति-राज्यवादियोंका झगड़ा हो रहा था। इंगलैंडमें भी थोड़ी बहुत ऐसी ही दशा थी। परन्तु जर्म्मनी आस्ट्रिया और इटलीमें वैध और जातीय दलोंके झगड़े थे जिनमें अन्तको जातीय दलोंकी ही प्रधानता रही। वीनाकांग्रेसके सभापति

मेटरनिकने जो युरोपकी स्थितिको स्थायी करनेका प्रयत्न किया था उसके विरुद्ध अब अनेक जर्म्मन और आस्ट्रियन जातियां हो गयीं। १८४८में मेटरनिक-निर्धारित फ़ैसला रद्दी कर दिया गया और मेटरनिक अधिकारच्युत हो गया। हंगरी, बोहीमिया, प्रशा और मीलनमें राज्यक्रान्ति हो गयी। इटलीकी स्वतंत्रताके लिए सारडिनियाराज, पोप आदि सब मिलकर आस्ट्रियासे लड़ गये और उसे स्वतंत्र कर दिया। प्रशाराजने भी इसी तरह समस्त जर्म्मनीको एक करके रहे सहे भागको आस्ट्रियासे अलग कर लेना चाहा किन्तु उसके प्रयत्न निष्फल हुए।

फ्रेंच सम्राट
तृतीय नेपोलियन
१८५२–१८७०

इस राज्यक्रान्तिकी गड़बड़में रूसराजको छोड़ किसीका ध्यान इस बातपर न गया कि फ्रांसमें फिर नेपोलियनके वंशजके हाथमें राज्याधिकार आया। तृतीय नेपोलियनके नामसे पहले १८५७में वह राष्ट्रपति हुआ, फिर १८५२में उसे फ्रेंचोंने सम्राट कर दिया। उसके विचार भी अपने पूर्वज नेपोलियन बोनापार्टीके ही आदर्शपर थे। रूसराजने पहले चाहा कि इसमें विघ्न डालें किन्तु और राज्योंके अस्वीकार करनेपर चुप रहना पड़ा। तब भी यह किसीसे छिपा नहीं था कि नेपोलियन सम्पूर्ण फ्रेंचराष्ट्रका प्रतिनिधि है और १८१५वाली वीनाकी पंचायत उसके विरुद्ध थी एवं फ्रांसका राज्य इसी पंचायतसे अपनी प्राकृतिक सीमाओंतक भी न रहने पाया था। अतः नेपोलियन उस फ़ैसलेपर सन्तुष्ट बैठा नहीं रह सकता। नेपोलियनने आदिमें अपनेको शान्ति-भक्त ही प्रसिद्ध किया और फ्रेंच पादरियोंका प्रेमपात्र बननेके लिए उसने इटलीके उदारमतवादियोंके विरुद्ध पोपके मतका पोषण किया। यह वह काल था जब युरोपमें रेलोंका जाल सा बिछना प्रारम्भ हो गया था, तार-समाचार आने जाने लगे थे, डाकका उत्तम प्रबन्ध होने लगा था। तरह तरहकी कलें बन रही थीं, देश और कालकी दूरी घटती जा रही थी और युरोप एकता-सूत्रमें नित्य घनिष्ट रीतिसे बँधता जाता था। वैज्ञानिकोंने उन्नीसवीं सदीमें जो संसारकी सभ्यताकी कायापलट करनी प्रारम्भ की उसका फल आधी ही सदीमें यह देखनेमें आया कि अन्तर्राष्ट्रीय मेल और सहकारिता संभव समझी जाने लगी। यहांतक कि १८५१में लंडनमें स्वर्गीया महारानी विक्टोरियाके पति

राजा अल्बर्टने एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी खोली, जिसमें संसारके सब देशोंने इतिहासमें पहले पहल सहकारिता की थी। इस घटना-से ऐसा समझा गया कि अब शान्ति चिरस्थायी हो गयी, किन्तु इतनी बड़ी आशा दुराशामात्र थी। इसको आगेकी घटनाओंने स्पष्ट कर दिया।

क्रीमियाका युद्ध १८५२–१८५६

पूर्वमें कथलिक और ग्रीकचर्चके पादरियोंमें फ़िलिस्तीन देशके धर्म्ममन्दिरोंपर आधिपत्य करनेके विषयमें झगड़ा उठा। यह देश रूमके अधिकारमें था और रूमपर रूसका दबाव था। इधर कथलिक सम्प्रदायके नायक रोमके पोपका सहायक फ्रेंचसम्राट रूसराजसे जलता था। इसने चाहा कि रूमपर पहलेकी नाईं फिर फ्रांसका दबाव पड़ जाय। इस तरह रूस और फ्रांसमें मुठभेड़की ठहरी। इंगलैंडको यह डर बना ही था कि रूसका यदि रूमपर अधिकार बना रहा तो भूमध्य-सागरमें अवश्य ही उसका अधिकार हो जायगा और भारतवर्षपर भी उस दशामें रूसका आक्रमण संभव है इसलिए इंगलैंडने भी फ्रांसकी सहायता की। इस तरह १८५२से १८५६तक क्रीमियाका प्रसिद्ध युद्ध हुआ जिसमें रूसराजको फ्रांस, इंगलैंड और रूमकी सम्मिलित शक्तियोंसे लड़ना पड़ा। अन्तको पैरिसमें जो पंचायती सन्धि हुई उसमें तीनों राष्ट्रोंने इस आशापर कि रूम अपनेको सँभाल लेगा उसे स्वतंत्र कर दिया और शक्तियोंमें उसकी भी गिनती की; रूमका आधिपत्य ईसाई धर्म्मस्थानोंपर ज्योंका त्यों रक्खा गया; दानवी नदी और काले समुद्रमें सब जातियोंको वाणि-ज्यका अधिकार हो गया; रूसकी शक्ति संकुचित हो गयी और कई महत्त्वके अन्तर्राष्ट्रीय नियम निश्चित हुए जिससे भावी संघर्षमें कमी आ जाय।

नेपोलियनकी महत्व-वृद्धि

इस युद्धके अन्तमें नेपोलियनका महत्व बढ़ गया था। रूस हार ही गया था, आस्ट्रियाकी साख बिगड़ गयी थी, प्रशा अभी नीचा देख चुका था, ब्रिटेन भारतवर्षके सन् १८५७वाले सैनिकोंके युद्धमें व्यस्त था। अतः नेपोलियन अब युरोपमें सबसे अधिक प्रभावशाली मनुष्य हो गया और उसे अपने आदर्शानुसार आचरण करनेका अवसर मिला। सारडिनियाने इस युद्धमें सहायता करके पैरिसकी पंचायतमें

आस्ट्रियाकी शिकायत करनेका अच्छा अवसर पाया था। इटली-वाले भी पुरानी सन्धियोंको तुड़वाना चाहते थे। सो, १८५९में फ्रांस और इटलीकी मैत्री हुई। इटली और आस्ट्रियामें युद्ध हुआ। प्रसिद्ध देशभक्त गरिबाल्डीके अमानुषिक पराक्रमसे लाचार होकर आस्ट्रियाको लंबर्डी छोड़ देना पड़ा और इटालियन राज्यकी नीवँ पड़ी। इटलीमें इस एकराज्य स्थापनके पुरस्कारमें फ्रेंचराजको नीस और सवाय प्रदेश मिल गये जिनसे फ्रेंच सीमा अल्पाचलकी प्राकृतिक सीमासे मिल गयी। अब रीने नदीकी सीमा बाकी रही। इधर जर्म्मन राज्योंमें परस्पर मनमुटाव हो रहा था जिससे फ्रेंच-राजको अवसर था। प्रशाके सिंहासनपर जब प्रथम विलियम बैठा (१८६१) उसके दूसरे ही साल फ्रांससे उसने व्यापारिक मैत्री की जिससे सोलफ़रैन प्रदेशसे आस्ट्रियाका सम्बन्ध टूट गया। उसने इटलीके स्वतंत्र राज्यको भी मान लिया और प्रशाकी परराष्ट्रीय कूटनीतिको आस्ट्रियाके प्रसिद्ध विरोधी राजा विस्मार्कके हाथमें सौंपकर आस्ट्रियासे बदला लेनेकी ठानी।

बलप्रयोग। वीनाका फ़ैसला रद्दी हुआ। पोलैंड और श्लेस्विग-होल्स्टैन।

१८६३में पोलैंड़में झगड़े उठे। फ्रेंच लोकमतके अनुसार नेपोलियनने पोलोंका पक्ष समर्थन करना चाहा और आस्ट्रिया और ब्रिटेनने झगडा चुकाना चाहा किन्तु रूसने अस्वीकार कर दिया और तीनों शक्तियाँ अवाक् रह गयीं। पोलोंको दबानेमें प्रशाने रूसकी सहायता की सो प्रशाकी धाक जम गयी तथा वीनाका पंचायती फ़ैसला अन्ततः रद्दी हो गया। इस घटनासे यह भी निश्चय हो गया कि प्रशा जब जर्म्मनीको एक करना चाहेगा, रूस तनिक भी हस्तक्षेप न करेगा। इसी साल जब डेनमार्कमें नये राजा हुए प्रशाने डेनमार्कको परास्त करके जर्म्मनीमें श्लेस्विग-होल्स्टैनके राज्यको भी मिला लिया। इस विषयमें भी फ्रेंचराज और ब्रिटेनने जर्म्मनोंको व्यर्थकी धमकियां देकर रुष्ट किया परन्तु कोई बलप्रयोग न किया। ब्रिटेनको यह डर था कि इन दोनों प्रदेशोंको लेकर जर्म्मनी उत्तरसमुद्रमें अधिकार बढ़ा लेगा, किन्तु अधिकार बढ़ा लेनेपर भी ब्रिटेन कुछ न कर सका। १८६६में इसी सम्बन्धमें आस्ट्रिया और प्रशामें युद्ध हो गया जिसमें आस्ट्रियाराज हार गया, और प्रशाका प्रभाव जर्म्मनीभरमें असपत्न हो गया और प्रशाधीश उत्तर-जर्म्मन-राज्योंके संघके नायक हुए।

बिस्मार्क और नेपोलियन १८६१–६

नेपोलियनने देखा कि अवसर निकल गया। बलप्रयोगसे रीने इसपारके प्रदेश न मिलगे। अतः उसने प्रशासे यह प्रस्ताव किया कि दक्षिणी जर्म्मन राज्योंको जो फ्रांसकी ओर रीनेपार हैं कुछ रुपये लेकर फ्रांसमें मिला लेने दे। इसपर बिस्मार्कने उन राज्योंको सन्धिद्वारा ऐसा मिलाया कि यदि फ्रांस चढ़ आवे तो सबकी संयुक्त सेना प्रशाराजके नेतृत्वमें युद्ध करे। इसपर फ्रेंच-राजने चाहा कि कमसे कम जर्म्मन-संघसे अलग लक्षमवर्ग ही मिल जाय, किन्तु १८६७में लंडनकी पंचायतसे लक्षमवर्ग स्वतंत्र एवं उदासीन राज्य मान लिया गया, नेपोलियनके प्रयत्नोंकी पोल बिस्मार्कने समाचारपत्रोंमें खोल दी। उसी समयके लगभग जब स्पेनमें एक जर्म्मन राजवंशीय छत्राधिकारी हुआ तो फ्रेंचराजको और भी लज्जित होना पड़ा।

फ्रांस-जर्म्मन युद्ध। पैरिसका पतन। १८७०–७१ जर्म्मनीमें एकता।

इस समय बिस्मार्कका प्रताप युरोपमें व्याप रहा था। उसने यह निश्चय कर रक्खा था कि जभी अवसर मिले तभी फ्रांसको ऐसा धक्का दूं कि चूर्ण हो जाय, युरोपमें ढूँढ़े उसका पता भी न मिलें, नक़शेसे नाम मिट जाय। इधर फ्रांसका लोकमत युद्धपक्षमें ऐसा प्रबल हो रहा था कि प्रशासे पराजित होना अवश्यम्भावी जानकर भी नेपोलियनको राज्यच्युत किये जानेके भयसे युद्धघोषणा करनी पड़ी। प्रशाका शत्रु आस्ट्रिया कुमक पहुँचानेको था पर विजयिनी जर्म्मनसेनाका सामना करनेका साहस न हुआ। १८७१का यह फ्रांस-जर्म्मन युद्ध बड़ा विकट हुआ। सेडानके गढ़-युद्धमें नव्वे हज़ार सैनिकोंके साथ साथ नेपोलियन भी बन्दी हो गया। पैरिस भी घेर लिया गया। पैरिसमें इसी समय प्रजातंत्रकी घोषणा हो गयी थी किन्तु फ्रेंच अब अशक्य थे। तब भी पांच महीनेके लगभग घिरे रहनेपर लाचार हो आत्मसमर्पण करना पड़ा। उसी समय प्रशाराज विलियम जर्म्मन सम्राट बनाये गये। १८७१की मईमें फ्रंकफ़र्टमें यों सन्धि हुई कि फ्रांस अलसास-लोरेन जर्म्मनीको दे दे, तथा नकद तीन अरब रुपये क्षतिपूरण तीन सालके भीतर दे दे और जबतक न दे सके तबतक जर्म्मन-सेनासे घिरा रहे और उसका खरच चलावे।

बिस्मार्कने इन शर्तोंको अकरणीय समझा था किन्तु उसके विस्मयका ठिकाना न रहा जब फ्रांसने अवधिके भीतर ही सारी रकम बेबाक कर दी। जो कुछ हो, इस युद्धका परिणामरूप एक बलिष्ट जर्म्मन साम्राज्य बन गया जिसकी वर्द्धमान शक्ति अबतक पड़ोसी राज्योंके भयका कारण है। इसके सिवाय

इटलीका स्वतंत्र राज्य। अन्य बड़े परिवर्त्तन १८६७–७०

१८६६के युद्धसे इस युद्धतक युरोपमें कई और महत्वके परिवर्त्तन हो गये। १८६७में आस्ट्रिया-हूनगरी दोनों सम्मिलित हो गये और फ्रांसिस जोज़फ़ ही हूनगरीके भी राजा हुए जो आस्ट्रियाके सम्राट थे और अबतक (१९१३) हैं। १८७०में विकृर इमानुएलने समस्त संयुक्त इटलीकी राजधानी रोमको बनाया और पोपके हाथमें अब केवल अ-लौकिक अधिकार रह गये। इसी समय जर्म्मनी-रूसमें परस्पर सलाह हो जानेपर, रूसने बिस्मार्ककी जिसकी लाठी उसकी भैंसवाली अथवा,

"राखै सोइ जेहितें बनै, जेहि बल होइ सो लेइ"

इस नीतिका अनुसरण करके काले समुद्रपर फिर असपत्न अधिकार कर लिया। इसपर ब्रिटेनको आपत्ति हुई किन्तु बिस्मार्ककी रायसे १८७१में लंडनमें जो सभा हुई उसमें यह निश्चय करना पड़ा कि यदि सन्धि करनेवालोंमें कोई प्रतिज्ञासे मुक्त होना चाहे तो और हस्ताक्षर करनेवालोंकी रायसे ही हो सकेगा। इस तरह इस लाचारीमें भी सन्धिका सिद्धान्त टूटते टूटते बचा। पर वस्तुतः उस समय तो बिस्मार्ककी कूटनीति बाज़ी ले ही गयी।

अब जर्म्मनीको यह चिन्ता हुई कि उसकी धाक जो अब समस्त युरोपमें जम गयी थी बनी रहे और कोई स्पर्द्धी न खड़ा हो। रूसकी मैत्रीका भरोसा था क्योंकि फ्रेंचयुद्धमें रूसने न स्वयं छेड़छाड़ की और न इटली और अस्ट्रियाको हस्तक्षेप करने दिया जिसके लिए कैसर विलियमने कृतज्ञता प्रकाश की थी। उससे यह डर नहीं था कि जर्म्मन साम्राज्यके ही अभ्युदयमें बाधक होगा, एवं यह दृढ़ आशा थी कि उभय राज्योंकी मैत्री चिरस्थायी होगी।

इटलीकी डावांडोल परराष्ट्रनीति।

इटली-जर्म्मनी-आष्ट्रियाकी त्रिगुट १८८२।

जबसे इटलीका स्वतंत्र राज्य स्थापित हुआ उसने पर-राष्ट्रनीति कुछ भी स्थिर नहीं की थी। फ्रांससे स्पष्टतः मैत्री होनी चाहिए थी किन्तु केवल नीस और सवाय पानेसे और १८७०-७१के संकटमें इटलीसे साहाय्य न मिलनेसे फ्रांस असन्तुष्ट था। उधर इटलीकी समझमें फ्रांसने अल्पाचलसे अड्रियटिक समुद्रतक उसका राज्य करा देनेकी प्रतिज्ञा पूरी नहीं की तथा नीस और सवाय भी इटलीके विरोध न करनेके लिए ही घूसमें लिया, एवं इटलीकी संकटमें कोई सहायता नहीं की। इसके सिवाय फ्रेंचराज इटलीके विरुद्ध पोपकी पीठ ठोंकता था और पहले भी युद्धमें इटलीको आस्ट्रियासे सन्धि कर-लेनेको बाध्य किया था। फ्रांसका अधिकांश प्रजावर्ग इटलीके स्वतंत्र राज्यस्थापनसे असंतुष्ट था और बड़े बड़े राजपुरुषोंने इस विषयमें अपना पछतावा खुली सभामें प्रकट किया जिससे इटली-राज्य अनभिज्ञ नहीं था। अतः इटली और फ्रांससे मित्र-सम्बन्ध असंभव था। आस्ट्रियासे जब विरोध हुआ तो उसके मित्र रूस और जर्म्मनीसे मैत्री सहज नहीं थी। इटलीकी सरकार अपनी परराष्ट्रनीति स्थिर करनेको उत्सुक भी नहीं थी क्योंकि बालकनमें झगड़ा उठनेसे बड़े बड़े युरोपीय राष्ट्रोंमें युद्ध होना संभाव्य था और उस समय इटलीराज्य बल-साम्यद्वारा निर्णायककी स्थितिमें हो सकता था। परन्तु यह उसकी आशा ही आशा ठहरी और बर्लिनकी पंचायतमें जब और सब राज्योंको कुछ न कुछ देश मिले, इटलीके न शरीक होनेसे उसे कुछ न मिला। इससे उसकी उदासीनतासे लोकमत असंतुष्ट हो गया। संधिके विषयमें वहां दो पक्ष हुए। एक तो आस्ट्रियाके मिलाने और दूसरा उससे अलग रहने और फ्रांससे मिलनेके पक्षमें था। इतनेमें फ्रांसको जब मालूम हुआ कि ब्रिटेनने सुल्तान-रूमसे सैप्रस-द्वीप लेनेकी गुप्तसंधि कर ली है तो उसे बड़ा क्षोभ हुआ। उसे संतुष्ट करनेको ब्रिटेनने ट्यूनिसमें फ्रांसके पूर्णाधिकारका वचन दिया। यद्यपि यह अत्यन्त गुप्त बात थी तथापि इटलीको इसका पता लग गया। इतिहास और भूगोलके सम्बन्धसे इटलीके लोकमतमें ट्यूनिस इटलीका था; फ्रांसका अधिकार होनेसे भूमध्यसागरमें इटलीके स्थानमें फ्रांसको प्रधानता होती थी। उस समय फ्रेंच कूटनीतिकोंने इटलीको यह

आश्वासन दिया कि रोमकी सम्मति बिना यह कार्य्य न होगा किन्तु थोड़े ही दिनों पीछे एक आक्रमणको दमन करनेके बहाने फ्रांस ट्यूनिसका रक्षक बन बैठा। इसपर इटलीके क्रोधकी सीमा न रही। किन्तु और कुछ न हो सकनेपर भावी रक्षाके विचारसे १८८२में आस्ट्रिया और जर्म्मनीसे इटलीकी मैत्री हो गयी। यह प्रसिद्ध त्रिगुट आजतक (१९१३) चली जा रही है।

इस त्रिगुटसे जर्म्मनीकी कूटनीतिक स्थिति बहुत दृढ़ हो गयी। पर अब भी बिस्मार्कके मनसे रूस-फ्रेंच-मैत्रीका डर नहीं गया। १८७९वाली आस्ट्रिया-जर्म्मनीकी संधि यद्यपि रूसविरुद्ध ही हुई थी और रूम-रूसकी लड़ाईमें ज़ारको बिस्मार्कसे धोखा हो चुका था, तब भी बिस्मार्कने धृष्टतापूर्वक फिर रूसको अपनी मायाजालमें फांसना चाहा। १८८३में रूस-राज-दूतसे सलाह हुई। उस समय अपने ही देशके अराजकोंसे भीत होकर और बालकन झगड़ोंमें आस्ट्रियाको न बढ़ने-देनेकी आशासे ज़ार तृतीय-सिकन्दर राज़ी हो गया। १८८४में यह संधि लिखी गयी और उसी साल तीनों सम्राटोंने मिलकर हस्ताक्षर कर दिये। इस दुगड्डी संधिसे जर्म्मनी और आस्ट्रियाकी स्थिति असाधारण रीतिसे सुरक्षित हो गयी। क्योंकि आक्रमण होनेपर कमसे कम रूस और इटलीकी छेड़छाड़का उन्हें डर नहीं रहा एवं उनका वैरी फ्रांस बिलकुल अकेला छूट गया। इसे बिस्मार्ककी प्रधान कूटनीतिक चाल समझनी चाहिए। उसने इस तरह रूस और फ्रांसको केवल बलहीन ही नहीं कर दिया बल्कि बालकन युद्धमें निर्णायककी पदवी जर्म्मनीके लिए दृढ़ कर दी। बिस्मार्क यह भी दृढ़ कर लेना चाहता था कि यदि दो मित्र राजा मिलकर किसी परराष्ट्रसे लड़ जायँ तो तीसरा मित्र न बोले, किन्तु रूसराज इस चालको ताड़ गये और साफ़ इनकार कर दिया कि यदि अकेले फ्रांसपर दो शक्तियां टूट पड़ें तो यह मुझसे कभी न देखा जायगा। इस संधिमें रूसने दो बातें जर्म्मनी और आस्ट्रियासे भी मनवायीं। एक यह कि रूमराजपर ऐसा दबाव रक्खें कि डारडनेल्ज़से अंग्रेज़ी बेड़ा काले समुद्रमें न जाने पावे और दूसरी बात यह कि यदि किसी आन्तरिक कारणसे बलगेरिया और पूर्व रूमेलिया मिलना चाहें तो उसमें बाधक न हों।

बिस्मार्ककी कूटनीति।
जर्म्मनी-आस्ट्रिया-रूसकी त्रिगुट

बलगेरियामें बलवा। १८८५

यह दुगड्डी गुट चलनेयोग्य नहीं थी क्योंकि रूस-आस्ट्रियाका सन्घर्ष अनिवार्य्य था और न्याय करनेमें बिस्मार्कका आस्ट्रियाकी ओर झुक जाना भी स्वाभाविक और निश्चय था। बलगेरियाराज रूसकी ज़बरदस्तीसे असन्तुष्ट था ही, सो सन् १८८५की राज्य-क्रान्तिमें शक्तियोंसे समर्थित तथा सुलतानद्वारा नियत शासकको बलवाइयोंने बन्दी करके देशबाहर कर दिया तथा बर्लिनकी पंचायतके विरुद्ध ही पूर्व रूमेलियाको बलगेरियाराजने मिला लिया। इस बातमें यद्यपि रूसराजके प्रतिनिधियोंका समर्थन था तथापि रूससरकारने नापसन्द किया और सुलतानने चाहा कि सेना भेजें किन्तु शक्तियोंके प्रतिनिधियोंके समझाने बुझानेपर रुक गये। परन्तु सर्वियावाले लड़ ही गये। इस युद्धमें बलगरोंकी जीत हुई और आस्ट्रियाने बीच बिचाव कर दिया। इसपर जो सन्धि हुई उसमें पूर्व-रूमेलियाका मिलाया जाना अस्वीकार किया गया किन्तु बलगरराज ही पांच वर्षके लिए उसके शासक बनाये गये जिसका अर्थ वस्तुतः मिलाना ही हुआ।

बलगर देशभक्त स्तम्भलाभ

इस सन्धिमें रूसकी सी न होनेसे रूसियोंको असन्तोष रहा। छः महीने भी नहीं हुए थे कि गुप्त अभिसन्धिवालोंने बलगरराज सिकन्दरको गुप्त रीतिसे बन्दी करके एक रूसी स्थानमें भेज दिया किन्तु रूसराजने इन्हें छोड़ दिया। बलगेरिया लौटनेपर यद्यपि अपना पक्ष प्रबल पाया तथापि उन्होंने राजत्याग ही अपने लिए उचित समझा। तद्परान्त बलगर जनसाधारणपर ज़ारने अपना प्रभाव डालनेको रूसी राजनीतिक कौलबर्सके देशभरमें व्याख्यान दिलवाये किन्तु देशभक्त (Stambolof) स्तम्भलाभका पक्ष ऐसा पुष्ट रहा कि रूसकी दाल न गली। स्तम्भलाभने कोबर्गके राजा-फ़र्डिनंडको आस्ट्रियासे बुलाकर राजा बनाया। रूसने दूसरा राजा नियुक्त करना चाहा था किन्तु उसके प्रयत्न निष्फल हुए। रूसने यद्यपि फर्डिनंडका राज पाना स्वीकार नहीं किया तथापि स्तम्भलाभके आदेशानुसार वह राज करता रहा।

निष्क्रिय रीतिसे यह सब तमाशे देखते रह जाना आस्ट्रियाके लिए कैसे संभव था? आस्ट्रियाराज्य इन सब मामलोंमें

बलगर देशभक्तोंकी पीठ ठोंकता जाता था। यद्यपि बिस्मार्क प्रकटमें उदासीन रहा तथापि रूसका सन्देह उसपर भी होना अत्यन्त अनुचित नहीं था। इसके सिवा रूसी पत्रोंने जर्म्मनोंके विरुद्ध रूसको उभारना प्रारम्भ किया और जर्म्मनीके वास्तविक लक्ष्यका उद्घाटन करके रूस और फ्रेंचकी मैत्रीपर ज़ोर देने लगे। ऐसी दशामें दुहरे त्रिगुटका चलना असंभव था। बिस्मार्कने भी जर्म्मन पत्रोंद्वारा इस सन्देहको मिटाने और मनोमालिन्यको धोनेका बहुतेरा प्रयत्न किया परन्तु उससे फिर ऐसी कारवाइयां हुईं जिनसे उलटा प्रभाव पड़ता गया। उसने पत्रोंद्वारा रूसियोंके लेनदेनकी साख पैरिसके बंक-बाज़ारमें इसलिए बिगड़वायी कि रूस और फ्रांसमें मनमुटाव हो जाय। किन्तु बर्लिनके बंकबाज़ार-में भी वैसा ही होना अनिवार्य्य था। यदि बर्लिनमें रूसी साख बनी रहती तो फ्रांसके निकट जर्म्मन पत्र झूठे ठरहते और उनके कहनेका प्रभाव न पड़ता। इस तरह बिस्मार्ककी चाल रूस समझ गया। किन्तु १८९०में जब यहां त्रिगुट टूटी, बिस्मार्क राजकार्य्यसे अलग हो गया था। १८९१से १८९९तकमें अत्यन्त धीरे धीरे फ्रांस और रूसमें मैत्री दृढ़ हुई। इसमें फ्रांस अत्यधिक उत्सुक था। इस मैत्रीकी शर्त्तें आजतक मालम नहीं हुईं किन्तु इसकी सरकारी घोषणा सन् १८९७में एक तरहसे उस समय हुई जब फ्रेंच राष्ट्रपति फ़ोर और ज़ार रूसी राजधानी सेंटपिटर्ज़बर्गमें मिले और अपनी वक्तृताओंमें परस्पर मित्रभावका निर्देश किया।

बिस्मार्क और ज़ारकी अनबन
रूस-फ्रेंच मैत्री
१८८७–१८९७

१९०४–५में रूस-जापानकी प्रसिद्ध लड़ाईमें रूसके बलका इतना ह्रास हुआ कि उसकी जमी हुई धाक उखड़ गयी। फ्रांसको जर्म्मन सम्राटका डर फिर ज्योंका त्यों हो गया। अब उसे यह चिन्ता हुई कि जर्म्मनीसे ही मैत्री करे वा ब्रिटेनसे। दोनोंकी मैत्रीमें कुछ न कुछ हानि ही थी। जर्म्मनी उसे अलसास-लोरेनसे बिलकुल बे-दावा कराना चाहता था। ब्रिटेन मिस्रमें अपना अधिक अधिकार चाहता था। फ्रांसने अन्तको ब्रिटेनसे ही मैत्री की। मिस्रमें अधिकारके बदले मराकोमें ब्रिटेनसे फ्रांसको विशेष अधिकार मिले। जर्म्मन सम्राटने इसमें

फ्रेंच-ब्रिटिश मैत्री
१९०५—

विघ्न डालनेकी नीयतसे मराकोके प्रश्नपर विचार करनेको शक्तियोंकी सभा की। किन्तु १६०६में अलजेसिरसमें जो सभा हुई उससे फ्रांस और ब्रिटेनमें दृढ़ मैत्री हो गयी।

दोनों त्रिगुटका बल-साम्य

इटलीके बहुधा फ्रांसकी ओर झुकने और आस्ट्रिया-हंगरीके अपने आन्तरिक झगड़ोंमें व्यस्त रहनेसे जर्म्मनी अकेला सा रह गया। किन्तु अब एक ओर जर्म्मनी, इटली और आस्ट्रिया और दूसरी ओर फ्रांस, ब्रिटेन और रूसकी त्रिगुट बन गयी, जो अबतक (१६१३) स्थिर है। त्रिगुटोंमें अब पहलेका सा वैरभाव नहीं है परन्तु मन्त्रियों और शासकोंकी कूटनीतिक चालें ज्यों की त्यों हैं।

आरमीनियामें अशान्ति

१८७७-७८वाली रूम-रूसकी लड़ाईमें यह तय हुआ था कि रूम अपने आरमीनियन प्रजाओंकी रक्षाके लिए सन्तोषदायक प्रबन्ध करे, किन्तु रूमने इस ओर ध्यान नहीं दिया। शक्तियोंके बीचमें पड़ जानेसे आरमीनियनोंके हौसले बढ़ गये थे और सुलतान इस बातको साम्राज्यके लिए हानिकारक समझता था। पन्द्रह बरसतक आरमीनियन इस आसरेमें रहे कि खीष्टीय शक्तियां रूमको दबावेंगी। जब देखा कि कोई प्रबन्ध नहीं हो रहा है तो उन्होंने बलवे शुरू किये। बलगेरियाकी नाईं उनका यह उद्देश्य था कि विद्रोह-दमनमें सुलतान जब निष्ठुरतासे काम लेगा तब शक्तियां अवश्य हस्तक्षेप करेंगी। जब रूमने बलवाइयोंका इस्तंबोलमें क़तलाम किया तो उनको यह आशा सफल हुई। इस कूटनीतिक मन्त्रणामें इंगलैंड अगुआ हुआ, इटलीने समर्थन किया, किन्तु जर्म्मनी आस्ट्रिया और फ्रांसने उपेक्षा की और रूसने तो रूमके ईसाइयोंकी रक्षा करनेके बदले सुलतानको बलपूर्वक दबानेमें आपत्ति की। फ़ल यह हुआ कि एक बड़ा युरोपीय युद्ध होते होते रह गया और सुलतानने कुछ सुधार करनेकी प्रतिज्ञा की किन्तु यह बात काग़ज़ोंपर ही समाप्त हो गयी।

क्रीट-टापू यूनान-रूमका युद्ध

यूनानकी एक गुप्त सभाकी उत्तेजनासे क्रीट-टापूके बलवाइयोंने १८६७में क्रीटको यूनान राज्यान्तर्गत करनेकी घोषणा की और यूनानी सेनाने उसपर अधिकार कर लेना चाहा। परन्तु युरोपीय शक्तियोंने अपने सैन्यबलसे रोका। इसपर यूनान घोर युद्धपर सन्नद्ध हो गया, रूमने

अपनी सेनाद्वारा उसे पराजित किया। यूनानको छः करोड़ रुपये क्षतिपूरणके देने पड़े, परन्तु शक्तियोंके बीच-बिचावसे सन्धिमें रूमकी ओरसे यूनानका राजकुमार ही क्रीट-टापूका शासक नियुक्त हुआ।

अफ्रिकामें फ्रेंच-ब्रिटिश-जर्म्मन संघर्ष १८८७–१९०९

उन्नीसवीं सदीके प्रारंभमें संसारमें अफ्रिकामें ही बसने योग्य बहुत सी अभुक्त भूमि पड़ी हुई थी। इसपर पहले अंग्रेज़ोंने अधिकार जमाया किन्तु फ्रांस भी जब स्पर्द्धी हुआ तो उससे सीमा आदिका निश्चय किया गया। इसमें ब्रिटेन बराबर नरमीसे काम लेता रहा। पर उसे भूमध्यसागरके तटवर्त्ती अफ्रिकाके प्रदेशोंमें बहुत कुछ अधिकार नहीं देना चाहता था। जब मिस्रमें अरबियोंके बलवेमें अकेले ब्रिटिश सेनाने ही काम किया—फ्रांसने सहायता नहीं की—उस समय मिस्रपर ब्रिटेनका ही अधिकार बढ़ गया और अरबी-प्रदेशपर उसका दख़ल हो गया। १८८७में जो ब्रिटेन-रूमका राजीनामा लिखा गया उसके अनुसार सुल्तानके आचरण करनेमें फ्रांसके बाधक होनेसे अबतक दख़ल बना हुआ है। १८९८में फ्रांसने मिस्रके दक्षिणमें अधिकार पानेका फिर प्रयत्न किया। अपने उपनिवेश कांगोसे मार्चेंड-मिशनके नामसे सेना भिजवायी और हबशके सम्राट मनलिकसे भी चढ़ाई करायी। ब्रिटिश सेनाने ख़ारतूमकी लड़ाईमें उनका दमन किया और ख़ारतूमपर अधिकार कर लिया। दोनों शक्तियोंमें घमासान युद्ध होता परन्तु ज़ारका रुख़ न पाकर फ्रांसको अपना मिशन बुला लेना पड़ा और संधिद्वारा दोनोंके प्रभाव-क्षेत्रका निबटारा हो गया। ऐसे ही झगड़े मराकोमें भी उठे। फ्रांस मराकोको मिला लेना चाहता था किन्तु इंगलैंडने इसमें अपनी व्यापारिक हानि समझी। १९०४के राजीनामेंसे फ्रांसको व्यवहारका अबाध अधिकार मिला किन्तु जिब्राल्टरके पास गढ़निर्म्माण आदिका अधिकार नहीं दिया गया। जर्म्मनीने इसपर घोर आपत्ति की। १९०६की संधि भी नाममात्र ही रही। १९०८में युद्धकी तैयारियां होने लगीं। परन्तु महान आर्थिक-विप्लव और संकटके भयसे जर्म्मनीको रुकना पड़ा। १९०९में राजीनामा हो गया। जर्म्मनी और ब्रिटेनसे भी ऐसे ही झगड़े हुए जो बिना युद्ध ही तय हुए। समोआके विषयमें समझा जाता था कि ब्रिटेन

संयुक्तराज्य और जर्म्मनीमें भयंकर संग्राम होगा किन्तु १८६६में राजीनामा हो गया और समोआ पाकर जर्म्मनी सन्तुष्ट हो गया।

एशियामें रूस ब्रिटिश और फ्रेंच प्रभाव-क्षेत्रका सीमा-बन्धन

एशियामें भी रूस ब्रिटेनके झगड़े प्रभाव-क्षेत्रकी सीमा निर्धारित कर लेनेसे मिट गये। पामीर और चीनकी सीमातक रूसका प्रभाव समझा जाता है। अफ़ग़ानकी सीमातक आकर रूसके प्रभावक्षेत्रका अन्त हो जाता है। अफ़ग़ानिस्तान दोनों शक्तियोंके संघर्षको रोकनेवाला राज्य समझा जाता है। इसी प्रकार सीमा-निश्चयपूर्वक ब्रह्मदेशके पूर्व ब्रिटिश और फ्रेंच शक्तियोंका संघर्ष रोकनेवाला राज्य मीनम-घाटीका समझा जाता है। बोअर-युद्धमें (१८६६-१६०१) यद्यपि युरोपीय लोकमत ब्रिटेनके विरुद्ध था तथापि ब्रिटेनकी सहकारितामें उसके उपनिवेशोंके भी होनेसे किसी शक्तिने हस्तक्षेप न किया।

सैन्यबल-वृद्धि। हेगकी शान्तिसभा और शान्तिके अनेक राजीनामे।

सन १८७०-७१वाले युद्धसे सब शक्तियोंके हृदयमें जिसकी लाठी उसकी भैंसवाली नीतिका ऐसा डर समाया कि अपनी अपनी सैन्यशक्तियां लोग बढ़ाने लगे। लड़ाऊ जहाज़ बनने लगे। व्यय दिनपर दिन बढ़ने लगा और प्रजापर कर लगाये जाने लगे। इस सतत वर्द्धमान प्रवृत्तिका कोई अन्त न देखकर रूसके नवयुवक ज़ार द्वितीय निकलसने अंतर्राष्ट्रीय पंचायतद्वारा इस प्रश्नके निबटारेका प्रयत्न किया। १८६०में हेगकी पहली अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत हुई और १६०७में दूसरी पंचायत हुई किन्तु सैन्यबलको घटाने वा वृद्धिको रोकनेमें यह महासभा भी कृतकार्य्य न हुई। हां, इतना अवश्य हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ोंको पंचायतद्वारा निबटानेके पक्षमें दृढ़ लोकमतकी उत्पत्ति हो गयी। स्वर्गवासी राजेश्वर एडवर्ड सप्तमने इन अन्तर्राष्ट्रीय पंचायतोंको सफल करनेके अनेक प्रयत्न किये जिसका फल यह हुआ कि ब्रिटेन तथा अनेक शक्तियोंने कमसे कम अपने छोटे मोटे झगड़ोंके लिए इस पंचायतको ही स्थिर रक्खा। बड़े झगड़ोंमें अभी उन्हीं कूटनीतिक मंत्रणाओंका राज्य है। युरोपीय राजनीतिमें सभ्यताकी वृद्धिके साथ ही साथ यह बात भी बराबर देखी गयी कि धीरे धीरे बलप्रयोग घट गया। जिनबातोंके लिए सौ बरस पहले घोर संग्राम हो जाते वैसी

सैकड़ों बातें गत तीस बरसोंमें मंत्रियों और राजदूतोंकी सलाहों, सभाओं तथा कूटनीतिक मंत्रणाओंद्वारा तय हो गयीं और युद्धकी या तो आवश्यकता ही न हुई या टाल ही दिये गये। १६०५में नारवेका राज्य स्वीडेनसे अलग हो गया। इसपर स्वीडेनने आपत्ति नहीं की वरन् उसकी स्वतंत्रता स्वीकार कर ली। १६०७में ईरान-सम्बन्धी प्रभाव-क्षेत्रकी सीमा ब्रिटेन और रूसके बीच निश्चित हो गयी। १६०८में ज़ार निकलससे और स्वर्गीय एडवर्ड सप्तमसे रेवलमें मैत्रीपूर्ण भेंट हुई। उसी साल बाल्टिक समुद्रके समस्त तटवर्त्ती राज्योंने यह राजीनामा कर लिया कि जैसी वर्त्तमान स्थिति राज्योंकी है बनाये रहेंगे, एक दूसरेपर कोई चढ़ाई न करेगा। उत्तर-समुद्रमें भी ब्रिटेन, फ्रांस, जर्म्मनी, डेनमार्क, स्वीडेन और हालैंडने ऐसा ही राजीनामा कर लिया। फ्रांस, ब्रिटेन और स्पेनमें दक्षिण समुद्रोंके लिए भी ऐसा ही राजीनामा हुआ।

मकदूनियामें अशान्ति। रूमकी अद्भुत शान्त राज्यक्रान्ति १६०८।

यह सब शान्तिके ही उपाय थे, किन्तु इन सब प्रयत्नोंमें रूम अछूता रह गया। मकदूनियाकी हलचल जारी थी। १६०८तक इस हलचलने भयंकर रूप धारण कर लिया था। यूनानी और बलगर निर्दोष गांववालों-का क़तलाम करने लगे। रूमने इनको रोकनेका प्रबन्ध नहीं किया, बल्कि परराष्ट्र-रक्षक सेनाके काममें भी रुकावट डाली गयी। जिन ईसाइयोंकी नीयत मुसल्मानी सल्तनतको ग़ारत करनेकी थी वही आपसमें जब क़तलाम करते हों तो सुल्तान उपेक्षा करनेमें अपराधी नहीं समझे जा सकते। और जिस पद्धतिसे सुल्तानके शासनाधिकारमें कमी आयी उसे ही पुष्ट करनेमें वह क्यों सहायता करने लगे। ब्रिटेनका यह प्रस्ताव कि शक्तियोंकी सम्मतिसे सुल्तान एक मुसलमान गवर्नर मकदूनियामें नियुक्त करें रूम तथा अन्य शक्तियोंने अस्वी-कार किया। किन्तु उसी साल रूममें राज्यक्रान्ति हो गयी। तुर्क युवक-मंडलने वृद्ध सुल्तान द्वितीय अब्दुल-हमीदको बन्दी कर लिया और पंचम मुहम्मदको तख़्तपर बैठाल दिया और रूममें भी पार्लिमेंट बन गयी। यह आश्चर्य्यकर राज्यक्रान्ति बिना युद्धके ही एकाएक हो गयी, जिसकी आशा किसीको स्वप्नमें भी नहीं थी।

इस परिवर्त्तनसे सारी प्रजा प्रसन्न और सुखी हो गयी। युरोपभरमें ऊपरसे तो इसपर बड़ा सन्तोष प्रकट किया गया, किन्तु भीतरी भाव वैसा नहीं था। बलगेरिया एकदम स्वतंत्र हो गया और फ़र्डिनंडने विधिपूर्वक ज़ारकी उपाधि धारण की जिसे रूसकी नयी सरकारने स्वीकार कर लिया। आस्ट्रियाराजने बोस्निया और हर्ज़िगोविनाको हड़प लिया। यह १८७१वाले राजीनामेके विरुद्ध था परन्तु रूसकी निर्बलता और जर्म्मनीकी सबलतासे आस्ट्रिया-राज्य निर्भय सा हो गया था। इसपर समझा जाता था कि जाड़ोंके बाद ही महाभयंकर संग्राम होगा, क्योंकि रूसकी आपत्ति-पर रूस, फ्रांस, ब्रिटेन, त्रिमित्रने सहानुभूति प्रकट की और पंचायतका प्रस्ताव हुआ परन्तु जर्म्मनीने उदासीन-भाव

आस्ट्रियाकी ज़बरदस्ती

नाट्य करते हुए यह कहा कि हमारा मित्र आ-स्ट्रिया भी स्वीकार करे तो हमको आपत्ति नहीं है; और आस्ट्रियाने कहा कि यदि जो हो चुका उसे मान लेने और उसके बदले कुछ रुपया दिलानेमात्रके लिए पंचायत हो तो स्वीकार है। परन्तु मार्चमें ही जर्म्मन-कैसरका स्वलिखित ख़रीता जर्म्मन राजदूतने ज़ारको दिया। नहीं मालूम उसमें क्या बातें लिखी गयी थीं। किन्तु प्रत्यक्ष यही है कि ज़ारको जर्म्मन सेनाका, जो पोलैंडकी सीमापर आ चुकी थी, बड़ा भय हुआ। उस ख़रीतेके उत्तरमें ज़ारने उस प्रश्नसे अपना नाता तोड़ दिया और जर्म्मन-आस्ट्रियाकी बात मान ली। रूसने मित्र राज्यों-की सलाहसे उन दो प्रदेशोंके बदले कुछ रुपया लेकर इस झगड़ेका अन्त कर दिया।

इस झगड़ेमें भी सब शक्तियोंके कान खड़े हो गये और ब्रिटेनमें

ब्रिटेनमें सैन्यबल-वृद्धि

सैन्यबलवृद्धिको रोकनेकी जो प्रवृत्ति हुई थी वह मिट गयी। जर्म्मनी जो लड़ाऊ जहाज़ बनाने लगा था उसका पता लगनेपर हेगकी शान्तिसभाके उद्देश्योंके विरुद्ध ब्रिटेन भी अपनी जलशक्ति और महान साम्राज्य-की रक्षाके लिए स्वयं लड़ाऊ जहाज़ बनाने और जलस्थलसेना बढ़ानेमें लग गया और "जेहि बल होइ सो लेइ"वाली नीति बल-वती देख पड़ी। इस तरह हेगकी पंचायतका होना सम्प्रति निष्फल हो गया और ज़ार निकलसका प्रयत्न व्यर्थ हो गया।

इसके पीछेके इतिहासमें बोस्निया-हर्ज़िगोविनाको जिस तरह आस्ट्रियाने हड़प लिया, इटलीने भी रूम साम्राज्यान्तर्गत त्रिपौलीको हड़प लेना चाहा। परन्तु आस्ट्रियाका सा अधिकार न होनेसे पहले इटली और रूममें झगड़ा उठा, फिर इटलीने सितम्बर १९११में चढ़ाई कर दी और बराबर युद्ध होता रहा। १९१२के अक्टोबरमें ऊचीकी संधिसे त्रिपौलीपर इटलीका आधिपत्य हो गया। इस बातको अन्य शक्तियोंने भी स्वीकार कर लिया। सुलतानका वहां केवल धर्म्माधिकार रह गया। त्रिपौलीका शासन अब इटलीके उपनिवेशकी नाईं होगा।

त्रिपौलीमें इटली-रूमका युद्ध १९११–१२

३० सितम्बर सन् १९१२से रूम-बौलकन युद्ध छिड़ा, जिसमें बलगेरिया, सर्विया, मांटीनीग्रो और यूनान मिलकर रूमके विरुद्ध लड़े और पीछेसे यूनान, सर्विया, बलगेरिया आदि परस्पर भी लड़ गये एवं रूमानिया भी बीचमें आ पड़ा। इस युद्धके विविध वृत्तान्तोंसे समाचारपत्रोंके सभी पढ़नेवाले अभिज्ञ हैं। अबतक इस युद्धका पूरा पूरा अन्त नहीं हुआ है।

रूम-बालकन युद्ध १९१३

राजनीतिक अभ्युदयके साथ साथ युरोपमें सामाजिक अभ्युदय भी इस तरह होता रहा कि राजनीतिक घटनाओंपर सामाजिक परिवर्त्तनका गभीर प्रभाव पड़ता गया। माध्यमिक कालमें पहले मूर्त्तिखंडन और मूर्त्तिमंडनके झगड़े छिड़े जिनमें रोमन कथलिक और ग्रीकचर्च दो सम्प्रदाय हो गये। फिर जो चौदहवींसे सोलहवीं शताब्दीतक धर्म्म-सुधारकोंका प्रोटेस्टंट नामक सम्प्रदाय बन गया था उसका कथलिकोंसे भयंकर संघर्ष रहा। एक ही ख्रीष्टीय धर्म्मके दो सम्प्रदायोंमें जितना भयंकर द्वेष था, उनमें परस्पर जितने रोमांचकारी अत्याचार होते रहे उतने शायद किसी और देश वा धर्म्मके दो सम्प्रदायोंमें न हुए होंगे। सम्प्रदायोंमें परस्पर जब ऐसे झगड़े

साम्प्रदायिक विरोध

थे तब विधर्म्मियोंसे कितना घोर द्वेष होगा यह अनुमान करना कठिन है।

ईसाई और यहूदी
७०-१८८० ई०

सन् ७०में जब टैटसने यरूशलीमका सर्वनाश कर डाला उस समय वहांके पूर्व-निवासी यहूदी तितर-बितर हो गये। जहां जिसको सुविधा हुई बस गया। युरोपके सभी देशोंमें थोड़े बहुत यहूदी बसे। परस्पर बात बातमें सिर काटनेवाले ईसाइयोंके बीचमें ईसाके विरोधी यहूदियोंको रहकर अनेक कठिनाइयां अनेक यातनाएं अनेक अपमान और अत्याचार सहने पड़ते थे। यहूदीको ईसाई बड़ी घृणाकी दृष्टिसे देखता और उसका अपमान यहूदी लाचार हो सह लेता था। ईसाइयोंने यहूदियोंके महल्ले अलग कर दिये। उनको नगरके बाहर विशेष स्थानोंमें रहना पड़ता था। वे सब समाजमें स्वतंत्रतापूर्वक मिलजुल नहीं सकते थे। साधारण नागरिकके अधिकारोंसे वंचित रहते थे। परन्तु साथ ही साथ अलग रहनेसे यहूदियोंकी जातीयता एकदम नष्ट नहीं हुई। विवाह-सम्बन्ध अपनी जातिके भीतर ही होनेसे उनका शारीरिक ढांचा कुछ न कुछ अबतक उनके पड़ोसी ईसाइयोंसे भिन्न ही है। शान्त भावसे अपनी ही जातिकी सीमामें बँधे रहकर अपने परिश्रम और योग्यतासे यहूदी लोग बहुधा धनी और समृद्ध रहे और विशेषतः लेन-देन इनका व्यवसाय था। ईसाई लोग सदासे इनसे जलते आये तथा इनको देश-बाहर करनेका बराबर प्रयत्न करते रहे किन्तु उनके प्रयत्न सफल नहीं हुए। युरोपमें पहले पहल १७८९की राज्य-क्रान्तिके पीछे फ्रांसमें इनको साधारण नागरिकके अधिकार मिले। जर्म्मनीमें फ्रंकफ़र्टके प्रसिद्ध यहूदी महाजन बावरका डेनमार्क-राज्यको १८०२में ऋणी होना पड़ा। बावरकी कोठीका निशान लाल ढालका था इससे कोठीका नाम Rothschilds राटशील्ड (लाल-ढाल) पड़ा। १८१२में बावरकी मृत्युके पीछे उसके पांचों पुत्रोंने युरोपकी कठिन अशान्तिमें अपनी कोठीकी चार शाखाएं, वीना (आस्ट्रिया), लंडन, पैरिस और इटलीके नेपल्समें खोलीं। इनका साहूकारीका कारबार समस्त युरोपमें फैल गया और इनके वंशको राज्यसम्मान मिला; महाजनोंमें आज राटशील्डका नाम संसारमें प्रसिद्ध है। परन्तु लोकमत सदा यहूदियोंके विरुद्ध ही रहा। पार्लिमेंटमें प्रवेश करनेके लिए निर्वाचित होकर तीन बारके

व्यर्थ प्रयत्नपर चौथी बार १८३७में डिस्राएली मेम्बर हुए। परन्तु आईनसे यहूदियोंको मेम्बरीका अधिकार १८५८में मिला और यही डिस्राएली ब्रिटिश सरकारके प्रधान मंत्री हुए और अन्तको लार्ड (बेकन्सफ़ील्ड) भी हो गये।

यहूदियोंका युरोपत्याग १८८१-१८८४

यहूदियोंसे धीरे धीरे पहलेकी अपेक्षा बहुत शिष्ट बर्त्ताव होने लगा परन्तु समाजमें अबतक ईसाई उनसे भेदभाव तथा साधारणतः द्वेष और घृणा रखते हैं। बल्कि (Anti-Semites) शैमारियोंका आन्दोलन जो उन्नीसवीं शताब्दीमें प्रारंभ हुआ, प्रकाश्यरूपसे तो अरब मिस्री तुर्क आदि सबके विरुद्ध है तथापि विशेष उद्देश्य उनका यही है कि यहूदियोंको धनी न होने दें और उनके हाथोंमें राजनीतिक अधिकार न जाने दें। इस आन्दोलनसे लोकमत इतना द्वेषपूर्ण हो गया कि यहूदियोंको बहुत कष्ट दिया जाने लगा। रूस, हूनगरी और जर्म्मनीसे १८८१से १८८४तकमें अनेक यहूदी इन्हीं कारणोंसे अर्जेंटैन और अन्य अमेरिकन राज्योंमें जाकर बस गये।

ड्रेफ़सका मामला १८९४–१९०६

उन्नीसवीं सदीके अन्तमें यह आन्दोलन ड्रेफ़सके मामलेमें प्रज्वलित हो उठा। ड्रेफ़स एक यहूदी था जो सिपाहीके पदसे बढ़ते बढ़ते फ्रांसके सेना विभागका एक बड़ा अधिकारी हो गया। १८९४में इसके द्वेषियोंने यह अभियोग लगाया कि ड्रेफ़स जर्म्मन सर्कारके हाथ फ्रेंच सेनाके गुप्त रहस्योंको बेचता है। इसी अभियोगमें ड्रेफ़सका देश-निकाला हुआ। इस समय सारे फ्रांसका लोकमत क्षुब्ध हो गया था। इस अन्यायसे युरोपभरके लोकमतमें हंगामा सो मच गया था। जर्म्मनी, आस्ट्रिया और फ्रांसमें शैमारियोंका आन्दोलन राजनीतिक दलोंमें मिल गया। सुधारकों और समष्टिवादियोंने देखा कि शैमारियोंका पक्ष गुप्त भावसे प्रजातंत्रका विरोधी है अतः उन्होंने यहूदियों और ड्रेफ़सवालोंका पक्ष लिया और उनके विरोधियोंने उन्हें सेना बिगाड़नेका अभियोग लगाया। ऐसी अशान्ति फैली कि फ्रांसमें फिर विप्लवका भय होने लगा। सैनिक गुप्त अभिसन्धियोंकी अफ़वाहें उड़ने लगीं। राष्ट्रपतिका अपमान हुआ। प्रजातंत्रके उलटानेका प्रयत्न हुआ। इतनेमें

फ़्रांसकी पार्लिमेंटमें सुधारकों और समष्टिवादियोंके मतबाहुल्यसे ड्रेफ़सपर जो पूर्वविचार हुआ था रद्दी कर दिया गया। ड्रेफ़स लौटा लिया गया और फ़ौजी अदालतमें फिर विचार हुआ। शैमारि-भाव इतना प्रबल था कि निरपराध प्रमाणित होनेपर भी उसे दस बरस क़ैदका दंड मिला। परन्तु पुनर्विचारमें उसके वैरियोंकी जाली कारवाई खुल गयी थी अतः विचारकोंने अपने खुल्लमखुल्ला अन्यायको छिपानेके लिए राष्ट्रपतिसे दयापूर्वक उसे दंडमुक्त करनेकी प्रार्थना की। राष्ट्रपतिने राष्ट्रके दबावसे उसे क्षमा कर दिया। ड्रेफ़स छोड़ दिया गया, परन्तु इस दिन दहाड़े अन्धेरकी काररवाईसे लोकमत कैसे सन्तुष्ट हो सकता था? फ़ौजी अदालतके अन्यायसे बिगड़े हुए लोकमतका क्षोभ ड्रेफ़सके छोड़े जानेसे नहीं मिटा। फ्रेंच सरकारने सम्प्रदायोंकी शक्ति घटानेके लिए आईन बनाना चाहा, इसपर घोर विरोध हुआ और सरकारपर चारों ओरसे दुर्वादकी बौछार पड़ने लगी। अन्ततः १९०२में यह आईन बन गया। तब भी लोक-संक्षोभ ज्योंका त्यों रहा। एक पक्ष ड्रेफ़सको अपराधी और दूसरा निर्दोष मानकर आन्दोलन करता रहा। इसपर ड्रेफ़सने अपनी विशेष प्रार्थनापर अपने अभियोगका पुनर्विचार कराया। १९०६के निष्पक्ष विचारकोंने स्वतंत्र होकर ड्रेफ़सको निर्दोष प्रमाणित किया और सरकारने उसे पूर्व पदपर फिर नियुक्त किया और क्षतिपूरणमें उसका अधिक राज्यसम्मान किया गया। जिसने जाली चिट्ठी लिखी थी उसका पूरा पता लग गया, किन्तु वह मर चुका था। इतनेपर भी शैमारि-भाव मिट नहीं गया, अबतक राजनीतिक दलोंमें उसका समावेश है। यहूदियोंके दुःख आजतक दूर नहीं हुए।

देशान्तर-व्यापार वृद्धि

माध्यमिक कालके पीछे जो जागृति हुई और युरोपमें विद्याका प्रचार हुआ, उससे धीरे धीरे समाजमें राजनीतिक जागृति भी होने लगी। समाजका राजनीतिसे एवं उद्योग और व्यवसायका राज्यप्रबन्धसे जो सम्बन्ध है उसे थोड़ा बहुत यूनानी सभ्यताके समयसे ही लोग समझते थे, परन्तु देशोंमें सुव्यवस्था न होने और व्यापार व्यवसायकी पूर्ण रक्षा न होने तथा आनेजाने चिट्ठीपत्रीकी सुविधाके अभावसे जो घनिष्ठ सम्बन्ध समाज और उसके वाणिज्य व्यवसायका राज्यसे है उसे लोग ठीक ठीक नहीं समझते थे। यूनानी सभ्यता नगरोंकी

सभ्यता थी। देशभर बसे हुए जनसाधारणसे कोई मतलब राज्यसे मानों था ही नहीं। धीरे धीरे नगरोंसे बढ़ते बढ़ते प्रान्तों, प्रदेशों और देशोंमें एकचेतन-भाव वा एकांगता उत्पन्न हो गयी और प्रजाकी रक्षाकी ठीक व्यवस्था होने लगी। देशान्तर-व्यापारकी वृद्धि हुई यहांतक कि माध्यमिक कालमें ही समुद्रतटके समस्त निवासी जलडाकूसे बदलकर बड़े भारी व्यापारी हो गये और देश देशान्तरोंसे सम्बन्ध रखने लगे। मुसलमानोंसे भी इस विषयमें बहुमूल्य शिक्षा मिली। चीन और भारतवर्षसे व्यापार करनेकी लालसा अत्यन्त बढ़ गयी। इसकी ही उत्तेजनासे पन्द्रहवीं शताब्दीके अन्तमें दक्षिण अफ्रिका और अमेरिकासे भी युरोपको अभिज्ञता हो गयी। १६०५में आस्ट्रेलियाका पता लगा। और १७७०में कुकने ब्रिटेनकी ओरसे उसपर अधिकार कर लिया। युरोपके जल-व्यवसायियोंका साहस इतना बढ़ गया कि उन्होंने जहाज़ोंपर संसारकी अनेक परिक्रमाएं कीं। कोई टापू कोई देश बेदेखे न छोड़ा और जहां जहां संभव हुआ मूल निवासियोंको नष्ट करके वा गुलाम बनाकर अधिकार कर लिया। इन व्यवसायियोंके पीछे पीछे ईसाइयोंके भी धर्म्मदल चले जिन्होंने अपने धर्म्मकी शिक्षा दी और अपने धर्म्मानुयायियोंकी सहज ही संख्यावृद्धि कर ली। साथ ही साथ उन्हें स्वार्थी व्यवसायियोंके अत्याचारसे भी यथाशक्ति बचाया।

उपनिवेश

नये देशोंका पता लगनेसे युरोपकी वर्द्धमान जनसंख्याको वासस्थान मिल गया। इस नयी अधिवासपद्धतिका इतिहास स्पेनसे प्रारम्भ होता है। पहले पहल स्पेनी साहसिक अमेरिकामें इसी नीयतसे गये कि वहांके देशियोंसे मेहनत कराकर सोने चांदीसे अपना ख़ज़ाना भरें। देशाधिकार जल्दी जल्दी हुआ परन्तु अधिवास अत्यन्त धीरे धीरे बढ़ा। इन्होंने देशियोंपर घोर अत्याचार किये। इनके पाशविक बर्त्तावमें कभी पादरियोंके उपदेश और सरकारी व्यवस्थासे हुई। अन्तको असल स्पेनी, अमेरिकन दोगले स्पेनी और देशी थोड़ा बहुत समभावसे रहने लगे। जबतक उपनिवेश लड़कर स्वतंत्र नहीं हुए तबतक स्पेन उन्हें अपनी ही सुविधाकी निगाहसे चूसता गया। उसकी व्यापारी नीति अत्यन्त अविवेकपूर्ण थी और असह्य दबावों और

रुकावटोंकी मूर्त्ति थी। पुर्त्तगाली उपनिवेशोंकी भी यही दशा थी। ब्रेज़िल अफ़्रिकासे समीप पड़ता है। वहांसे पुर्त्तगाली और अन्य युरोपीय अफ़्रिकाके लोगोंको बहकाकर पकड़ लाते थे वा किसी बहकाकर लानेवालेसे मोल ले लेते थे। उन्हें अपना ग़ुलाम बनाकर जिस क्रूरतासे काम लेते थे वर्णनातीत है। फ़्रांसके उपनिवेश उत्तर अमेरिकामें अत्यन्त विस्तृत थे किन्तु उसका बर्त्ताव उतना क्रूर नहीं था। डच लोगोंने भी भारतोत्तर द्वीपोंमें तथा अमेरिकाके द्वीपोंमें उपनिवेश बनाये और अबतक उनपर उनका अधिकार है।

सबसे अधिक बसने बसानेवाली जाति अंग्रेज़ों की है। १६०० -१७७५तक ब्रिटेनसे जाकर अमेरिकामें अंग्रेज़ोंने जो उपनिवेश बनाये वह आजकल संयुक्तराज्यके अन्तर्गत हैं। यह १७७६में स्वतंत्र हो गये। तबसे अंग्रेज़ोंकी दो जाति सी बन गयी। एक अमेरिकन और दूसरे ब्रिटिश साम्राज्यवाले। आजकल ब्रिटिश उपनिवेशोंको जैसी स्वतंत्रता मिल गयी है कभी किसी उपनिवेशको नहीं मिली थी। आस्ट्रेलिया, कनाडा और दक्षिण अफ़्रिका तो इतने स्वतंत्र हैं कि इनकी तुलना पराये स्वतंत्र देशोंसे करना अयुक्त नहीं है।

राजा-प्रजामें अधिकारका सन्घर्ष

युरोपकी जागृतिकालसे जनसाधारण भी अपने देशी राज्य-प्रबन्धोंपर विचार करने लगा। विद्याकी वृद्धिसे स्वतंत्र विचारकी ओर प्रवृत्ति हो गयी। प्रजा भी राज्यमें अपना अधिकार समझने लगी और प्रजाकी ओरसे भी आन्दोलनकारियोंकी उत्पत्ति हुई। इसकी प्रतिक्रियामें राजाओंने व्यक्तिगत शासन और स्वेच्छाचार-शक्ति बढ़ानेका प्रयत्न किया और इस भावका प्रचार किया कि राज्यपर राजाका ईश्वरदत्त अधिकार है और राजा दैवी व्यक्ति है। साधारण प्रजामें धर्म्मसुधारकोंका प्रभाव बढ़ा जिससे पोप और पादरीकी दैवी शक्तिका ह्रास हो गया और पादरियोंका प्रभाव घट गया। राजाओंने स्वार्थसाधनसे उनका अधिकार स्थायी रखना चाहा। राजाप्रजामें यह संघर्ष सैकड़ों वर्षतक रहा। प्रजाने अनेक बार क्षुब्ध हो अपने राजाओंको राज्यच्युत कर दिया, बन्दी कर लिया, मार डाला और राजाओंने भी प्रजापर अकथनीय अत्याचार

किये। किन्तु धीरे धीरे प्रजाका ही अधिकार बढ़ता गया। अठारहवीं सदीमें आदम स्मिथने अर्थशास्त्रकी ऐसी व्याख्या की कि समाज, अर्थ और राजनीतिका सम्बन्ध सर्वसाधारणके समझमें आने लगा और अर्थशास्त्रके अध्ययनकी राह खुल गयी।

अर्थशास्त्रका सार

भूमि और भौतिक शक्तियोंका उपयोग करके मनुष्य अपने जीवनकी आवश्यक वस्तुओंको तथा सुख और व्यसनकी सामग्री इकट्ठी करता है। और उसका उपभोग करता है। परन्तु कोई व्यक्ति विना सहकारिता इसमें पूरी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। अतः परस्पर श्रम-विभाग हुआ जो जिस कामके योग्य हो वह उस कामको करे। इसमें जोखिम सहकर और स्वार्थत्याग करके पूंजी लगानेवालोंका एक पक्ष और श्रम करनेवालोंका दूसरा पक्ष हुआ। श्रमकी मजूरी लेकर और जोखिम और स्वार्थत्यागके बदले मुनाफ़ा लेकर दोनों पक्ष सन्तुष्ट हुए। परन्तु सुखोपजीवनका परिमाण नित्य बढ़ता जाता है। "जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।" एक ही देश अपने निवासियोंके सुखकी सारी सामग्री प्रस्तुत नहीं कर सकता। अतः सहकारिताकी सीमा बढ़ गयी, देशमें अदला-बदली होने लगी, इसको विनिमय कहते हैं। हाटका इतना विस्तार हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय हो चला। हाटमें लेनदेनकी सुविधाके लिए पहले सिक्कोंका प्रचार हुआ, फिर बहुत ज्यादा सिक्कोंकी असुविधासे, साख और परस्पर विश्वासके उत्पन्न होने और सच्चे व्यवहारके बढ़नेसे हुंडी और उधार लेनदेन, चेक आदिसे काम लिया जाने लगा। अपने राष्ट्रका लाभ बढ़ानेके लिए बहुतेरे राज्योंने अपने देशमें आनेवाले परराष्ट्रके मालपर भारी भारी कर लगाने प्रारंभ किये, इसे प्रतिबंधक-कर, तथा ऐसे व्यापारको प्रतिबद्ध वा बाध्य-व्यापार कहते हैं। और जहां मालपर ऐसे कर नहीं लगाये जाते वहां व्यापारको अधिक स्वतंत्रता होती है, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताके बढ़नेसे माल उत्तम और उचित दामोंपर मिलता है। इसे मुक्तद्वार, अबाध वा अप्रतिबद्ध व्यापार कहते हैं। जिस अर्थशास्त्रकी व्याख्या आदम स्मिथने की उसका सार यही है।

अर्थशास्त्रका अध्ययन उसी समयसे प्रतिदिन बढ़ता गया। राजनीतिकोंने इसका अध्ययन करके अनेक राजनीतिक सुधार किये। समाजशास्त्रका अर्थशास्त्रसे अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ। Robert Owen राबर्ट आवनने १८१२में समष्टिवाद वा समाज-स्वत्ववादका प्रचार किया। समष्टिवाद है तो आर्थिक मत, परन्तु इसमें राजनीतिक धार्म्मिक एवं सामाजिक परिवर्त्तन भी समाविष्ट है। समष्टिवादियोंका मत है कि राष्ट्रकी सम्पत्तिपर प्रत्येक व्यक्तिका समान अधिकार है और व्यक्तियोंका समान धर्म्म है कि जीवनके लिए आवश्यक तथा विशेष सुखकी सामग्रीके उपार्जनमें परिश्रम करें। उनका आदर्श यह है कि चाहे जैसी दशामें जन्मे पर प्रत्येक व्यक्तिको अपनी अपनी परिस्थिति वा दशामें अपनी योग्यतानुसार पूर्णता प्राप्त करनेका पूरा अवसर मिले। उनका कहना है कि जनसाधारणकी प्रत्येक व्यक्तिको वर्त्तमान समाज ऐसा अवसर नहीं देता है। शिक्षाके अभावसे उनमें दृढ़ संकल्प और उद्योग नहीं है और समुचित भोजनके अभावसे उनके मस्तिष्क और शरीरमें बल नहीं होता। थोड़े से योग्य मनुष्य अपनी आवश्यकतासे अधिक सम्पत्तिपर अधिकार कर लेते हैं और हज़ारों आदमी भूखों मरते हैं। इस असमानताको दूर करनेके लिए सबसे प्राथमिक उपाय सर्वांग शिक्षाका प्रचार है। इसके सिवाय उनके मतसे (१) कर इस तरहपर लगना चाहिए कि अधिक सम्पत्तिवालोंको अत्यधिक और कम सम्पत्तिवालोंको कम देना पड़े, जिससे सम्पत्तिका विभाग प्रायः समान हो जाय, (२) जो लोग साहूकारोंसे ऋण लेनेमें असमर्थ हैं उन्हें नाममात्रके व्याजपर सरकारसे ऋण मिलना चाहिए, और (३) सम्पत्ति तथा भूमिके अधिकारके विषयमें नैतिक और सामाजिक धर्म्मोंके अनुकूल बलपूर्वक आचरण कराना चाहिए।

समष्टि-वाद वा समाज-स्वत्ववाद क्या है ?

युरोपका लोकमत प्रजापक्षमें बढ़ रहा था। जनसाधारणमें धनाभाव और थोड़े से लोगोंका अत्यन्त समृद्धिशाली होना प्रत्यक्ष था। प्रजातंत्रवादी अत्यन्त शीघ्रतासे समष्टिवादके अनुयायी हो गये। युरोपके प्रत्येक देशमें उनकी संख्या बढ़ने लगी। आज इंगलैंडमें तीन प्रधान समष्टिवादी समवेत हैं—Social Democratic Federation

युरोपमें समष्टिवादका प्रभाव

समष्टि-पंचायती-समवेत, Fabian Society फ़ेबीय समाज और Independent Labour Party स्वतंत्र-श्रम-पक्ष। जर्म्मनीमें भी समष्टिवादियोंकी ऐसी ही संस्थाएं हैं और साम्राज्यभरमें सबसे बलवान राजनीतिक पक्ष समष्टिवादियोंका ही है। आस्ट्रियाकी भी यही दशा है। इन दोनों देशोंमें राजनीतिक अशान्ति समष्टिवादके व्यापक प्रचारके पक्षमें है। रूस आदि अन्य देशोंमें भी समष्टिवादका बल बढ़ रहा है।

विकास-सिद्धान्त योग्यतमावशेष

जिस समय समष्टिवादका प्रचार अपनी प्रारंभिक दशामें था उसी समय प्रसिद्ध जीववैज्ञानिक चार्ल्स डारविन [१८०९-१८८२] संसारकी परिक्रमा करके लौटा तो उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यके लगभग उसने विकास-सिद्धान्तका प्रचार किया और उसके समकालीन प्रसिद्ध दार्शनिक हरबर्ट स्पेंसरने [१८२०-१९०३] उसके विकास-सिद्धान्तमें परिवर्द्धन करके उसे स्पष्ट कर दिया। विकास-सिद्धान्त यह है कि सृष्टि बैबिल-वर्णित रीतिसे एक साथ ही छः दिनमें नहीं हुई। पहले पहल लाखों बरसमें धीरे धीरे जड़ पृथ्वी पहाड़ नदी आदि बने। फिर बढ़ते बढ़ते वनस्पतियोंकी उत्पत्ति हुई। वनस्पतियोंसे उन्नति करते करते पशु आदि प्राणी और पशुओंमें वानरोंकी दशासे बढ़ते बढ़ते वन-मनुष्य मनुजाद और फिर साधारण मनुष्य हुए। प्रकृतिमें खनिज, वनस्पति, पशु, मनुष्य, समस्त देहधारियोंमें, अपने सवर्गियोंमें कठिन संघर्ष वा रगड़ा-रगड़ी स्वभावसे ही जारी है। अपने जीवनकी रक्षाके लिए प्रत्येक देहधारी आवश्यकता पड़नेपर सवर्गियोंसे लड़ता रहता है और बलवान अपनेसे बलहीनका नाश कर देता है। इस रगड़ा-रगड़ीको जीवनप्रयास कहते हैं। इस जीवनप्रयासमें जो सबसे बलवान सबसे योग्य होता है वही बच रहता है। इस योग्यतमावशेषसे निर्बल निर्मूल हो जाता है। विकास-सिद्धान्तके इस मतका समाजशास्त्रमें स्वयं हर्बर्ट स्पेंसरने प्रयोग किया और शीघ्र ही समस्त राजनीतिक सम्प्रदायोंने अपने अपने सिद्धान्तोंके पोषणमें इसका आश्रय लिया। इस सिद्धान्तका बड़े महत्त्वका प्रभाव मनुष्यके स्वतंत्र विचारपर पड़ा। पहले पाश्चात्य भी हमारी तरह अपने पूर्वपुरुषोंके विचार और वाक्योंके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। इतना ही नहीं, उनका प्रमाण देते थे, उनको मार्गोपदेशक समझते

थे और यह विश्वास रखते थे कि वे हमसे अधिक अनुभवी और ज्ञानी थे। विज्ञानके प्रचारसे, रेल, तार, कल आदि यंत्राभ्युदयसे इस विश्वासपर कुठाराघात हो ही चुका था कि विकासशास्त्रने सिद्ध कर दिया कि मनुष्य नित्य उन्नति करता जाता है। सभ्यता-में उत्तरोत्तर वृद्धि होनेसे पिछले मनुष्यकी अपेक्षा अगले मनुष्य अधिक सभ्य अनुभवी और योग्य होते हैं। इस सिद्धान्तके सामने वह श्रद्धा रफूचक्कर हो गयी।

अर्वाचीन शासन-यंत्र

तब भी आज ऐसी ऐसे उन्नत विचार केवल शिक्षित मनुष्योंमें हैं। युरोपके देहाती, युरोपका जनसाधारण अबतक अनेक अंधविश्वासों अनेक कुरीतियोंसे भरा पड़ा है जिसके विरुद्ध वहांके सुधार-समाज बराबर यत्नशील हैं। युरोपकी राजनीतिक उन्नति इन अंधविश्वासोंसे इन कुरीतियोंसे नहीं रुकती। प्रजा राज्य-सम्बन्धमें अपना अधिकार इसलिए समझती है कि कर देती है। इस बातको प्रेतका माननेवाला साधारण देहाती कुली भी समझता है। प्रायः समस्त देशोंमें तीन शक्तियोंके हाथमें राज्यप्रबन्ध है। पहली शक्ति जन-साधारणके निर्वाचित प्रतिनिधियोंकी है, दूसरी शक्ति बड़े बड़े रईसोंके वर्गसे, वा विशेष निर्वाचित प्रतिनिधियोंसे और राजपुरुषोंसे बनी हुई है, और तीसरी राजा, सम्राट, वा राष्ट्र-पतिकी है जो क्रमशः वंशानुगत अधिकारसे वा निर्वाचनसे नियुक्त होता है। इन तीन वर्गोंमें किसी देशमें एक प्रबल है किसीमें दूसरा। इनमें ब्रिटिश सरकारकी जैसी रचना है, प्रायः सर्वोत्तम समझी जाती है। जहां जहां राज्यक्रान्ति हुई है प्रायः ब्रिटिश वैध राज्यकी नकल की गयी है। ब्रिटिश पार्लिमेंट और राज्यप्रबन्धकी रचना ७०० वर्षसे ऊपरकी हुई। इसमें बराबर परिवर्त्तन होता आया है और प्रजाके, सर्वसाधारणके, हौस आफ़ कामन्सके, अधि-कारमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती आयी है।

'भारी भ्रममें' प्रतिपादित विषयका सार

(अनुवादित)

युरोपकी वर्त्तमान सैनिक लागडाटका—विशेषतः एँग्लोजर्म्मन लागडाटका—मुख्य प्रयोजन क्या है ? प्रत्येक जातिका कहना है कि हमें अपने बचावकी आवश्यकता है। परन्तु इससे यह अर्थ निकला कि किसीकी ओरसे चढ़ाई होनेकी संभावना है, जिससे यह भी समझा जाता है कि ऐसा करनेमें उसको कुछ लाभ होगा। वह कौन से लाभ हैं जिनसे प्रेरित होकर पड़ोसी राज्यके चढ़ आनेका डर है ?

ऐसे विचारकी उत्पत्ति यों हुई है, कि सबके मनमें यह कल्पना जमी हुई है कि अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या और शिल्पकी निकासीके लिए अथवा अपनी प्रजाको उत्तमोत्तम दशामें रखनेके लिए कोई भी जाति हो देशविस्तारकी ओर अवश्य ही प्रवृत्त होगी और दूसरोंके विरुद्ध राजनीतिक बलका अवश्य प्रयोग करेगी। जर्म्मन नाविक लागडाटसे यही अर्थ लगाया जाता है कि बढ़ती हुई आबादीके लिए उसे संसारमें अधिक स्थान चाहिए, जिसके लिए उसे अंग्रेज़ी व्यापार वा उपनिवेशोंको लड़कर छीन लेना पड़ेगा और इसीलिए इंगलैंडको रक्षाकी आवश्यकता है। इसलिए यह समझा जाता है कि प्रत्येक जातिकी आपेक्षिक समृद्धि मोटी रीतिसे उसके राजनीतिक बलपर निर्भर है। जब जातियोंकी दशा परस्पर प्रतियोगिनी व्यक्तियोंकी नाईं है तो सुविधा अन्ततः उसकी ही होगी जिसके पास सबसे बड़ी सबसे भारी सेना होगी और जीवनके अन्य प्रयासोंकी नाईं इस प्रयासमें भी दुर्बलकी ही पूरी हार है।

ग्रन्थकार इस पूरे सिद्धान्तका खंडन करता है। वह यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है कि उपर्य्युक्त मत जिस युगका है वह युग अब नहीं रहा; अबके ज़मानेमें किसी जातिके वाणिज्य और शिल्पका विस्तार उसके देशकी सरहदके विस्तारपर निर्भर नहीं है; अब यह आवश्यक नहीं है कि किसी जातिकी जो राजनीतिक सरहद-

हो वही आर्थिक सरहद भी हो; अब सैनिक बल सामाजिक और आर्थिक दोनों दृष्टियोंसे व्यर्थ है और उस बलको धारण करनेवाली जातिकी समृद्धिसे उससे कोई नाता नहीं है; अब एक जाति दूसरी जातिकी सम्पत्ति वा व्यापारको छीन नहीं सकती, और न किसी तरह दबाकर वा बलपूर्वक अपनी बात मनवाकर स्वयं समृद्ध हो सकती है; निदान, जिन उद्देश्योंके लिए लोग युद्ध करना चाहते हैं वह अब युद्धके सफल हो जानेपर भी सिद्ध नहीं हो सकते।

जहांतक आर्थिक प्रश्नका सम्बन्ध है वहांतक इस प्रत्यक्ष विरोधाभासको ग्रन्थकार यह प्रमाणित करके सिद्ध करता है कि आर्थिक सभ्यतावाले संसारमें कारबारी साख और बातपर ही सम्पत्ति है। अत्यन्त बढ़े हुए आवाजाई और लिखापढ़ीके सम्बन्ध और वर्धमान श्रमविभागसे जो परस्पर आर्थिक भरोसा हो गया है उससे ही इस साख और बातकी उत्पत्ति हुई है। ज़ब्तीकी कोशिशमें अगर कहीं बात और साख बिगड़ी, तो बात और साख-पर जिस सम्पत्तिकी स्थिति है उस सम्पत्तिकी जड़ कट गयी, और सम्पत्तिकी हानिमें विजेताकी भी हानि है। इसलिए यदि विजेता चाहे कि विजयसे अपनी हानि न हो तो अपने वैरीकी सम्पत्तिकी रक्षा करे। और जब वैरीकी सम्पत्तिकी रक्षा होगी तो आर्थिक दृष्टिसे युद्ध करना व्यर्थ ही हुआ। इस तरह विजित देशकी सम्पत्ति उसके निवासियोंके ही हाथमें रही। जब जर्म्मनीने अलसेशियाको मिलाया तो किसी जर्म्मनको अलसेशियाकी मिलकियतसे एक पैसेका लाभ न हुआ। आजकल विजय क्या है, मानों 'क'से गुणा करना है, और फिर 'क'से ही भाग देकर अन्तिम फल निकालना है। यदि दिल्ली आगरेको मिला ले, तो दिल्लीवालोंकी सम्पत्तिमें जिस तरह कोई वृद्धि न होगी, उसी तरह किसी देशको मिला लेनेसे विजयिनी जातिको सम्पत्तिलाभ नहीं हो सकता।

ग्रन्थकार यह भी सिद्ध करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय साहूकारी उद्योग और व्यापारके तानेबानेमें ऐसी फँस गयी है, ऐसी अन्योन्याश्रित हो गयी है कि जिस तरह वैरीको मिलकियतपर हाथ लगाना संभव नहीं है उसी तरह उसका व्यापार भी अस्पृश्य है। जिसका फल यह है कि छोटी छोटी बलहीन जातियोंके व्यापारी और शिल्पी बड़ी बड़ी शक्तिसम्पन्ना जातियोंके स्पर्धियोंका सामना

करते और उनसे बाज़ी ले जाते हैं। स्विस और बेल्जियन सौदागर ब्रिटिश औपनिवेशिक हाटोंसे अंग्रेजोंको ही निकाल देते हैं। आबादी-के हिसाबसे नारवेके पास ग्रेट-ब्रिटेनसे भी बड़ा जल-व्यापार है। जानमालकी रक्षाकी और सम्पत्तिकी एक मोटी और प्रत्यक्ष पहचान सर्वसाधारणमें अपनी साख है। सो, जिन छोटे छोटे राष्ट्रोंके कोई राजनीतिक शक्ति है ही नहीं उनकी सरकारी साख युरोपकी महाशक्तियोंसे प्रायः बढ़ी हुई है। जहां तीन-रुपया-सैकड़ा सूदवाले काग़ज़ जर्म्मनीके ८२) रु०पर बिकते हैं वहां बेल्जियमके ९६) रु०-पर बिकते हैं, जहां साढ़ेतीन-रुपया-सैकड़ा सूदवाले काग़ज़ रूसके केवल ८१) रु०पर बिकते हैं वहां नारवेवालेको १०२) रु० मिलता है।

जिन शक्तियोंने सैन्यबलको आर्थिक रीतिसे व्यर्थ कर दिया है उन्हीं शक्तियोंके कारण यह संभव नहीं है कि सैन्यबलसे विजित जातिको विजयिनी जाति अपने आचारके आदर्शपर चलावे वा अपनी सामाजिक संस्थाओंका प्रचार करे। जर्म्मनी कनाडा वा आस्ट्रेलियाको विजय करके अपना उपनिवेश नहीं बना सकता, अर्थात् उनकी भाषा, नीति, साहित्य वा परम्परागत बातोंको नष्ट नहीं कर सकता। ऐसे विजित प्रान्तोंके निवासियोंके जानमालका सुरक्षित रहना अवश्यम्भावी है—फिर भी सस्ती छपाई, पत्रों और पुस्तकोंसे शीघ्र सबकी दशाका मालूम होना, आवाजाई लिखापढ़ीमें अत्यन्त शीघ्रता, सर्वसाधारणमें पढ़नेका बढ़ा हुआ प्रचार—इन सब उपायोंसे छोटी छोटी जातियां भी वाचाल हो जाती हैं और पूर्ण सैनिक विजय हो जानेपर भी अपने विशेष सामाजिक और आचारनीतिक स्वत्वोंकी सफलतापूर्वक रक्षा करती हैं। आदर्शोंके लिए जो झगड़ा होता है अब राष्ट्रोंमें परस्पर युद्धका रूप नहीं धारण कर सकता क्योंकि आचारनीतिक और सामाजिक प्रश्नोंपर जो झगड़े हैं वह राष्ट्रके भीतर ही विभागके कारण हैं। इन विभागोंकी सरहद राजनीतिक सरहदको काटती हुई अन्य राष्ट्रों और देशोंमें फैली हुई है। आज कोई राष्ट्र ऐसा नहीं है जो शुद्ध प्रोटेस्टंट वा कथलिक, वा उदार-मतवादी वा व्यक्तिराज्यवादी, प्रजातंत्रवादी, वा समष्टिवादी, वा व्यक्ति-स्वातंत्र्यवादी, वा नरम वा गरम ही हो। वर्त्तमान संसारका आचार और धर्म्मका झगड़ा प्रत्येक देशके भीतर ही नागरिकोंमें परस्पर होता रहता है और

देश देशके नागरिक ऐसे ही झगड़ोंमें लगे हुए दूसरे देशोंके समान पक्षवालोंकी अज्ञात मानसिक सहकारितामें प्रवृत्त हैं। यह झगड़े स्पर्धी राष्ट्रोंकी राज्य-शक्तियोंमें परस्पर नहीं हैं।

मनुष्यकी श्रेणियोंका इस तरह तह-पर-तह विभाग हो जानेसे मानवी युयुत्साका—लड़ाकेपनका—रुख बदल जाना आवश्यक है। अब राज्योंके विभागपर नहीं बल्कि श्रेणियों तथा उनके स्वार्थोंकी परस्पर स्पर्द्धापर मानवी युयुत्सा निर्भर है। अब युद्धको उचित प्रमाणित करनेको यह नहीं कहा जा सकता कि रणके रगड़ेमें योग्यसे योग्य लोग बच जायँगे, क्योंकि वस्तुतः युद्धमें अयोग्य ही बच जाते हैं। जीवविज्ञानके विकास-नियमके सादृश्यको समझनेमें बड़ी भारी भूल है जिससे यह कल्पना उत्पन्न हुई है कि मानवजातिकी वृद्धिका जो विकास-नियम है उसका ही एक अंग जातियोंका परस्पर झगड़ा-रगड़ा भी है।

युयुत्सु जातियां भूमिकी स्वत्वाधिकारिणी नहीं होतीं वरन् वे मानवजातिका क्षीयमाण अंग हैं। मनुष्यजातिके समस्त कर्म्म-क्षेत्रोंमें बलका प्रयोग जो नित्य घटता जा रहा है, उसके साथ ही साथ गभीर मानसिक परिवर्त्तन सम्मिलित हैं।

आवाजाई लिखापढ़ी आदिमें जो इतनी शीघ्रता हो गयी है कि देश-कालकी रुकावटें अत्यन्त कम हो गयी हैं—इस बदली हुई वर्त्तमान दशासे ही यह प्रवृत्तियां उत्पन्न हुई हैं। इन्हीं प्रवृत्तियोंने वर्त्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिके प्रश्नोंको प्राचीन कालसे बिलकुल भिन्न कर दिया है। तिसपर भी उसी पुरानी शब्दावली, पुराने रूपक और पुराने सिद्धान्तोंका हमारी कल्पनाओंपर पूरा अधिकार जमा हुआ है।

ग्रंथकारका अनुरोध है कि यद्यपि अभी इन सत्य बातोंको कम लोग जानते समझते हैं तब भी सैन्यविषयक कठिनाइयोंको सुलझानेमें इन्हीं बातोंका नयी रीतिसे प्रयोग करना चाहिए। युरोपमें लोकमतको इस तरहपर सुधारा जाय कि वर्त्तमान चढ़ाई करनेकी प्रवृत्ति अधिकांश निरुद्यम हो जाय और इस तरह चढ़ाईका भय कम हो जाय जिसमें स्वरक्षाकी आवश्यकता भी उतनी ही घट जाय। यह भी दिखाया गया है कि किस तरह ऐसा राजनीतिक

सुधार व्यवहार-साध्य है और इस सुधारके प्रचारकी रीतियां भी बतलायी गयी हैं।

[ग्रंथकारने पुस्तकके तीन भाग किये हैं। पहलेमें आर्थिक पक्ष और दूसरेमें आचारनीतिक, आध्यात्मिक और जीववैज्ञानिक पक्ष-पर विचार किया गया है। तीसरेमें इस विषयपर विचार हुआ है कि देश-रक्षाविषयक नीति क्या होनी चाहिए, लोकमतके सुधारपर उन्नति क्यों निर्भर है तथा वह सुधार कैसे साध्य है। पूरे आर्थिक वादका संक्षिप्त वर्णन पहले भागके तीसरे अध्यायमें, और आचार-नीतिक आध्यात्मिक और जीववैज्ञानिक वादका संक्षिप्त वर्णन दूसरे भागके दूसरे अध्यायमें हुआ है।

यह अनुवाद अंग्रेजीके अगस्त १९१२वाले संस्करणसे किया गया है। पूर्व संस्करणोंसे इससे बहुत कुछ भेद है। —अनुवादक]

विषय-सूची

(संक्षिप्त)

पहला भाग—आर्थिक पक्ष

दूसरा भाग—मानवी-प्रकृति और आचारनीतिक पक्ष

तीसरा भाग—व्यवहारिक परिणाम

विषय-सूची

(विस्तृत)

पहला भाग—आर्थिक पक्ष

पहला अध्याय

युद्ध-पक्षमें आर्थिक तर्कणाका दिग्दर्शन

दूसरा अध्याय

आधुनिक राज्यकौशलके सर्व्वमत सिद्धान्त

तीसरा अध्याय

भारी-भ्रम

चौथा अध्याय

ज़ब्ती हो नहीं सकती

विषय-सूची

पांचवां अध्याय

विदेशी व्यापार और सैन्यबल

छठा अध्याय

क्षतिपूरणकी निःसारता

सातवां अध्याय

उपनिवेशोंपर स्वामित्व

आठवां अध्याय

फ़ायदेकी जगहके लिए झगड़ा

नवां अध्याय

हालके इतिहासकी साक्षी

दूसरा भाग—मानवी-प्रकृति और आचारनीतिक पक्ष

पहला अध्याय

युद्धपक्षमें मनोवैज्ञानिक विचार

दूसरा अध्याय

शान्तिपक्षमें मनोवैज्ञानिक विचार

तीसरा अध्याय

मनुष्यका न बदलनेवाला स्वभाव

चौथा अध्याय

क्या युयुत्सु जातियां पृथिवीकी उत्तराधिकारिणी होती हैं?

पांचवां अध्याय

बलप्रयोगकी क्षीयमाणता—आध्यात्मिक परिणाम

छठा अध्याय

राष्ट्रकी व्यक्तिसे उपमा—मिथ्या दृष्टान्तके फल

तीसरा भाग—व्यवहारिक परिणाम

पहला अध्याय

बचावका चढ़ाईसे सम्बन्ध

दूसरा अध्याय

सैन्यबल आवश्यक है, किन्तु केवल सैन्यबल नहीं

तीसरा अध्याय

क्या राजनीतिक सुधार संभव है?

चौथा अध्याय

रीतियां

भारी भ्रम

पहला भाग—आर्थिक-पक्ष

पहला अध्याय

युद्ध-पक्षमें आर्थिक तर्कणाका दिग्दर्शन

ऐंग्लो-जरमन फ़ौजी लागडाटका परिणाम क्या होगा?—शान्तिके प्रयत्न क्यों व्यर्थ होते हैं—व्यर्थ होना ही क्यों उचित है—शान्तिवादियोंका भाव—इस तर्कणापर कि प्रत्येक जातिकी समृद्धि उसके राजनीतिक अधिकारपर निर्भर है, दूसरी जातियां जो अपने लाभार्थ हमारी शक्ति घटाना चाहें, उनसे रक्षाकी आवश्यकता—यही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिके व्यापक सिद्धान्त हैं।

यह बात साधारणतः मानी जाती है कि आजकल युरोपमें जो सैनिक लागडाट है—विशेषतः जैसी लागडाट इंगलैंड और जर्मनीमें चल रही है—वह अपने वर्त्तमान रूपमें निरन्तर बढ़ती नहीं जा सकती। प्रत्येक पक्ष जब दूसरेकी देखादेखी अपनी कोशिशमें पीछे नहीं हटना चाहता तो परिणाम यह होगा कि किसी निश्चित कालमें दोनों पक्षोंकी स्थिति एक दूसरेके मुकाबिले ज्योंकी त्यों बनी रहेगी और दोनोंके बड़े बड़े प्रयत्न और अर्थ-व्यय निष्प्रयोजन हो जायँगे। इंगलैण्ड और जर्मनीकी दशापर विचार करते हुए, यदि यह कहा जाय कि इंगलैण्ड अग्रसर बना रहेगा क्योंकि उसके पास धन है, तो जर्मनीकी ओरसे यह उत्तर हो सकता है कि जर्मन देश अग्रणी रहेगा क्योंकि उसके पास आबादी है, आदमी हैं, अर्थात् धन है, क्योंकि युरोपीय उन्नत और सुव्यवस्थित जातियोंमें आबादीके साथ साथ धनका बढ़ना आवश्यक है। जबतक ऐसी स्थिति बनी है, कोई पक्ष अपने विपक्षीसे हार न मानेगा क्योंकि ऐसा समझा जाता है कि हार माननेवालेको अपने विपक्षीके वशमें हो जाना पड़ेगा, और पराधीन होना कोई स्वीकार क्यों करेगा।

इस कठिनाईसे बचनेके लिए आजकल संसारमें दो उपायोंकी चर्चा हो रही है। इनमें एक तो छोटे दलका है जो दोनों देशोंमें अधिकतर विचारके पुल बाँधनेवालों और ख़याली पुलाव पकाने-वालोंका समझा जाता है। इनके विचारमें यह झगड़ा यों मिट सकता है कि दोनों पक्ष अपने अपने सैनिक बलको एकदम तोड़ दें, या कमसे कम परस्पर सन्धि करके अपने अपने सैनिक-बलको घटा कर सीमाबद्ध करदें। दूसरा उपाय बड़े दलका है जो अधिक व्यवहारसाध्य समझा जाता है। इस दलका विश्वास है कि वर्त्तमान लागडाट और बारबारकी उत्तेजनाका स्वाभाविक परिणाम घोर युद्ध होगा, जिससे कोई पक्ष हीन सिद्ध हो ही जायगा, और कमसे कम कुछ दिनोंके लिए झगड़ेका निबटारा हो जायगा। जब कभी फिर उभय पक्ष समान-बलवाले हो जायँगे, फिर यही घटनाएँ नये सिरसे आरम्भ होंगी।

मोटी रीतिसे, इस दूसरे उपायको लोग जीवनका नियम मानते हैं, जिसे साधारण साहसवाला नित्यकी बात समझता है। सब देशोंमें पहले उपायवालोंके विषयमें ऐसा विचार है कि वह मोटी मोटी बातोंको भी नहीं समझ सकते। या अपने देशकी रक्षाके विषयमें बेपरवाह मालूम होते हैं एवं एक पौरुषहीन आदर्शपर वृथा रीझे हुए हैं, और इस भरोसेपर कि हमारा होनहार वैरी ऐसा दुष्ट नहीं हो सकता कि हमपर आक्रमण करे स्वदेश-रक्षाके उपायों-को बलहीन करनेको तय्यार रहते हैं।

पौरुषवादी स्वभावतः इस बातको संघर्षनियमके विरुद्ध कहेगा। इस पृथ्वीपर जीवन-विकासके विषयमें उन्नीसवीं सदीने जो कुछ हमें सिखाया है, सबही इस जीवन-प्रयास शास्त्रको सिद्ध करनेमें खींचतान कर लाया जाता है। हमको याद दिलाया जाता है कि जो सबसे शक्तिमान होता है वही अन्तमें बच रहता है और अत्यन्त बलहीन ही नष्ट हो जाता है; निदान जड़ चेतन सबका जीवन युद्ध-मय है। अपना सैनिक-बल बढ़ाये रखनेमें जो जातियाँ अपनी गाढ़ी कमाई निछावर कर देती हैं वह अपनी रक्षा और अपने राज-नीतिक अधिकारका मानो दाम देती हैं। इंगलैण्डकी पूर्वकालीन शिल्पकला-सम्बन्धी उन्नति उसके बलके प्रभावसे समझी जाती है। उसके व्यापारका निरन्तर विस्तार तथा व्यापारियोंकी समृद्धिका कारण यह समझा जाता है कि संसारकी समस्त जातियोंपर

उसका रोब जमा हुआ है, उसकी राजनीतिक शक्तिके आगे सब सिर झुकाते हैं और सभी उसका लोहा मानते हैं। यदि पूर्वकालमें संसारके वाणिज्यपर उसका प्रभुत्व रहा है, तो उसका कारण यही है कि उसकी अपराजिता जल-सेनाका संसारके सब वाणिज्य मार्गोंपर अधिकार जमा हुआ था और आजतक जमा हुआ है। यही दलील आजकल सर्वसाधारणमें मान्य है।

और यह कि जर्मनदेश भी कुछ दिनोंसे शिल्पमें, अपने जातीय अभ्युदय और वैभवमें, लम्बे लम्बे कदम बढ़ाये प्रथम श्रेणीमें आ पहुँचा है,—इसका कारण भी वही सैनिक उन्नति और वर्द्धमान राजनीतिक शक्ति समझी जाती है जिसका प्रयोग वह धीरे धीरे युरोपीय महाद्वीपपर कर रहा है। इंगलैण्ड और जर्मनी दोनोंमें ही यह बातें स्वयंसिद्ध मानी जाती हैं जैसा कि अगले अध्यायके उद्धृत लेखोंसे यथेष्ट रीतिसे प्रकट हो जायगा। मुझको जहाँ तक मालूम है—कमसे कम वर्त्तमान राजनीतिक संसारमें—किसी प्रसिद्ध लेखकने इन बातोंपर कोई विवाद नहीं उठाया है। यहाँ तक कि वह लोग भी जो शान्तिके आन्दोलनमें अगुआ रहे हैं युद्धपक्षके नायकोंसे इन बातोंमें बिलकुल एक हैं। शान्त-सम्प्रदायके मुखिया स्टेड साहब इंग्लिस्तानके विराट नौसेना-पक्षके भी मुखिया थे। मिस्टर फ्रेड्रिक हरिसेन (Frederic Harrison) जो जीवन भर शान्तिके प्रसिद्ध दार्शनिक पक्षपाती रहे साफ़ कहते हैं कि "यदि सैनिकबल-वृद्धिमें जर्मनीको इंगलैण्ड आगे बढ़ जाने दे तो उसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि देशमें दुर्भिक्ष, समाजमें अराजकता, और शिल्प और सम्पत्तिकी दुनियामें बड़ी गड़बड़ मच जायगी। संभव है कि ब्रिटेन जीवित रह जाय,......किन्तु जितने बरसोंमें फिर शायद स्वाधीनतापूर्वक रहने लगे, उसके पहले ही उसकी आधी आबादी भूखों मर जायगी, उजड़ जायगी, और समुद्र-पारका सारा साम्राज्य रक्षाहीन होकर उसके हाथोंसे निकल जायगा।......जब हम जातीय जीवनके लिए प्राणघातक युद्ध और बड़े भयंकर अकरुण और प्रलयकारी संग्राम और वर्णनातीत क्षय और बरबादीके घोर संकटमें पड़े हों ऐसे अवसरपर व्ययापचय (खरच घटाना) शान्ति तथा भ्रातृभाव पक्षमें कैसी ही प्यारी प्यारी बातें कही जायँ निरी निरर्थक हैं।" दूसरे पक्षमें, अध्यापक फ़न-शूल्से गीफ़ेर्नित्स जैसे इंग्लिस्तानके हितैषी समालोचक यों

लिखते हैं—"हमको अपना (जर्मनीका) जल-सैन्य-बल इसलिए चाहिए कि हम इंगलैण्डके व्यापारी लागडाटको इतना न बढ़ जाने दें कि उपद्रवका कारण हो तथा जर्मनीपर आक्रमण करनेके महा-लाभदायक विचारसे अंग्रेज़ोंके शान्त चित्तको दूर रक्खें।...... जर्म्मन जल-सेना हमारी स्वाधीनता और जीवन एवं हमारी सन्तान-के कल्याणके लिए नित्यकी रोटीकी नाई नितान्त आवश्यक है।"

सभी समझ सकते हैं कि ऐसी स्थितिके सम्मुख शान्ति-वादियों-की साधारण युक्तिका पूरा खंडन हो जाता है, और वह भी एक मोटी सी बातसे। जिस पूर्वपक्षका अभी वर्णन हुआ है उसे तो वह आपही माने लेता है—यह कि राजनीतिक प्रभुत्वके समरमें विजयी पक्षको पराजित पक्षसे कुछ अर्थलाभ होता है। शान्ति-वादीको भी यह वाक्य ऐसा स्वयंसिद्ध दिखता है कि वह उसके खंडनका प्रयत्न भी नहीं करता। वह अपने पक्षका पोषण और ही तरहपर करता है। एक शान्तिवादी कहता है "निस्सन्देह, इसे कौन न मानेगा कि चोरीसे चोरको कुछ अर्थलाभ होता ही है। हमारी बहस यह है कि अगर दोनों ओरके लोग अपने समय और शक्तिको परस्पर आक्रमणमें लगानेके बदले निष्कपट और निष्पाप परि-श्रममें लगाएँ तो कभी कभीकी लूटकी अपेक्षा कहीं बढ़कर स्थायी लाभ हो सकता है।"

कोई कोई शान्तिवादी और भी बढ़ जाते हैं। उनका कथन है कि प्राकृतिक और आचार-सम्बन्धी नियमोंमें विरोध है, अतः हमें उचित है कि कुछ हानि भी सहकर आचारके ही नियमोंको आदर दें; जैसा कि मिस्टर एडवर्ड ग्रब लिखते हैं—

"जैसे आदमीके लिए आत्मरक्षा अन्तिम नियम नहीं है उसी तरह जातियोंके लिए भी स्वरक्षा ही अन्तिम नियम नहीं है।... मनुष्य-जातिकी उन्नतिके मार्गमें केवल व्यक्तियोंके नाशकी आवश्यकता नहीं होती। वरन् अन्य जातियोंके लिए प्रेरणा और उदाहरण उत्पन्न करनेको जातिभरको प्राणोत्सर्ग करना पड़ता है। खिष्टीय धर्म्मानुसार परमेश्वर जबतक चाहे तबतक हमें अपनी रक्षाके लिए धर्म्मा-चार सत्य और प्रेमकी अदृष्ट किन्तु सच्ची शक्तियोंके भरोसे रहना पड़ेगा, परन्तु यदि ईश्वरकी ऐसी ही इच्छा हो कि हम अपने जातीय जीवनको उन बड़े बड़े उद्देश्योंपर निछावर कर दें जिनकी ओर सारी सृष्टि चली जा रही है,—जैसी शिक्षा यरमियाहने पूर्वकालमें अपनी जातिको दी थी,—तो हमको उसके लिए भी कमर बांधे रहना चाहिए।

इसे कोई पागलपन भले ही कहे पर यदि यह पागलपन है तो ख्रीष्ट आदि महात्माओंका है और अगर हमारी गिनती उन्हीं पागलोंमें हो तो हम कोई हर्ज नहीं समझते।"*

ऊपरके उद्धृत अंशको वस्तुतः शान्तिके आन्दोलनका बीजमंत्र समझना चाहिए। इस कथनपर कि सेनापक्षके आन्दोलनके विरुद्ध अचारनीतिके सिवाय और उपाय सफल हो सकते हैं, कौंट टाल्स्टायने भी क्रोध प्रकाश किया था। यह बात अभी हालकी है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धमें शान्तिवादी परोपकारपर बहुत ज़ोर देता है और साथ ही साथ इस बातको स्वीकार करता जाता है कि यद्यपि आचारदृष्टिसे सफल युद्ध भी अनुचित ही है, तथापि विजयी पक्षका उद्देश्य परोपकार हो सकता है।

यही तो बात है कि वह अपनी दलीलमें युद्धकी क्रूरतापर बहुत ज़ोर देता है और उसके निर्दय और भयानक परिणामोंका बहुत सारा वर्णन कर जाता है।

सो अन्तमें बात यही सिद्ध होती है कि संसारके कारबारी एवं व्यवहारिक राजनीतिके झगड़ोंमें फँसे हुए लोग शान्तिके आदर्शको मानवी सभ्यताकी पराकाष्ठा समझने लगे हैं जो तब प्राप्त होगा जब उन्नति करते करते मनुष्यका स्वभाव मानवीके बदले दैवी वा ईश्वरीय हो जायगा। परन्तु जबतक मानवी ही रहेगा वह आदर्श अलभ्य है। अपने बाहुबलसे जबतक तनिक सा भी लाभ हो सकेगा तबतक कोई पुरुषार्थी अवसर न चूकेगा और उस अभागे पौरुष-हीनकी दैवही रक्षा करे जो अपनी रक्षा आप नहीं कर सकता।

युद्धवाद भी ऐसा कुछ न्यायहीन नृशंस और निर्दय नहीं है जैसा प्रायः कहनेमें जान पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय लागडाटके सिवाय हम जानते हैं कि संसारमें आज एक जातिके भीतर भी बलवान ही बाज़ी जीतते हैं और दुर्बलोंकी दशापर निगाह

---

* "THE TRUE WAY OF LIFE" (Headley Brothers, London) p. 20, से उद्धृत। मुझे मालूम है कि आजकलके बहुतेरे शान्तिवादी,—इंगलैंड पक्षके भी —अब साहबसे भी ज्यादा जोर देते है, परन्तु "साधारण विषयासक्त जनोंकी" दृष्टिमे शान्तिवाद स्वार्थत्यागके और परोपकारके गहरे रंगोमें रँगा हुआ है, (देखो भाग २, अध्याय ३) यद्यपि इस विषयमे फ्रांसपक्षके शान्तिवादियोका एक सराहनीय ग्रन्थ है जिसका कुछ वर्णन हमने दूसरे भागके दूसरे अध्यायमे किया है।

कम होती है। उद्यम और व्यापारमें भी युद्धसे कम निर्दयता नहीं है,—निर्दयता भी कैसी कुछ जो बहुत कालतक रहती है अधिक सभ्य है मालूम कम होती है और शायद सामान्य बुद्धि युद्धकी निर्दयताकी अपेक्षा इसे कम समझती है। कैसी ही सावधानीसे हम इस विषयका शब्दोंमें व्यक्त करें हमारा अन्तर्हृदय इस बातको जानता है कि इस संसारमें स्वार्थ साधनके लिए परस्पर झगड़े अनिवार्य्य हैं, और यह कि जो हमारे जीवनकी नित्यकी घटनाएँ हैं जब वही जगतके इतिहास-स्रोतको बदलनेवाले आसुरी संग्रामके रूपमें परिणत हो जाती हैं उस अवसरपर उनसे मुँह मोड़ना न चाहिए।

युद्धमें जो निर्दयता होती है, उसके ख्यालसे युद्ध विरुद्ध होना उचित है वा नहीं, इस विषयमें पुरुषार्थीको सन्देह होता ही है। वीर-हृदय दुःख और मृत्युको कुछ नहीं समझता और धनोपार्जन जैसी सूखी बनियईमें भी जानकी जोखिमके लिए हमलोग तैयार रहते ही हैं। रेलोंके कभी कभी लड़ जानेसे या जहाज़ोंके कभी कभी डूब जानेसे कोई सफ़र करना छोड़ नहीं देता। योंही और भी समझना चाहिए। सच तो यह है कि शान्त उद्योगोंमें युद्धकी अपेक्षा कहीं अधिक प्राणोंको समर्पण करना होता है। रेल निकालनेमें, जलमें सीपी आदिके शिकारमें, धातु और कोयलोंकी खानोंमें, मल्लाही आदिमें जो मौतें होती हैं उनकी रिपोर्टोंसे यह बात भली भाँति सिद्ध होती है। ह्वेल और काड मछलियोंके शिकारमें और नौकाके काम जैसे शान्त उद्योगोंमें कुछ कम क्रूरता नहीं होती।* गरम मुल्कोंमें हमारे शान्त राज्यशासनसे अच्छे

---

* माटिन [फ्रेंच प्रभात] समाचारपत्रने कई लोमहर्षण बातें प्रकाशित की हैं। कहते हैं कि एक फ्रेंच काड-शिकारकी नौकाके स्वामीने किसी ओछेसे अपराधपर [Cabin = नौका-कोष्ठ] केबिनवाले टहलूका पेट फाड़कर जीते ही उसकी आंतोंमें नमक भर दिया और उसके कम्पायमान शरीरको नावकी उस तलीमें डाल दिया जहां काड मार मार कर जमा करते थे। नावके और मल्लाहोंको नित्यकी क्रूरताने ऐसा निठुर कर दिया था कि इस अत्याचारके विरुद्ध उन्होंने बहुत कुछ नहीं कहा, वरन् यह बात भी महीनों पीछे शराबखानेकी गपशपमें खुली। माटिनकी रायमें ऐसे अत्याचार (New Foundland) निउफौंडलैंडके काड-शिकारमें नित्य होते रहते हैं।

इसी तरह जर्मन सोश्यलिस्ट पत्रोंने "उद्योग रणस्थलकी घटनाएँ" शीर्षक लेखोंमें १८७१ ई०की उद्योग-घटनाओंसे—अर्थात् शान्तिके समयमें—जो जाने गयी हैं उनकी संख्या फ्रांस-जर्मनी-युद्धकी अपेक्षा कहीं अधिक दिखलायी है।

अच्छे आदमियोंके स्वास्थ्य और जीवनकी हानि हो रही है, और अधिकतः पश्चिमीय अफ्रिकाकी भाँति प्रजाका आचार विचार और चरित्र इतना बिगड़ा जा रहा है जितना युद्धके कारण कभी न बिगड़ता।

शान्तिदेवीके इन बलिदानोंके आगे लड़ाईके तावानकी, क्षति-पूरणकी, क्या गिनती है? और ऐसा समझा जाता है कि यदि देशकी पूरी अर्थरक्षाके लिए ऐसे बलिदानों की आवश्यकता हो तो जिनके हाथोंमें देशकी भलाई है उन लोगोंको हिचकना न चाहिए। अपनी दशा सुधारने तथा अपनी आमदनी बढ़ानेके लिए, ऐसी तुच्छ बातोंमें जब साधारण मनुष्य बीसों भयंकर व्यापारों और पेशोंको अंगीकार करके अपनी जानको जोखिममें डालता है, तब वह राज्यनेता जिसके हाथोंमें देशके बड़े बड़े काम सौंपे गये हैं उन कामोंमें सफलता और उन्नतिके लिए आवश्यकतानुसार युद्धके बलिदानोंसे क्यों हिचकेगा? यदि यह सत्य है—और शान्तिवादीकी रायमें भी सत्य हो सकता है—कि युद्धसे किसी जातिका सुस्पष्ट अर्थलाभ वा वृद्धि संभव है, अर्थात् यदि मानव जातिकी अर्थरक्षामें युद्धसे बहुत कुछ सहायता मिल सकती है, तो उचित ही है कि वीर जातिके शासक लोग युद्धसंभूत दुःखों तथा बलिदानोंकी परवाह न करें।

शान्तिवादी स्वभावतः इसी आचार-नीतिका प्रमाण देता है कि हमको छीन लेनेका कोई अधिकार नहीं है। इसमें भी साधारण मोटी बुद्धि शान्तिवादीकी अनुगामिनी नहीं होती। यदि अपने कम शक्तिवाले स्पर्द्धीसे बढ़ जानेके लिए कोई शिल्पकार धन तथा उद्योग-सम्बन्धी जितने उपायोंसे चाहे लाभ उठानेका पूरा अधिकारी है—आजकलकी औद्योगिक व्यवस्थामें जितना उसका अधिकार है उसके बलसे यदि वह बहुत सा धन लगाकर, उत्तम और पूर्ण व्यवस्थित कारखानोंसे विज्ञापनोंसे बहुसंख्यक बेंचनेवालोंसे तथा अन्य उपा-योंसे ऐसे व्यापारको अपनी मुट्ठीमें कर ले जिससे गरीबोंकी रोजी चलती थी—तो फिर कोई देश अपने अन्य स्पर्द्धी देशोंसे इसी तरह लागडाटमें अपने लोक-समुदायकी प्रबल शक्तिद्वारा बढ़ जानेका अधिकारी क्यों न समझा जाय? औद्योगिक स्पर्द्धामें तो यह एक मामूली सी बात है कि दूसरेकी जड़ उखाड़ने तथा ज्यादा सस्ता बेचनेमें भारी भारी व्यापार छोटे व्यापारियोंकी ज़रा सी

कच्चाईसे—यहाँ तक कि तंगहाली और बीमारीसे भी—फ़ायदा उठानेमें नहीं चूकते। यदि यह सच्ची बात होती कि औद्योगिक स्पर्द्धा सर्वदा दयाशील ही होती है और जातीय तथा राजनीतिक स्पर्द्धा सदैव दयाहीन ही होती है, तो शान्तिवादीका प्रमाण निर्विवाद सिद्ध हो जाता। पर यह तो स्पष्ट है कि यह सच्ची नहीं है, और जैसा हम पहले कह आये साधारण मनुष्य जैसी स्थिति संसारको पाता है वैसा ही उसे मानता है—कि किसी न किसी तरहके झगड़े रगड़े बिना जीवन निर्वाह हो ही नहीं सकता—और इस स्थितिको उसने बनी बनायी पाया, उसने स्वयं नहीं बनाया। और यह भी उसके निकट सिद्ध नहीं है कि सारी सृष्टिमें जो झगड़ा रगड़ा वा जीवनप्रयास व्याप रहा है, ससैन्य युद्ध उसका अत्यन्त ही क्रूर और घोर रूप है। कुछ भी हो वह जोखिममें पड़नेको इसीलिए उद्यत रहता है कि उसकी समझमें सेनाकी प्रवलतासे उसे वास्तविक और सुस्पष्ट लाभ अवश्य होगा—ऐसा लाभ जिससे व्यापार बढ़ जाय, क्रय विक्रयके लिए बड़ी बड़ी हाट अपने हाथ आ जाय, व्यापार-स्पर्द्धियोंकी चढ़ा ऊपरीसे रक्षा रहे, निदान ऐसेही ऐसे लाभोंसे साधारण लोक-समुदाय अधिक सुखी रहे। युद्धकी जोखिममें वह उसी साहससे पड़ जाता है जिस साहससे केवट वा माँझी डूबनेकी जोखिममें पड़ता है, वा खानि-वाला खानिके भकसे उड़ा देनेवाली हवाकी परवा नहीं करता, वा डाक्टर लगनी बीमारियोंमें मृत्युका सामना करता है; क्योंकि अपने आपको और अपने लोगोंको तंगहाली और नीच श्रेणीमें पूरी सलामतीमें बनाये रहनेकी अपेक्षा इन सबके विचारमें अपनी जानको भी जोखिममें डालना श्रेयष्कर है। उसके मनमें यह भी प्रश्न उठता है कि क्या नीच श्रेणीमें एकदम कोई जोखिम ही नहीं है। संसारकी जीवन-व्यवस्थासे यदि वह अभिज्ञ है तो वह अवश्य जानता है कि अनेक दशाओंमें साहसका मार्गही अधिक निर्भय है।

और यही कारण है कि शान्तिका आन्दोलन बिल्कुल निष्फल रहा और यही बात है कि युरोपीय देशोंका लोकमत—अपनी अपनी सरकारमें सेना बढ़ानेकी प्रवृत्तिको रोकना तो दूर रहा—अपने अपने शासकोंको कमखर्चके बदले अधिक खर्चकी ओर प्रवृत्त कर रहा है। लोक-समुदायके देखनेमें संसारमें यह बात निर्विवाद मान

ली गयी है कि "जातीय शक्ति" जातीय सम्पत्तिका और जातीय लाभका बोधक है; राज्यकी वृद्धिसे उद्योगकी वृद्धिका अधिक अवसर मिलेगा; शक्तिशाली देश अपने नागरिकोंके लिए ऐसे ऐसे साधन प्रस्तुत कर सकता है जो कम शक्तिवाले देशमें संभव नहीं हैं। अंग्रेजका यह विश्वास है कि उसकी सम्पत्ति अधिकांशमें उसकी राजनीतिक शक्ति उसकी राजनीतिक प्रबलता तथा प्रधानतः उसके समुद्रबलका फल है; यह कि जर्मनीको अपनी बढ़ती हुई जन-संख्याके कारण इतना स्थानावरोध होगा कि उसे इंच इंचके लिए लड़ना पड़ेगा। ऐसी दशामें यदि अंग्रेज अपना बचाव न करेगा तो जीवन-प्रयासका दृष्टान्त बनाकर वैरी उसे चट कर जायगा। और स्वभावसे ही अंग्रेज चटनी बननेकी अपेक्षा चट करनेवाला बनना अधिक पसन्द करता है। जब यह बात मानी जाती है कि जहाँ शक्ति बल और जातीय महत्व है वहीं लक्ष्मी सम्पत्ति और सुख भी है, तो वह विना जबरदस्ती किये परमार्थके नामसे भी जबतक हो सके तबतक उस बल शक्ति और जातीय महत्वसे एक रत्तीभर नहीं देना चाहेगा। और उसके न देनेका कारण यह है कि यदि वह दे भी दे तो फल यह होगा कि ब्रिटिश बल और महत्वकी जगह किसी और जातिका बल और महत्व जम जायगा, और अंग्रेजका विश्वास है कि वह जाति भी संसारको सभ्यता और सुखकी वृद्धि ज्यादासे ज्यादा उतनी ही कर सकेगी जितनी अंग्रेज स्वयं करनेको तैयार है। उसको ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वह कारबार वा शिल्पमें अपने स्पर्धीसे दब नहीं सकता उसी तरह वह सेनाकी लागडाटमें भी किसीसे पीछे नहीं हट सकता और जैसी स्थितिमें वह अपने आपको पाता है उसीमें उसे लड़कर अपने त्राणको प्राप्त करना होगा, क्योंकि इस स्थितिको न तो उसने पैदा किया और न बदल सकता है।

उसके पूर्वापर पक्षोंको मानते हुए,—और यह पूर्वापर पक्ष सारे संसारकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिमें सर्वमत और स्वयंसिद्ध समझे जाते हैं,—कौन कह सकता है कि उसका विचार भ्रममूलक है?

दूसरा अध्याय

आधुनिक राज्यकौशलके सर्वमत सिद्धान्त

क्या पूर्वोक्त युक्तियां निर्विवाद हैं?—उनका कुछ नमूना—जर्मनोंकी विजयकल्पना—इंगलैंडपर आक्रमण और ब्रिटिश सेनाकी पराजयपर फ्रेडरिक हरिसनका मत—चार करोड़ मनुष्यका भूखों मरना।

किन्तु क्या यह सर्वमत युक्तियां निर्विवाद हैं?

क्या सचमुच सैन्यबलपर ही ऐश्वर्य्य समृद्धि और कल्याण निर्भर है, अथवा क्या इनमें परस्पर सम्बन्ध आवश्यक है?

क्या यह सत्य है कि एक सभ्य जाति दूसरीको जीतकर कोई आर्थिक वा मानसिक लाभ उठा सकती है?

क्या दूसरी जातियोंपर बरबस हुकूमत चलानेकी योग्यता पाकर किसी जातिको आर्थिक वा व्यावहारिक लाभ हो सकता है?

क्या किसी अन्य देशसे आर्थिक सम्पत्ति किसी भाँति छीन लेना किसी देशके लिए संभव है?

क्या किसी और जातिके देशको अपनी मिलकियत बना लेना सचमुच संभव है?—मिलकियत बना लेनेसे अभिप्राय है "ऐसा स्वत्वाधिकार जमाना, जिससे शासक और विजयी देशके प्रत्येक नागरिकको लाभ पहुँच सके"।

यदि इंगलैंड जर्मनीको कल जीत ले,—ऐसा पूर्ण विजयलाभ करे कि उसकी जातीयताको सचमुच धूलमें मिला दे,—तो क्या साधारण ब्रिटिश प्रजाका अधिक कल्याण होगा?

यदि जर्मनी इंगलैंडको जीत ले तो क्या साधारण जर्मन प्रजाका अधिक कल्याण होगा?

इन सब प्रश्नोंके उत्तरमें हमको "नहीं" कहना है, और इनके उत्तरमें "नहीं" कहना साधारण बुद्धिके कितना विरुद्ध प्रतीत होता है। इससे ही स्पष्ट होगा कि हमारी राजनीतिक स्वयंसिद्ध युक्तियोंके पुनःशोधनकी कितनी आवश्यकता है।

इस विषयपर जितने लेख और ग्रंथ देखिए सबसे यही निश्चय होगा कि पहले अध्यायमें इस विषयकी युक्तियोंका मैंने शुद्ध शुद्ध

रूपमें उल्लेख किया है। जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें राजनीति विशारद माने जाते हैं,—अरस्तू[1] और अफ़लातूनें[2] से लेकर, मखवेल्ली[3] (Machiavelli) तथा क्लवजीवीच्छ[4] (Clausewitz)को लेते हुए मिस्टर रूसवल्ट और जर्मनसम्राटतक शासननीतिदक्षोंने हमारे लिए इस विषयमें कोई सन्देहकी बात नहीं छोड़ी है। दो प्रसिद्ध लेखकोंने बड़ी चतुरतासे इस पूरे विषयको संक्षेपमें कह दिया है। एँग्लो-सक्सन पक्षमें अमीराल महान (Admiral Mahan) और जर्मन पक्षमें वरेण्य कराल फ़न स्टेंगेल (Baron Karl von Stengel) जो हेगकी पहली पंचायतमें जर्म्मन प्रतिनिधि नियुक्त हुए थे। अमीराल महानका कथन है कि—

---

१ अरस्तू एक प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक और राजनीति-विशारद था। ईसा के ३८४ वर्ष पूर्व मकदूनियाकी स्तगिरा-पुरीमे उत्पन्न हुआ था। १८ वर्षकी अवस्थामे अफलातूनका शिष्य हुआ और १५ वर्षतक उससे शिक्षा पायी। राजा फिलिपने उसकी विद्यापर मुग्ध हो अपने पुत्र सिकन्दरका शिक्षक बनाया। अरस्तूसे ही सिकन्दरने और विषयोंके सिवा राजनीतिकी भी शिक्षा पायी थी। (अनुवादक)

२ अफलातून अरस्तूका गुरु एवं प्रसिद्ध दार्शनिक तथा राजनीतिशास्त्री था। ईसाके ४३० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुआ। सुक्रतु (Socrates) नामक बड़े गंभीर दार्शनिकका शिष्य हुआ। अपने गुरुकी मृत्युके पीछे देश देशमें पर्य्यटन करके सब तरहकी विद्याओंमे निष्णात हो गया। इसने सिसिलीके राजा दिवानस्यूसको (Dionysius) राजनीतिकी शिक्षा दी थी। इसके अतिरिक्त बहुतेरे और राज्योंने इसके आदेशानुसार अपना प्रबन्ध किया था और कानून बनाये थे। इक्यासी वर्षकी अवस्थामें इसका देहान्त हुआ। (अनुवादक)

३ Machiavelli मखवल्ली इटली देशके फ़्लोरेंस नगरमे एक उच्चकुलमे उत्पन्न हुआ था। सोलहवीं सदी ईसवीके राजनीतिज्ञोंमें यह प्रधान माना जाता है। इसके राजनीति ग्रंथ The Prince का खंडन मंडन अनेक प्रसिद्ध लेखकोंने किया है। (अनुवादक)

४ Karl von Clausewitz कराल फ़न क्लवजीवीच्छ [१७८०–१८३१] वस्तुतः पोल जातिका था किन्तु इसके माता पिता जर्म्मनीमे बस गये वहीं जन्म हुआ, शिक्षा पायी और धीरे धीरे जर्म्मनीमें प्रधान सेना-नायकके पदतक पहुँचा। नेपोलियनसे जब जब जर्म्मनोंसे युद्ध हुआ क्लवजीवीच्छका पराक्रम बराबर स्तुत्य रहा। वाटरलूकी लडाईमे जिसमें नेपोलियन पराजित हुआ अंग्रेजोंकी सहायक जर्म्मनसेना क्लवजीवीच्छके ही नेतृत्वमें थी। इतिहास और युद्ध-विद्यापर इसके ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। युद्धशास्त्रपर युरोपभरमे इसका ग्रथ प्रमाण माना जाता है एवं पाठ्य पुस्तकोंमे है। इसके ग्रंथ "Vom Kriege" का कई भाषाओंमें अनुवाद हुआ है। अंग्रेजी अनुवाद भी प्राप्य है। (Graham, On War, London, 1873.) —(अनुवादक)

'जेहि बल होइ सो लइ' वाली पुराने जमानेकी स्वाभाविक बुद्धि अबतक बनी हुई है .....और जबतक बाहुबलकी सहायता न हो कोरी आचारनीतिके बलसे कोई यह अन्दाजा नहीं कर सकता कि किसी कार्य्यका क्या परिणाम होगा। गवर्नमेंट जनसमुदायकी वा राज्यकी पंचायत वा समाज है—यह शरीरमात्र है, इसमें सदसद्विचारसम्पन्न आत्मा नहीं है। अन्यच्च गवर्नमेंटके ऊपर प्रजाकी रक्षाका भार है और इस जिम्मेदारीकी दृष्टिसे उसका धर्म्म है कि वह अपनी प्रजाके समुचित स्वार्थका ध्यान सबसे पहले रक्खे। जर्मनीको इस बातकी जरूरत है कि विदेशसे कच्चामाल अधिकाधिक अवश्य आता रहे और यथाशक्ति ऐसे माल पैदा करनेवाले देशोंपर दवाव भी रहे। बने मालकी बिक्रीके लिए अधिकाधिक हाट भी उसे चाहिये, सो भी बेदाग, और सुरक्षित रीतिसे भोज्यपदार्थ भी देसावरसे अधिकाधिक आते ही रहें क्योंकि उसकी वेगसे बढ़ती हुई प्रजाके लिए दिनों दिन स्वदेशी पैदावार अपर्य्याप्त ही होती जाती है। इन सब बातोंसे यही अर्थ निकलता है कि उसका जलमार्गका व्यापार बेरोकटोक रहे।......तथापि युरोपीय समुद्रोंमें ब्रिटिश प्रबलता सदाके लिए जर्मन-व्यापारपर गुप्त दबावका बोधक है। संसारमें ब्रिटेनके नामके साथ साथ प्रबल नाविकशक्तिकी कल्पना बहुत कालसे स्वाभाविक सी हो गयी है और यह बात भी समझ ली गयी है कि जिसके हाथ इस शक्तिकी प्रबलता आयेगी उसीका व्यापार और शिल्प प्रबल रहेगा। इसीका झगड़ा इंगलैंड और जर्मनीमें परस्पर चल रहा है। ऐसे प्रभुत्वसे लाचार हो अधिकाधिक हाटोंकी चाट पड़ जाती है और जहां बन पड़े अपनी प्रबल शक्तिसे स्वार्थलाभके लिए उनपर अपना अधिकार जमा लेनेकी ही प्रवृत्ति होती है और इस प्रवृत्तिका अन्तमें स्वत्वाधिकार ही अर्थ होता है।......इससे दो परिणाम निकलते हैं, एक तो अपने हाथमें करलेनेका प्रयत्न, दूसरे प्राप्त करलेनेपर उसे अपने अधिकारमें बनाये रहनेके लिए सेनाकी व्यवस्था।......जिस साधारण आवश्यकताका वर्णन किया गया है उपर्युक्त कथन केवल उसके लिए नियम-विशेष समझना चाहिए जो हमारे तर्कणा-क्रममें शिल्प, हाट, अधिकार और नाविकशक्तिके साथ ही साथ एक अपरिहार्य्य श्रृङ्खला है।*

यह किसी व्यक्तिका मत-विशेष नहीं है वरन युरोपके उस साधारण लोकमतको प्रकट करता है,—उस महान जनसमुदायका मत,—जो अपने शासकोंको अपनी राहपर चलाता और उनकी राजनीतिक युक्तियोंकी व्याख्या करता है। इसको विशेषरूपसे

---

*"The Interest of America in International Conditions," Sampson Low, Marston and Co., London.

सिद्ध करनेके लिए जो सामयिक समाचारपत्र और समालोचनाएँ मेरे पास मौजूद हैं उनसे थोड़ा थोड़ा उद्धृत करता हूँ।

ब्रिटिश साम्राज्य और उसके व्यापारकी वृद्धिका कारण हमारी जलसेनाकी शूरता... और समुद्रमें हमारा प्रभुत्व ही है—(टैम्सका सम्पादकीय लेख।)

ब्रिटेनको एक बड़ा शक्तिसम्पन्न जहाजी बेड़ा चाहिये, उस बेड़ेकी सहायतामें पूरी व्यवस्था की और मुकाबिलेके लिए एक बड़ी सेनाकी आवश्यकता है क्योंकि ब्रिटिश व्यापार अत्यन्त भयानक दशामें है और ब्रिटिश प्रजाकी जीविका उसी व्यापारपर निर्भर है। जबतक इसका बन्दोवस्त न हो जाय बराबर इस देशको उन जर्म्मन ड्रेडनाटोंके वर्धमान बेड़ेसे जिन्होंने उत्तर समुद्रको (North Sea) अपना घर सा बना लिया है बड़ा डर बना रहेगा। (ऐसा न होनेसे) कोई नहीं जानता कि कल क्या होगा; शिल्प और व्यापार शीघ्रतासे घट जायगा, जिससे ब्रिटिश जातीयताकी अवनति और अधःपतनके दिन निकट आ जायँगे। (H. W. Wilson in the National Review, May 1909.)

"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें जर्मनीके अग्रणी हो जानेमें समुद्र-शक्तिही एक बड़ी रुकावट है। अभी जर्मनी संसारके उन हाटोंमें, जो युरोप और (United States) संयुक्त राज्योंके बाहर हैं, केवल पछत्तर करोड़ रुपयेका माल, या अपने देसकी कुल पैदावारका सप्तम भाग मात्र भेजता है। जो लोग इस विषयको समझते हैं उनमें क्या ऐसा भी कोई है जो सोचता है कि ब्रिटेनके समुद्रपारवाले छत्तिस अरब रुपयेके व्यापारमें अन्ततः हिस्सा लेनेके लिए युद्धसे जर्मनीको रोकनेवाला जर्मनीमें वा संसारमें ही कोई शक्ति है? यहाँ हम उस वास्तविक पिशाचको प्रकट करते हैं जो आजकलकी राजनीतिक चालोंके पीछे पीछे लगा हुआ है। यही वह पिशाच है जो नाविकशक्तिके नये झगड़ोंके लिए आजकल भारी भारी सेना प्रस्तुत करनेमें लगा हुआ है"–(Mr. Benjamin Kidd in the Fortnightly Review, April 1, 1910.)

जबतक पृथिवीतलकी समस्त जातियां एकमत होकर स्वार्थकामनाओंको छोड़ न दें, सैन्यबलको सीमाबद्ध करनेकी बातचीत व्यर्थ है। ... व्यक्तियोंकी भांति जातियांभी विशेषकर अपना ही स्वार्थ देखती हैं और जब एकका स्वार्थ दूसरेसे टकराता है लड़ाई हो जाना स्वाभाविक ही है। जिस पक्षको दुःख दिया गया है यदि कमजोर है तो साधारणतः हार ही जाता है चाहे न्याय और धर्म उसके पक्षमें कितना ही क्यों न हो, और बलवान अपनी ही बात रखता है चाहे निर्बलने दुःख पहुंचाया हो या न पहुंचाया हो। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिमें, "पहले घरमें दिया जलाकर फिर मसजिदमें जलाना चाहिए" वाली कहावत चरितार्थ होती है,

और यह उचित भी है, क्योंकि राजनीतिज्ञका परमधर्म यही है कि अपने देशकी भलाईको सबसे पहले सोचे।" (United Service Magazine. May, 1909.)

जर्म्मनी ब्रिटेनपर चढ़ाई क्यों करे? क्योंकि जर्मनी और ब्रिटेन राजनीतिक और व्यापारी स्पर्धी हैं, क्योंकि जर्मनीको ब्रिटेनके व्यापार, उपनिवेश, और साम्राज्यकी लालच है।" (Robert Blatchford, Germany and England,"p.4.)

ब्रिटेन और उसकी आजकलकी आबादीका जीवन उसके देशान्तरके व्यापार-पर और सारे संसारकी बाहरी सौदागरीपर जो उसका प्रभुत्व है उसपर निर्भर है। यदि युद्धमें पराजय हो तो यह दोनों किसी औरके हाथमें चले जायँगे और अधिकांश श्रमजीवी भूखों मर जायँगे। (T. G. Martin in *the World.*)

यदि हम अपने समुद्रतीरकी रक्षा न कर सके तो समझना चाहिए कि हमने अपने अतुल धनको लुट जानेके लिए अरक्षित छोड़ दिया; और हमें निश्चित रूपसे समझ लेना चाहिए कि यह माल ऐसे किसी बलवानके मुखमें जायगा जो हमारा मुकाबला अच्छी तरह कर सकेगा और हमारा एक बड़ा अंश चट कर ले जायगा।" [The Speaker in the House of Commons in a Speech at Greystoke, reported by the Times.]

"मधुमक्खीके छातेके लिए जो लाभ है वह मधुमक्खीके लिए भी लाभ है। राज्यको जिस किसी उपायसे उर्वरा भूमि, नये घाट, शिल्पी देश मिलें, उसकी प्रजा मात्रको लाभ ही होगा, तथा प्रत्येक व्यक्तिको लाभ होगा।" [Mr. Douglas Owen in a letter to the *Economist*, May 28, 1910.]

"याद रक्खो कि लड़ाईमें अन्तर्राष्ट्रीय कायदा कानून कोई चीज नहीं है और अरक्षित धन जहाँ खुले खजाने मिलैगा लूट लिया जायगा, चाहे वह किसी जौहरीकी खिड़कीकी टूटी काँचकी राह हो, चाहे वह किसी परोपकारवादी भलामानस केल्टकी नाममात्रकी रक्षासे छीन लिया जाय।" [Referee, November 14, 1909]

मालूम होता है कि हमलोग वह मूल तत्व भूल गये—जिसको त्रिकालका इतिहास मानता है—कि योद्धाजाति ही भूमिकी स्वत्वाधिकारिणी है, और जीवन प्रयासके अनन्त संग्राममें प्रकृतिमाता सबसे योग्यको ही जीवित रखती है।... सैन्यबल तोड़नेकी हमारी उत्कट इच्छा, दयालु अन्तरात्माके प्रति हमारा भक्तिभाव, और हमारा तोतेकी भाँति यही रट रटना कि "ब्रिटिश राजका सबसे उच्च उद्देश्य शान्ति है"—...इन सबसे उन लोगोंके हृदयमें, जो हमारे धन और ऐश्वर्य्यपर दांत लगाये बैठे हैं, अवश्य ही यह उत्कंठा होगी, कि ब्रिटिश साम्राज्यके हृदय अरक्षित लंडनमें शीघ्र प्राणघातक छुरी भोंक दें।"—[Blackwoods' Magazine, May, 1909]

यह तो अंग्रेजोंकी ओरसे उद्धृत किया गया। परन्तु युरोपके अन्य जातियोंका मत भी उनसे उन्नीस नहीं है।

अमीराल महान और उन्हींके पक्षके दूसरे एंग्लो-सक्सनोंकी प्रतिमूर्त्ति प्रत्येक युरोपीय देशमें, विशेषतः जर्म्मनीमें, मिलती है। वरेण्य कराल फ़न स्टेंगेल जैसे उदार राजनीति-विशारद, जो हेगकी पहली पंचायतमें जर्मनीके प्रतिनिधि थे, अपने ग्रन्थमें यों लिखते हैं—

"प्रत्येक बड़ी राज्यशक्तिको चाहिये कि उच्चसे उच्च प्रभाव जमानेका पूरा प्रयत्न करे, न केवल युरोपीय प्रत्युत समस्त संसारकी राजनीतिपर,—और यह मुख्यतः इसलिए कि आर्थिकबल अन्तको राजनीतिक शक्तिपर ही निर्भर है और इसलिए भी कि प्रत्येक जातिके लिए संसारके वाणिज्यमें अधिकसे अधिक भाग लेना बहुत बड़ा उद्देश्य और गंभीर प्रश्न है।"

क्लवजीवीच्छ जैसे पुराने प्रमाण भी ऐसे ही मतको दृढ़ करते हैं और "विश्व राजनीति"-विषयक लोकप्रिय जर्म्मन साहित्यसे भी यही प्रतिध्वनि निकलती है। (Navy League) नाविक-संघके सभापति, महा-अमीराल फ़न कोष्टर लिखते हैं—

"अपनी निरन्तर बढ़ती हुई आबादीसे लाचार होकर हमें समुन्द्रान्तर व्यापार-वृद्धिकी ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। समस्त समुद्रोंमें स्वतंत्र व्यापार और अधिकार प्राप्त करना हमारे लिए नितान्त आवश्यक है और यह अपने नाविक व्यवस्थाके कार्य्यक्रमको दृढ़तापूर्वक निबाहे विना संभव नहीं है। अपनी वर्धमान जनसंख्यासे विवश होकर हमको नये नये उद्देश्य स्थिर करने होंगे और महाद्वीपीय शक्तिसे बढ़ते बढ़ते सार्वभौम शक्ति बनना ही पड़ेगा। हमारी महती शिल्पकलाको समुद्रपारके नये देशोंकी विजयवाञ्छा करनी होगी। हमारा जगद्व्यापी व्यापार—जो गत बीस बरसमें दूनेसे भी बढ़ गया है और जो हमारे नाविक कार्य्यक्रम स्थिर करनेके दस बरसके भीतर ही साढ़े सात अरबसे बारह अरब रुपयोंतक पहुंचा है, जिसमें नव अरबका सामुद्रिक व्यापार है,—यह व्यापार तभी बना रहेगा जब हम जल स्थल दोनोंमें ही प्रतिष्ठापूर्वक अपने सैन्यबलका बोझा उठाये रहें और सहे जायँ। सम्प्रति अन्य जातियोंके बीचमें अपनी सार्वभौम शक्ति और पदवीको सुरक्षित रखना हमारा धर्म्म है, जिसे पालन न करनेपर हमारी सन्तान हमें अदूरदर्शिता-का दोष अवश्य लगावेगी। यह धर्म्मपालन हम जर्म्मनीके शक्तिसम्पन्न जहाजी बेड़ेकी रक्षामें ही कर सकते हैं—और बेड़ा भी ऐसा हो कि दूरवर्ती भविष्यतमें भी हमारी शान्ति और प्रतिष्ठाको अवश्य सुदृढ़ और सुरक्षित रक्खे।

एक प्रसिद्ध जर्म्मन लेखककी कल्पनामें चौबीस घण्टेके भीतर ही "ब्रिटिश साम्राज्यको चौपटकर डालना" और "पृथ्वीके नक़शेसे एकदम मिटा देना" संभव है। (मैं उसके मूलशब्दोंको उद्धृत कर रहा हूं और एक गंभीर अंग्रेज राजपुरुषके मुखसे प्रायः इसका उलटा सुन चुका हूँ।) इस लेखकने यह दिखलानेको कि यह सब कैसे संभव है, अनागतदर्शीकी नाईं इस विषयका उल्लेख किया है। सन् १९११ ईसवीकी* दृष्टिसे लेखक यह मानता है कि—

बीसवीं शताब्दीके प्रारंभमें ग्रेट-ब्रिटेन एक स्वाधीन ऐश्वर्य्य और सुखसम्पन्न देश था जिसमें महामंत्रीसे लेकर घाटके मज़दूरतक, प्रत्येक नागरिकको यह गौरव था कि मैं भूमंडलपर राज्य करनेवाली जातिका एक अंग हूं। राज्यके अग्रणी ऐसे लोग थे जिनको राज्य कार्य्यक्रम निर्वाहके लिए प्रजादत्त अधिकार था जिनकी कार्य्यवाहीकी आलोचना लोकमत करता था जिसका प्रकाश स्वतंत्र समाचारपत्रों द्वारा होता था। कई शताब्दीसे स्वराज्य शिक्षा पाते पाते एक ऐसी जाति बन गयी थी जो मानों राज्य करनेको ही जन्मी थी। प्रजाओंके प्रति व्यवहारमें और राज्यशासनकलामें इंगलैंडका कौशल और चातुर्य्य उसके परमोल्लासका कारण था।......और इस महान साम्राज्यका, जो केपसे काहिरातक, एशियाका दक्षिणीय अर्द्धभूभागपर, उत्तरीय अमेरिकाके अर्द्धभूभागपर, और समस्त पंचम महाद्वीपपर विस्तृत था, चौबीस घंटेके भीतर ही इसका नाम पृथिवीके नकशेसे एकदम मिटा देना संभव हो गया! ऊपरसे यह घटना समझमें नहीं आती, किन्तु यदि हम उन स्थितियोंपर दृष्टि रक्खें जिनसे इंगलैंडकी उपनिवेश-शक्तिका निर्म्माण संभव हो गया तो समझमें आ जायगी। उसके जगद्व्यापी प्रभुत्वका आधार उसका अपना बल नहीं था, किन्तु अन्य युरोपीय जातियोंकी नाविक दुर्बलता थी। उनके नाविक व्यवस्थाकी दुर्बलता वा अत्यन्त अभावसे अंग्रेजोंको सर्वग्राही अधिकार सा मिल गया जिसके द्वारा उन्होंने जो जो देश लाभदायक समझ पड़े ले लिया। यदि यह इंगलैंडके बसका होता कि संसारके और सब देश उसी दशामें बने रहें जैसे वे उन्नीसवीं शताब्दीमें थे, तो ब्रिटिश साम्राज्य अनन्तकालतक स्थिर रहता। युरोप महाद्वीपके राज्योंमें अपनी अपनी जातीय सम्भाव्यता और उपपत्तिकी ओर और राजनीतिक स्वाधीनताकी ओर जागृतिसे जगद्राजनीतिमें नयी शक्तियोंका, नये अंगोंका, आविर्भाव हुआ और केवल समयका प्रश्न रह गया था कि संसारकी

* अर्थात, यह सब १९११ ईसवीके पहले ही हो जाना चाहिये था। [यह पुस्तक कई वर्ष पहले प्रकाशित हो चुकी थी।] इसका प्रतिरूप अंग्रेजी समाचारपत्रोंके उस क्षुद्रलेखमें मिलता है, जो कुछ वर्ष पहले "१९१० का जर्म्मन आक्रमण" के नामसे प्रकाशित हुआ था।

दशामें ऐसा परिवर्त्तन हो जानेपर इंगलैंड कबतक अपनी स्थितिको स्थिर रख सकेगा।"

और लेखक आगे जाकर बतलाता है कि कैसी चाल चली गयी,—कुहरकी कृपा, सुगठित जासूसी, अंग्रेजी युद्ध-गुबारेका फट जाना, और जर्मनीवालेका सफलतापूर्वक ठीक सोचे हुए मौकेपर उत्तरीय समुद्रमें ब्रिटिश जहाजोंपर गोले बरसाना—

"यह युद्ध, जिसका अन्त केवल एक घण्टेके जलयुद्धमें हो गया, केवल तीन सप्ताहका था। क्षुधासे विवश हो इंगलैंडको सुलह करना पड़ा। सुलहनामेकी प्रतिज्ञाओंमें जर्म्मनीने धीरतापूर्वक थोड़ेपर ही सन्तोष प्रकट किया। दोनों पराजित राज्योंकी सम्पत्तिके परिमाणसे जितना क्षतिपूरण उचित था, उसे लेनेके सिवाय जर्मनीने केवल अफ्रिकाके उपनिवेशोंकी प्राप्तिपर ही सन्तोष किया। इनमें भी दक्षिणके उपनिवेश पहलेसे ही स्वतंत्र होजानेके कारण छूट गये। इन लाभोंमेंसे गुट्टकी और दो शक्तियोंको भी बांटना पड़ा। कुछ भी हो, इस युद्धसे इंगलैंडकी तो इतिश्री हो गयी। एक लड़ाईमें हार जानेसे सारे संसारके निकट यह प्रकाशित हो गया कि इस विशाल विकट मूर्तिके [जो आज धूलि धूसरित हो रही है] आधाररूप चरण बालूके थे। एक ही रातमें ब्रिटिश साम्राज्य गिरकर धूलमें मिल गया। वह खम्भे जिन्हें वरसोंके परिश्रमसे अंग्रेजी राजनीति-चातुर्य्यने खड़े किये थे पहली ही परीक्षामें एकदम गिर गये।"

किसी साधारण सार्व-जर्म्मन मुखपत्रको उठाकर देखिए तुरन्त प्रकट हो जायगा कि जर्म्मनीकी वर्त्तमान व्यापक-प्राय राजनीतिक वांछासे पूर्वोक्त लेख कितना मेल खाता है। एक सार्व-जर्म्मनपत्र लेखक कहता है—

जर्म्मनीकी भावी उन्नतिके लिए आस्ट्रा-हंगरी, बालकन राज्यावली, और टर्की, उत्तरी समुद्रके बन्दरों समेत ले लेना अत्यावश्यक है। पूर्व दिशामें उसका राज्य बरलिनसे बगदादतक और पश्चिममें अंट्वर्पतक विस्तृत होगा।

अभी यह विश्वास दिलाया जाता है कि उक्त देशोंको ले लेनेका अबतक कोई विचार नहीं है और पंचायती साम्राज्यमें हालैंड और बेलजियमको पकड़कर फँसा लेनेके लिए जर्म्मनीके हाथ पैर वस्तुतः तयार भी नहीं हैं।

इतनेपर भी उक्त लेखक कहता है कि यह सब परिवर्त्तन हमारे

देखते ही देखते होंगे और उसकी अटकलमें युरोपका नक़शा अबसे बीस या तीस बरसतक* इस प्रकार बदल जायगा।

लेखकके अनुसार "जर्म्मनीके पास जबतक एक पैसा भी रहैगा जबतक एक आदमी भी हथियार उठानेवाला रहैगा, तबतक लड़ाईसे हटनेका विचार नहीं है," क्योंकि लेखक महाशयकी समझमें "जर्म्मनी ऐसी जोखिममें पड़ा हुआ है जो येनावाली[१] जोखिमसे भी अधिक भयंकर है।"

और ऐसी स्थितिको समझ बूझकर जर्म्मनी अवसर देख रहा है कि कब ठीक मौका हो कि अपने विरुद्ध चाल चलनेवाले पड़ोसियोंको चटनी कर डालूँ।

फ़्रांस उसका पहला शिकार होगा। वह बाट न जोहेगा कि फ़्रांस चढ़ाई करे तो मैं उत्तर दूँ। वास्तवमें जर्म्मनी उस अवसरके लिए प्रस्तुत हो रहा है जब संयुक्त शक्तियां उसे कोई आदेश देनेकी धृष्टता करेंगी।

जान पड़ता है कि जर्म्मनीने लक्षमवर्गका (Luxemburg) राज, बेलजियम और साथही साथ अंट्वर्पको अपनेमें मिला लेना निश्चयकर लिया है और बोलौन (Boulogne) और (Calais) कालेको अपने हाथमें करलेनेके लिए फ़्रांसके समस्त उत्तरीय प्रदेशको अपने स्वत्वमें मिला लेगी।

---

* मालूम होता है कि दोनों पक्षके पंडित इस बातको बिलकुल भूल गये कि इंगलैंड और फ़्रांसमें जो अब मैत्रीका सम्बन्ध हो गया है उसका फल यह होगा कि इंगलिश चैनेलमें [उस समुद्र-स्रोतमें जो इंगलैंड और फ़्रांसके बीचमें है] कुछ कालमें सुरंग बन जायगा, जिससे कुछ थोड़ा यह असर होगा कि इंगलैंड जब जैसा चाहेगा द्वीपीय वा महाद्वीपीय शक्ति बन जाया करेगा और तब प्रायः नाविक प्रभुत्वके विनाही उसका काम चल सकेगा। जब फ़्रांस उसका वर्धमान वैरी था तब सुरंगद्वारा अचानक आक्रमणकी संभावनासे इंगलैंडको सुरंगके बननेमें विरोध था। किन्तु इन दोनोंकी मैत्रीसे, सुरंगके होनेपर, यदि इंगलैंडकी समस्त नाविकशक्ति नष्ट हो जाय तब भी संसारसे इङ्गलैंड अपना अबाध सम्बन्ध रख सकेगा और फ़्रांसकी सहायता करते हुए जर्म्मनीकी पश्चिम सीमापर ऐसी गड़बड़ मचा सकता है, कि इङ्गलैंडके सब जहाजोंके डूब जानेपर भी, इङ्गलैंडपर जर्म्मन आक्रमण नितान्त असम्भव हो जाय। जर्म्मन सेनाके विरुद्ध, अंग्रेजी-फ़्रांसीसी संयुक्त सेनाकी चालमें सुरङ्गद्वारा ऐसी बड़ी सुगमता होगी कि घटनाओंका कैसा ही संघटन हो, जर्म्मनीकी दशा आशातीत और अत्यन्त अनिष्ट होगी।

१—पाठकगण इस ग्रन्थके अन्तमें "येना" शब्दपर टिप्पणी देख लें।

यह सब वज्रपातकी तरह होगा, और इंगलैंडके मित्रगण रूस, स्पेन और अन्य शक्तियोंको उसकी सहायतामें हिलनेका भी हियाव न पड़ेगा। फ्रांस और बेलजियमके समुद्रके घाटोंपर जब उसका अधिकार हो जायगा तो सदाके लिए इंगलैंडकी प्रभुताकी इतिश्री हो जायगी।

डाकृर बकमारने (F. Bachmar) दक्षिणी अफ्रिकापर Reisen Erlebnisse und Beebachtungen नामक जो ग्रंथ लिखा है, उसमें यह वाक्य भी हैं—

"इस पुस्तकके लिखनेमें मेरा दूसरा उद्देश यह है कि संभव है कि हमारी सन्तानोंकी सन्तान उस सुन्दर किन्तु अभागे देशको हस्तगत कर ले, जिसके लिए मुझे कभी किंचिन्मात्र विश्वास नहीं होता कि हमारे ऐंगलो-सक्सन भाई उसे अन्ततः पचा ही जावेंगे। संभव है कि जर्म्मनी-पैतृकदेशके साथ इस भूभागको मिला लेना हमारे प्रारब्धमें हो जिसमें यह देश जर्म्मनी और दक्षिणी अफ्रिका दोनोंके सुख समृद्धिका कारण हो।"

डाकृर गीफ़ेरनित्स जैसे सावधान लेखकने, जो भाईवर्ग (Freiburg) विश्वविद्यालयके अधिनायक हैं, गंभीरभावसे सैन्य-बलकी आवश्यकता दिखायी है। इंगलैंडके लोग डाकृर शूल्से गीफ़ेरनित्ससे अपरिचित नहीं हैं और न डाकृर साहबके हृदयमें इंगलैंडसे कोई वैरभाव है। इन डाकृर साहबका भी मत है कि जर्म्मनीका वाणिज्यवैभव राजनीतिक प्रभुत्वपर निर्भर है।

जर्म्मनीके वाणिज्य और व्यापारकी चमत्कारिक वृद्धिका मनोहर रीतिसे वर्णन करके, और यह दिखाकर कि जर्म्मनी इंगलैंडका कैसा विकट स्पर्धी खड़ा हो गया है, डाकृर महाशय फिर उसी पुराने विषयपर आ जाते हैं और यह पूछते हैं कि यदि आर्थिक रीतियोंसे इंगलैंड अपने सुखमें बाधक नवोत्थित स्पर्धीको, जर्म्मनीको, दबानेमें अक्षम होकर अन्ततः अपने बाहुबलसे मारकर गिरादेनेका प्रयत्न करे, तो क्या होगा? नैशनल रिव्यू (National Review), आबज़र्वर (Observer), औटलुक (Outlook) और साटर्डे (Saturday) रिव्यू आदि पत्रोंके अवतरणोंसे डाकृर साहब सरलतापूर्वक यह सिद्ध करते हैं कि यह तर्क कल्पनामात्र नहीं है। यह बात मान भी लें कि यह पत्र अत्यन्त न्यूनपक्षके भावको व्यक्त करते हैं तब भी लेखकके मतानुसार जर्मनीके लिए इस बातमें भयानक हैं कि वह ऐसा साधन सुझाते हैं जो सुगम है, एतावता

प्रवंचक है। डाक्टर साहबका कथन है कि पुराना शान्तिवाला मुक्त-द्वार-व्यापार जरा-जर्जरित हुआ दिखता है। नवीन और बढ़ते हुए *साम्राज्यवादकी प्रवृत्ति सब जगह यही हो रही है कि आजकलकी आर्थिक-लागडाटकी स्थिति राजनीतिक झगड़ा डालकर बदल दी जाय

ऐसे लोगोंके मनमें भी इसी तरहका भय खुब गया है जो किसी तरह साहसिक और अदूरदर्शी नहीं कहे जा सकते। यहां जो लेख हम उद्धृत करते हैं वह फ्रेडरिक हरिसेन जैसे सुविचारी वृद्ध विद्वानकी लेखनीसे निकला है। ऐसे लम्बे अवतरणको भी देना हम इस स्थानपर आवश्यक समझते हैं। यह पत्र टैम्समें छपा है—

"जब कभी हमारे साम्राज्य और समुद्रबलके आधिपत्यका मुकाबला होगा तो ऐसी सेनाकी चढ़ाईसे होगा जैसी फ़िलिप और पारमाने,* और फिर नेपोलियनने* इकट्ठी की थी। इसका मुझे इतना निश्चय है कि मैं लाचार होकर अपने उस युद्धविरुद्ध नीतिमें परिवर्त्तन कर रहा हूं जिसका पक्ष मैं बराबर चालीस वर्षसे पुष्ट कर रहा था।.........मेरे निकट इसमें अब कोई मानहानि नहीं है, साम्राज्यके घट जानेकी भी कोई बात नहीं है—प्रश्न अगर है तो अग्रणी युरोपायन शक्तिके रूपमें, वर्धमान और उन्नतिके शिखरपर चढ़ती हुई जातिके रूपमें, अपनी स्थितिका।......जो कभी हमारी नाविक सेना ध्वस्त

---

* द्वितीय फ़िलिप (१५२७–१५९८ ई०) स्पेनका सम्राट बड़ा प्रतापी हो गया। ड्यूक पारमा उसका सेनानायक अपने समयका एकही रणकलाकुशल योद्धा गिना जाता था। फिलिपने बिना और किसी राज्यकी सहायता वा मैत्रीके रूम, फ्रांस, इंगलैंड, हालैंडसे क्रमशः युद्ध किया था। दक्षिण एशियामें उसकी विजयकीर्त्तिका फल फ़िलप्पाइन टापू उसके ही नामसे प्रसिद्ध है। फ़िलिपने १५५८ ई०में १५० जहाजोंके एक बड़े बेड़ेसे, जिसका नाम "अजेय अरिमर्दक" Invincible Armada था इङ्गलैंडपर चढ़ाई की। इस बड़े बेड़ेको ड्रेक नामक अंग्रेज जलसेनानायकने छिन्नभिन्न कर डाला, बहुतेरे जहाज पकड़ लिए गये। थोड़े से ही स्पेन लौटे।

नेपोलियन [१७६९–१८२१ ई०] फ्रांसके कार्सिका द्वीपमें उत्पन्न हुआ। साधारण सैनिक पदसे अपने असाधारण पराक्रम तीव्रबुद्धि और फ्रांसकी अस्थिर परिस्थितिसे धीरे धीरे ऐसा सम्राट हो गया जिसके आज्ञानुवर्त्ती ग्यारह छत्रधारी शासक हो गये। इसके बाहुबल और सैन्यशक्तिके नीचे युरोपके बड़े बड़े शक्तिसम्पन्न नरपतियोंके दर्प चूर्ण हो गये। जिधर जाता था उधर ही उसकी विजयपताका फहराती थी। उसकी आठ आठ लाखकी सेनाने उसके नेतृत्वमें अधिकांश युरोपको अधिकृत कर लिया। सन् १८१५ ई०में इङ्गलैंडसे युद्ध छेड़ा। उस समय उसकी ग्रहदशा कुछ ऐसी हो गयी, परिस्थिति कुछ ऐसी ही विपरीत हुई कि ड्यूक वेलिंगटनके मुकाबलेमें हार गया और बन्दी करके अटलांटिक महासागरके सेंट-हेलेना नामक क्षुद्र द्वीपमें भेज दिया गया। १८२१ ई०में वहीं उसका शरीरपात हुआ। (अनुवादक)

हुई, या घेर ली गयी, या चार महीनेके लिए भगा ही दी गयी और हमारे बारूद-खाने, घाटों वा राजधानीपर वैरीकी सेनाका अधिकार हो गया, तो ऐसी दुर्गति ऐसा सत्यानाश होगा जिसका उदाहरण आधुनिक इतिहासमें ढूंढ़े न मिलेगा। साम्राज्य तो नहीं किन्तु ब्रिटेनका सर्वनाश हो जायगा। वैदेशिक वैरीके अधिकारमें हमारे मेगज़ीन नावघाट नगर और राजधानीका चला जाना उसी भांति साम्राज्य-को निरर्थक कर देता है, जैसे ड्रेडनाटको उसके ब्वैलरोंका फट जाना। ऐसी दशामें साख उठ जायगी, और साख न रहनेपर पूँजीका लोप हो जायगा।...... यद्यपि सौमें अट्ठानवे दरजे ऐसी आपत्तिका आना अघटित है तब भी ऐसी प्रचण्ड दुर्घटनाको दैवयोग या अवसरपर न छोड़ देना चाहिए। परन्तु उसकी असंभावना अट्ठानवे अंशमें नहीं है। कोई प्रामाणिक विद्वान ऐसा कहनेका साहस नहीं करता कि असाधारण स्थितियोंके सहायक होते हुए हमारे देशका अमोघ आक्रमण नितान्त असम्भव है। और अमोघ आक्रमणसे हमारा साम्राज्य, हमारा वाणिज्य, और वाणिज्यके साथ साथ इस द्वीपमें रहनेवाले चार करोड़ प्राणियोंकी जीविका बिल्कुल डूब जायगी। यदि यह पूछा जाय कि "हमारे पड़ोसियोंकी अपेक्षा हमको ही क्यों चढ़ाईके भयंकर परिणामोंका अधिक भय है" तो उत्तर यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य एक विधि-विरुद्ध रचना है जो आधुनिक इतिहासमें वस्तुतः निरुपम है। प्राचीन इतिहासमें केवल एथेन्स, कारथेज, और मध्यकालीन इतिहासमें पोर्टुगाल हालैंड और वीनिसका उदाहरण मिलता है। हमारे साम्राज्यकी ऐसी टेढ़ी दशा है कि उसका आक्रमण और सर्वनाश विशेषतः सुगम है। टेम्स नदीपर सुव्यवस्थित वैरीद्वारा उसका सर्वनाश ऐसा लोमहर्षण होगा, कि केवल एकही प्रकारके रक्षा-विधानपर उसे छोड़ देना, इस घड़ी चाहे कितनाही पर्याप्त और कैसाही अच्छा हो, किन्तु अन्ततः बिल्कुल अनुचित है।.........चालीस बरसके ऊपर हुए कि मैं हर तरहकी चढ़ाई और लड़ाईका, साम्राज्य वृद्धिका, और महाद्वीपीय सैन्य-बल-वादका बड़े ज़ोरोंसे विरोध करता रहा। साम्राज्य विजयों, और एशिया और अफ्रिकाके साहसिक व्यवसायोंके आगे जब लोग प्रजाकी भलाई और समाज सुधारके कामोंको टाल देते थे, उस समय कदाचित् ही कोई मेरी बराबर इस टालाटूलीके विरुद्ध झगड़ा करता था। उस विषयपर जितना कुछ मैंने कहा है उसको मैं दुहराना नहीं चाहता। किन्तु शिल्पीय पुनर्व्यवस्थापर जितनी बातें हो रही हैं वह उस समयतक कितनी साररहित हैं जबतक हमने उस महाविपत्तिसे अपने देशकी रक्षाका उपाय नहीं कर लिया है जिससे साधारण प्रजा अकथनीय दीनता और दुःखमें पड़ जायगी,—जिससे शिल्प स्तब्ध हो जायगा और अन्नका भाव दुर्भिक्षकालकी नाईं चढ़ जायगा और हमारे कारखाने और घाट बन्द हो जायँगे!"

तीसरा अध्याय

भारी-भ्रम

ये विचार बड़े भयानक भ्रमसे उत्पन्न हुए हैं—जर्म्मन विजयसे क्या हो सकता और क्या न हो सकता—तथैव अंग्रेजी-विजयसे—विजय विषयक दृष्टि-विपर्य्यय—सम्पत्तिका स्थान-परिवर्त्तन नहीं हो सकता—युरोपके छोटे छोटे राज्योंका वैभव—जर्म्मन ३) सैकड़ा ८२) पर और बेलजियन ९६) पर—रूसी ३॥) सैकड़ा ८१) पर और नारवेज्यन १०२) पर—इसका वास्तविक अर्थ—यदि जर्म्मनी हालैंडको अपनेमें मिला ले तो जर्म्मनको लाभ होगा कि हालैंड-निवासी को ?

मैं समझता हूं कि दूसरे अध्यायके अन्तिम अवतरणमें जिस साधारण विचारका उल्लेख है उसमें नासमझीकी अधिक सम्भावना नहीं है, इस बातको सभी मानेंगे। विशेषतः हरिसेन साहबका लेख बिल्कुल साफ़ है। चाहे कोई पुनरुक्ति दोष क्यों न लगावे किन्तु मैं फिर अपने पाठकोंको यह याद दिलाता हूं कि मिस्टर हरिसेन युरोपीय राजनीतिके सर्वमत सिद्धान्तोंका ही वर्णन करते हैं। वह सिद्धान्त यह है कि किसी जातिकी आर्थिक और शिल्पीय स्थिरता, कार-बारमें निर्भयता,—निदान उसकी सुख समृद्धि अन्य जातियोंके आक्रमणसे अपनी रक्षा करनेकी योग्यतापर निर्भर है। अन्य जातियां भी अपनी लालचसे अपने बलभर चढ़ाई करना ही चाहेंगी, क्योंकि ऐसा करनेसे दुर्बल और पराजित पक्षकी बदौलत उनकी शक्ति बढ़ जायगी, और उनका कल्याण और सुख समृद्धि भी इसीमें है।

इसमें सन्देह नहीं कि मैंने प्रायः समाचारपत्रोंसे प्रमाण लिये हैं क्योंकि मेरी इच्छा थी कि मैं केवल शास्त्रियोंके मतको नहीं, वरन् सच्चे लोकमतको पाठकोंके आगे रक्खूं। साथ ही मिस्टर हरिसेनके मतको सब प्रकारके शास्त्री पुष्ट करते हैं। जैसे मिस्टर स्पेन्सर विल्किन्सनको ही लीजिये। आप आक्सफ़र्डमें सैनिक इतिहासके अध्यापक हैं। और अपने विषयमें सचमुच बड़े प्रतिष्ठित प्रमाण हैं। आप अपने विविध लेखोंमें मेरे उद्धृत लेखोंके मत सब तरहसे पुष्ट करते हैं और मिस्टर हरिसेनके कथनका तो बड़े ज़ोरोंसे समर्थन करते हैं। अपनी पुस्तक "Briton at Bay" "शत्रुके संमुख ब्रिटेन" में अध्यापकजी कहते हैं—"जब १८८८ में अमेरिकन समालोचक कप्तान महानने इतिहासके ऊपर समुद्र

शक्तिके प्रभावपर पुस्तक प्रकाशितकी, तब किसीको यह न सूझी कि ब्रिटिशके अतिरिक्त और जातियां भी उस ग्रंथसे यह शिक्षा ग्रहण करती हैं कि समुद्रमें विजयलाभ होनेसे जो कल्याण, जो अधिकार, जो गौरव मिलता है वह और किसी तरह नहीं मिल सकता।"

अब इस पुस्तकमें यह सिद्ध करना हमारा उद्देश्य है कि जिस लोकमतका विवरण स्पष्ट रूपसे मिस्टर हरिसेनने अपने पत्रमें किया है वह एक प्रगाढ़ आततायी और महा भयानक भ्रम है जो कभी तो दृष्टि विपर्य्ययका और कभी अन्धविश्वासका रूप धारण करता है—ऐसा भ्रम जो केवल प्रगाढ़ और विश्वव्यापी नहीं हो रहा है वरन् इससे यह बड़ी हानि है कि मनुष्यमात्रकी विपुल शक्तियोंका कुमार्गमें अपव्यय हो रहा है,—कुमार्ग भी ऐसा कि यदि हम इस मूढ़विश्वासका परित्याग न करें तो सारे सभ्य संसारकी बड़ी भयानक दशा हो जायगी।

इस विषयमें एक असाधारण विचित्रता तो यह है कि इस विचारको भ्रममूलक सिद्ध करनेमें और जिस मोहसे यह उत्पन्न हुआ उसे अच्छी तरह खोलकर दिखानेमें न तो कोई गूढ़ता है और न कोई कठिनाई है। इसके सिद्ध करनेमें किसी श्रमसे निर्म्माणकी हुई युक्तिका अवलम्बन नहीं किया गया है वरन् आज कलके युरोपीय राजनीतिक तत्त्वोंके उद्‌घाटनसे ही दिखाया गया है। ये निर्विवाद तत्त्व जिनकी पूरी व्याख्या अभी की जायगी यों संक्षेपमें वर्णन किये जाते हैं—

(१) ब्रिटेनका उतना भी उच्छिन्न हो जाना जितना उसके पराजित होनेपर हरिसेन साहबने दरसाया है स्थूलतः असम्भव है। युद्धमें ही विजयी होकर आजकल कोई जाति किसी पराजित जातिके वाणिज्यको सदैवके लिए वा बहुत कालके लिए पूर्णतया नष्ट नहीं कर सकती, वा उसे बहुत ज्यादा हानि भी नहीं पहुंचा सकती, क्योंकि वाणिज्य नैसर्गिक-सम्पत्तिपर और सदुपयोग करनेवाली जनसंख्यापर निर्भर है। जबतक देशकी स्वाभाविक सम्पत्ति और उसे सफलतापूर्वक काममें लानेवाली प्रजा मौजूद है कोई शत्रु उसे सर्वथा नष्ट नहीं कर सकता। वाणिज्यको तो नष्ट कर देना तभी सम्भव था जब सारी प्रजा नष्ट की जा सकती परन्तु

यह हो नहीं सकता क्योंकि प्रजाके नाशसे विजयीकी हाट वास्त-विक हो वा संभवनीय बन्द हो जायगी। अपने देशका माल वह किसके हाथ बेचेगा? प्रजा नाशसे विजयीको व्यावहारिक आत्म-हत्या हो जायगी।

(२) हरिसेन और उनके मतावलम्बियोंके विचारानुसार यदि जर्म्मनीकी चढ़ाईसे "ब्रिटिश साम्राज्य ब्रिटिश व्यापार और ब्रिटिश द्वीपोंके चार करोड़ प्राणियोंकी जीविकाका उपाय सर्वथा तहस नहस हो जायगा ....पूंजी बिगड़ जायगी और साख नष्ट हो जायगी" तो जर्म्मन पूंजीका भी अधिकांश लोप हो जायगा और जर्म्मनीकी साख भी उठ जायगी। और इससे बचनेके लिए जर्म्मनीको इंगलैंडकी गड़बड़ीको दूर करना पड़ेगा एतावता इस गड़बड़ीके कारणको भी मिटाना पड़ेगा। जर्म्मनीपर इंगलैंडकी दुर्दशाका प्रभाव यों पड़ेगा कि हमारा शिल्प और हमारा सारा मस्ली व्यवहार साखपर ही चल रहा है, अतएव सभ्य देशोंकी परस्पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अधीनता और सम्बन्ध है। और भी, यही अधीनता और सम्बन्ध बाधक है कि कोई विजयी शत्रु किसी व्यक्तिके स्वत्वको, जायदादको, ज़ब्त नहीं कर सकता चाहे वह हुंडी हिस्सा जहाज खानि या जवाहिरात या माल असबाबसे अधिक बहुमूल्य चीज़ें ही क्यों न हों,—निदान ऐसी कोई भी चीज़ जो प्रजाके आर्थिक जीवनसे सम्बन्ध रखती हो—ज़ब्त नहीं हो सकती। यदि वह ज़ब्त करे तो उसका प्रभाव उसके ही देशकी सम्पत्तिपर ऐसा पड़ेगा कि उसके देशकी आर्थिक हानि इस ज़ब्तीके लाभसे कहीं बढ़ जायगी और लेनेके देने पड़ जायँगे। सो जर्म्मनीका विजयलाभ इस बातको सिद्ध करेगा कि आर्थिक दृष्टिसे विजयलाभ भी निर-र्थक हुआ करता है।

(३) ऐसेही कारणोंसे आजकल पराजित प्रजासे कर लेना आर्थिक दृष्टिसे असम्भव हो गया है। बहुतसे हानिपूरणके भी वसूल करनेमें किसी न किसी भाँति इतनी लागत लग जाती है कि उससे लाभके बदले बड़ी हानि होती है।

(४) हरिसेनकी अटकलकी अपेक्षा अत्यन्त कम हानि भी यदि कोई शत्रु दंड देनेके लिए पहुँचाना चाहे तो अपनी बहुत कुछ लागत लगाकर और हानि सहकर ही कर सकता है; अथवा "जो

काहूकी देखहिँ विपती। सुखी होहिँ मानहु जगनृपती” वाली भावनासे भी, परपीड़ानुभवकी निःस्वार्थ इच्छासे बहुत से अपव्ययसे हानि पहुँचा सकता है। किन्तु इस स्वार्थी संसारमें इस प्रकारकी स्वार्थहीन परापकारकी दुर्भावनाको मान लेना स्वाभाविक नहीं है।

(५) ऐसे ही कारणोंसे सेनाद्वारा पराजित देशकी बाहरी सौदागरीको रोक देना आर्थिक तथा भौतिक रीतिसे असम्भव है। बड़े बड़े जहाजोंके ही रखनेसे किसी जातिकी सौदागरी खड़ी नहीं हो सकती और न उनसे दूसरी जातियोंकी सौदागरी लागडाट ही कम हो सकती है। विजेता विजित देशको मिलाकर भी उसकी प्रति-योगिताको नष्ट नहीं कर सकता। उसके स्पर्धी फिर भी लागडाटमें नहीं चूकेंगे। जैसे यदि जर्म्मनी हालैंडको जीत ले तो जर्म्मन व्यापा-रियोंको फिर भी डच (हालैंड-निवासी) सौदागरोंका मुकाबला करना ही पड़ेगा, और अब पहलेसे भी कठिनतर लाग रहेगी क्योंकि डच सौदागर जर्म्मनीके हदभीतर हो जानेसे उस महसूलसे बच जायँगे जो विदेशियोंको देना पड़ता है।

(६) किसी जातिकी सुख समृद्धि उसकी राजनीतिक शक्तिपर किसी तरह निर्भर नहीं है। यदि निर्भर होती तो कोई राजनीतिक शक्ति न रखनेवाली छोटी छोटी जातियोंकी वाणिज्य-वृद्धि और सामाजिक समृद्धि युरोपपर अधिकार रखनेवाली बड़ी बड़ी जातियोंकी अपेक्षा स्पष्टतः कम होती; परन्तु वस्तुतः यह बात नहीं है। स्विज़रलेंड, हालैंड, बेल्जियम्, डेनमार्क, स्वीडेन आदि राज्योंकी प्रजा हर तरहपर उतनी ही सुखी है जितनी जर्म्मनी, रूस, आस्ट्रिया, और फ्रांस आदिकी प्रजा। छोटे देशोंका व्यापार बड़े देशोंकी अपेक्षा जन-संख्याके हिसाबसे बढ़ा हुआ है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि छोटे राज्योंकी रक्षा इस कारण है कि उनसे छेड़छाड़ न करनेकी प्रतिज्ञा हो चुकी है। किन्तु रक्षाका प्रश्न फिर भी इसमें छिड़ ही जाता है और यह प्रश्न भी उठता ही है कि राजनीतिक शक्ति सुनिश्चित रूपसे आर्थिक सुगमताका कारण हो सकती है वा नहीं।

(७) ब्रिटिश उपनिवेशोंको जीतकर कोई देश लाभ नहीं उठा सकता और ब्रिटेनको भी उनके निकल जानेसे कोई वास्तविक

हानि नहीं हो सकती, चाहे भावकी दृष्टिसे कितना ही शोक प्रकाश किया जाय, अथवा सजातियोंके बीचमें सामाजिक सम्बन्धोंमें कठिनाई पड़ जानेपर कितना ही खेद क्यों न प्रकट किया जाय। "निकल जाना" भी यहाँ भ्रमोत्पादक है। ब्रिटेनके उपनिवेश ब्रिटेनकी मिलकियत नहीं हैं। उपनिवेश वास्तवमें स्वतंत्र हैं, अपनी मातृभूमिसे केवल मैत्री रखते हैं किन्तु न तो कोई कर देते हैं और न उनसे कोई आर्थिक लाभ होता है—और जो कुछ होता है वह उतना ही है जितना किसी पराये देशसे हो सकता है। आर्थिक दृष्टिसे तो उनके अलग हो जानेमें ही इंगलैंडको लाभ है क्योंकि उनकी रक्षाके लिए जो खरच होता है वह बच जायगा। जब उनके निकल जानेसे (सिवाय रक्षा-व्यय बच जानेके) कोई आर्थिक परिवर्त्तन नहीं होता तो साम्राज्यका नाश तथा मातृभूमिका भूखों मरना—जैसा कि इस विषयपर वाद करनेवाले कहा करते हैं—कैसे हो सकता है? जब इंगलैंड स्वयं उनसे कर वा अन्य आर्थिक लाभ नहीं प्राप्त कर सकता तो यह कैसे विचारमें आ सकता है कि कोई और देश जिसको उपनिवेशोंके प्रबन्धमें अवश्य ही कम अनुभव है सफलता प्राप्त कर सकता है। विशेषतः जब स्पेन पोर्टुगाल फ्रांस और ब्रिटेनके औपनिवेशिक साम्राज्यके पूर्व इतिहासपर विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह इतिहास यह भी सिद्ध करता है कि जिस विचार दृष्टिसे हम देखते हैं उससे राज्याधीन उपनिवेशोंकी दशा भी स्वाधीन उपनिवेशोंसे बहुत भिन्न नहीं है। जिस परीक्षामें अनुत्तीर्ण होना उपनिवेशोंके इतिहासने नितान्त अनिवार्य्य सिद्ध किया है, उसी परीक्षाके लिए कोई युरोपीय जाति अंधाधुन्ध खरच करके इंगलैंड जीत लेनेका प्रयत्न करेगी—ऐसी कल्पना युक्ति संगत नहीं है।

अंग्रेजी और जर्म्मन दोनों राजनीतिक पालिसीके चुने चुने अवतरण जो मैंने दिये थे, उनमें जितनी बातोंका उल्लेख हुआ उन सबपर उपर्युक्त युक्तियोंमें विचार हुआ है। यह युक्तियाँ आजकलके युरोपीय राजनीतिकी मोटी मोटी स्वतःसिद्ध बातोंपर निर्भर हैं और इनसे ही उन राजनीतिक सिद्धान्तोंकी पोल खुल जाती है जिनका वर्णन मैंने पहले किया है। किन्तु जब हरिसेन साहबके दिमागवाले मनुष्य भी साधारणतः इन स्वतःसिद्ध बातोंका

निरादर करते हैं तो इनकी व्याख्या विस्तारसे करना आवश्यक प्रतीत होता है।

टैम्स और हरिसेन आदिके उद्धृत लेखोंमें जिस पालिसीका विवरण है उसका ठीक जोड़का तोड़ देनेके लिए ही, जिन युक्तियोंको सिद्ध करना चाहता हूं उन्हें मैंने सात अंगोंमें विभक्त किया है; नहीं तो ऐसे मनमाने विभागकी आवश्यकता न होती। उन सातोंको एकमें ही इस प्रकार कहा जा सकता है—

आजकल विजेताके लिए जब यही एक पालिसी रह गयी है कि विजित देशकी सम्पत्ति उस देशके निवासियोंके पास ज्योंकी त्यों छोड़ दी जाय, तो युरोपमें यह समझ लेना दृष्टिविपर्य्यय और तर्काभासमात्र है कि किसी देशको जीत लेनेसे विजयी देशकी सम्पत्ति बढ़ जाती है। क्योंकि जब कोई देश मिला लिया जाता है तो उसके निवासी भी—जो उस देशकी समस्त सम्पत्तिके स्वामी और भोक्ता हैं—मिला लिये जाते हैं और विजेताके हाथ कुछ नहीं लगता। आधुनिक इतिहासकी घटनाओंसे यह बात सम्पूर्ण स्पष्ट है। जब जर्म्मनीने (Schleswig-Holstein) श्लेस्विग-होल्स्टैन और अल्सेशिया (Alsatia) प्रदेशको मिला लिया तो किसी जर्म्मन प्रजाको एक पैसेका लाभ नहीं हुआ। यद्यपि कनाडा इंगलैंडका है, स्वित्सरलैंडका नहीं है, तथापि कनाडाकी हाटोंसे स्वित्सरलैंडके सौदागर अंग्रेज सौदागरोंको ही निकाल रहे हैं। जहां कहीं विधि-पूर्वक विजित देश मिला नहीं लिया गया, वहां भी विजेता विजित देशकी सम्पत्तिको नहीं ले सकता क्योंकि माली दुनिया साख और बंकके कारबारद्वारा, एक दूसरेसे सम्बन्ध शृङ्खलामें बेतरह बँधी हुई है, और माल और उद्योगके बड़े बड़े सभ्य केन्द्रोंमें रक्षा और शान्ति रहनेपर ही विजेताके माल और व्यवसायकी रक्षा निर्भर है। अतएव विजित देशमें वाणिज्य व्यवसायके नाश या प्रजाकी सम्पत्तिकी आम ज़ब्तीका घोर परिणाम उलटकर विजेतापर ही पड़ेगा। विजेता इस प्रकार आर्थिक दृष्टिसे शक्तिहीन हो जाता है जिसका मतलब यह होता है कि आर्थिक दृष्टिसे सैनिक और राज-नीतिक शक्ति व्यर्थ है,—अर्थात् ऐसी शक्तियोंसे शक्तिमती जातियों-की समृद्धि और व्यवसायको कोई लाभ नहीं हो सकता। उसी तरह विलोम रीतिसे यह निष्पत्ति होती है कि सेना वा नाविक

शक्तियोंसे स्पर्धियोंकी सौदागरी न तो नष्ट हो सकती है न रोकी या छीनी जा सकती है। युरोपकी बड़ी बड़ी जातियां अपने लाभके लिए छोटी छोटी जातियोंके व्यापारको नष्ट नहीं करतीं, क्योंकि वे ऐसा कर ही नहीं सकतीं। और डच नागरिक जिसकी सरकारके पास सैनिक शक्ति है ही नहीं उसी तरह सुखसे रहता है जिस तरह जर्म्मन नागरिक जिसकी सरकारके पास बीस लाखकी सेना है; और रूसी नागरिककी अपेक्षा कहीं अधिक सुखी रहता है यद्यपि रूसी सरकारकी सेना चालीस लाखके लगभग है। यद्यपि इन राज्योंकी सम्पत्ति और रक्षाकी पूरी अटकल इससे नहीं हो सकती तथापि मोटे हिसाबसे समझा जा सकता है, कि शक्तिहीन बेल्जियमके तीन रुपये सैकड़ेके कागजका भाव ९६) है और शक्ति-सम्पन्न जर्म्मनीके तीन रुपये सैकड़ेका भाव ८२) ही है। और उस रूस साम्राज्यके साढ़े तीन रुपये सैकड़ेके कागजका दाम केवल ८१) लगाया जाता है, जिसकी जन संख्या बारह करोड़ और सेना चालीस लाख है, उसीके मुकाबले नारवेके साढ़ेतीन रुपये सैकड़े का भाव १०२) है, यद्यपि नारवेके कोई सेना ही नहीं है, (अथवा ऐसी कोई सेना नहीं है जो वर्त्तमान वादविवादमें विचार योग्य हो)। इन सब बातोंके साथ ही साथ यह विरोधाभास भी है, कि जितनी ही रक्षा सेनाद्वारा किसी जातिकी सम्पत्तिकी की जाती है अन्य जातियोंकी दृष्टिमें वह उतनी ही कम रक्षित हो जाती है।*

मृत लार्ड सालिसबेरीने कारबारियोंकी प्रतिनिधि सभाके प्रति वक्तृता करते हुए यह स्मरणीय विचार प्रकट किया था। "कारबारी लोग अपने अपने कामकाजमें नित्यके व्यवहारमें जो बर्त्ताव करते

---

* मुकाबलेका विचार इतनेपर ही निर्भर नहीं है। जो मनुष्य युरोपसे कुछ भी अभिज्ञ है वह जानता है कि आरामसे रहनेका परिमाण नारवे स्वीडन हालैंड बेल्जियम स्वित्सरलैंड आदि छोटे छोटे देशोंमें बहुत बढ़ा हुआ है। मूलहाल (Mulhall) अपने "जातियोंकी औद्योगिक सम्पत्ति" Industrial Wealth of Nations नामक ग्रन्थमे, (P. 391), फ्रांस और इङ्गलैंडके साथ साथ युरोपके इन छोटे छोटे देशोंको तालिकामे पहले रखता है, जर्म्मनीको छठा, और रूसको जो भूमि और सेनाके हिसाबसे सबसे बड़ा है, सबसे नीचा। फ्रेंच स्थिति शास्त्री (Statistician) डाक्टर बर्टिलोनने प्रत्येक देशकी व्यक्तिगत सम्पत्तिका बड़ा मेहनतसे पूरा हिसाब लगाया है। (निश्चित औसतसे) आधी उमरके एक जर्म्मनके पास नौ हजार और डचके पास सोलह हजार फ्रांक [॥~)॥] होंगे।

(See *Journal*, Paris, August 1, 1910.)

हैं, सामाजिक वा राजनीतिक कामोंमें मिलजुलकर काम करनेमें वह वर्त्ताव बिल्कुल बदल जाता है। मालूम होता है कि उनके व्यक्तिगत और समाजगत वर्त्तावके सिद्धान्तों और उनके प्रयोगोंमें बड़ा अन्तर है।" और राजनीतिमें एक बड़े अचम्भेकी बात तो यह है कि कारबारी लोग राजनीतिक व्यवहारोंको अपने नित्यके व्यवहारोंके विपरीत देखते हुए भी यह प्रयत्न नहीं करते कि दोनों दशाओंमें समान व्यवहार करें। वास्तवमें उन्हें यह बात तनिक भी समझमें नहीं आती कि उनका नित्यका व्यवहार राजनीतिके साथ साथ कितना जकड़ा हुआ है। जैसे वृक्षोंके बाहुल्यमें किसी भोले मनुष्यको जंगल नहीं दिखता, और वह यह नहीं समझता कि यही सब मिलकर जंगल कहलाते हैं उसी तरह यह भी नहीं समझते कि व्यवहार तथा राजनीति दोनो इस संसारके परस्पर मिले हुए अंग हैं।*

छोटे छोटे राज्योंमें जो स्वत्वरक्षा और सुखसमृद्धि है उसपर विचार करके—आजकलके प्रसिद्ध राजनीतिक व्यवहार और संसारके नित्यके वर्त्तावमें जो विरोध दिखायी देता है—यह विरोध यदि उपर्युक्त सा कोई घटनात्मक दृष्टान्त न होता तो अवश्य हमें समझमें न आता। जितने राजनीति-दक्ष पंडित हैं, सभी कहते हैं कि अपनी सम्पत्तिको अपने शक्तिसम्पन्न पड़ोसियोंके आक्रमणसे बचाये रहनेके लिए बड़ी बड़ी जल-स्थल-सेनाकी आवश्यकता है। इन पड़ोसियोंकी लोलुपता और तृष्णा बलसे ही रोकी जा सकती है। राजीनामा कोई चीज नहीं है। देशोंकी परस्पर राजनीतिमें "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाला मामला है। सैनिक और व्यापारी रक्षा एक ही बात है, व्यापार-रक्षाके लिए सैन्यबलकी आवश्यकता न्याय संगत है। हमारा नाविक बल "बीमा के" समान है और सैनिक-बलद्वारा ही युरोपकी राजनीतिक पंचायतमें अपना सौदा पट सकता है। यह सैनिकबल जिस देशके पास नहीं है वह आर्थिक दृष्टिसे बड़े टोटेमें रहेगा। इत्यादि, इत्यादि। रुपया लगानेवालेको निरी माली और आर्थिक दृष्टिसे जब पूरा विचार करना पड़ता है कि उन बड़े बड़े राज्योंके भीतर रुपया लगाया

* इसका दृष्टान्त इस विभागके अन्तिम अध्यायमे है जहां व्याख्यानका कुछ अंश उद्धृत है।

जाय, जिनके पास दानवी सेनाओं और कुवेरके धनसे सम्पादित नाविक शक्तियोंकी अपार सामग्री है, अथवा उन छोटे राज्योंके भीतर धन लगाया जाय, जिनके पास कोई सैनिक शक्ति है ही नहीं, तो वह बेखटके तन मन धनसे छोटे निस्सहाय राज्योंकी ओरही झुक पड़ता है। क्योंकि नारवे और रूसकी दरोंमें जो इक्कीसका अन्तर है, और जर्म्मनकी अपेक्षा बेलजियमका भाव जो चौदह रुपया बढ़ा हुआ है,—यह अन्तर केवल इसी कारण है कि नारवे और बेल्जियममें लाभ निश्चित है परन्तु जर्म्मनी और रूसमें जूए की बात है,—लाभ होना निश्चित नहीं है। यही तो बात है कि रूस और जर्म्मनीका भाव इतना सस्ता है और इन छोटे छोटे देशोंका इतना महँगा। अमेरिकामें रेलकी सड़कके पट्टोंका भाव पूरी शान्तिके समय कितना बढ़ा रहता है परन्तु देशव्यापी हलचलके समय कैसा घट जाता है। जो बात सरकारी कागजोंके विषयमें कही गयी है, वही कुछ ही अंशोंमें कम होकर देशी और जातीय व्यापारोंमें भी लागू होती है।

यह क्या कोई परोपकार है, वा सनक है कि जिसकी उत्तेजनासे युरोपके धनवान पूँजीवाले समझते हैं कि युरोप महाद्वीपकी बड़ीसे बड़ी शक्तियोंकी अपेक्षा बलहीन हालैंड और स्वीडेनके सरकारी फ़ंड और जमा दससे बीस सैकड़ा तक अधिक सुरक्षित हैं ? यह प्रश्न अवश्य ही व्यर्थ है। रुपया लगानेवालेको केवल लाभ और बचावकी ओर ध्यान रहता है और उसने इस बातका निबटारा कर दिया है कि जिस जातिके पास रक्षा और बचावका कोई उपाय ही नहीं उसकी ही जमा, दानवी सेनासे सुरक्षित जातिकी जमाकी अपेक्षा, अधिक सुरक्षित है। वह इस बातपर कभी विचार नहीं करता कि हमारा यह निवटारा—कि आज-कलकी सम्पत्तिके लिए बचावकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह ज़ब्त नहीं की जा सकती—राजनीतिसे कितना बेतरह गुथा हुआ है। अपने माली अनुभवद्वारा ही यदि उसने ऐसा फ़ैसला नहीं किया है, तो कोई बतलाये कि और किस प्रकारसे ऐसा फ़ैसला हो सकता है ?

अगर मिस्टर हरिसेनकी यह बात—कि जो लोग हमारे व्यापारकी ईर्षा करते हैं और संसारको राजनीतिपर अपना प्रभाव

जमानेमें तथा सैन्यबलमें, हमसे आगे रहना चाहते हैं, उन्हें जो हम आगे बढ़ जाने दें तो हमारा वाणिज्य और हमारे उद्योगी जीवनका अवसान हो जायगा—यदि यह बात ठीक है तो वह इस घटनाका क्या अर्थ लगाते हैं, कि छोटे छोटे देश जो अत्यन्त शक्तिहीन हैं युरोपीय महाद्वीपकी बड़ी बड़ी शक्तियोंको व्यापार-स्पर्धामें धक्के देकर पीछे हटा देते हैं और उनका प्रति मनुष्य व्यापारका परिमाण कम तो कभी नहीं होता, अधिकांश बढ़ा ही रहता है? यदि ऐसे साधारण राजनीतिक सिद्धान्त सत्य होते तो पूँजीवाले अपना एक पैसा भी रक्षाहीन देशोंमें न लगाते। सो तो देखनेमें नहीं आता उलटे यही देखनेमें आता है कि स्वित्सरलैंड और हालैंडके राज्यमें रुपया लगाना जर्म्मनीसे अधिक सुरक्षित समझा जाता है। स्वित्सरलैंड जैसे देशमें—जहाँ सेना क्या है मानो नाटककी नकल है, कोई दो चार हजार आदमी होंगे—उद्यम और कारबारमें पूंजी फँसाना कबूल है परन्तु रुपयेवाले उस देशमें रुपया लगाना कम चाहते हैं जहां संसारमें सर्वोत्तम और पूर्ण शिक्षाप्राप्त तीस लाखकी सेना है। युरोपके मालदार लोगोंका जैसा बर्त्ताव इस मामलेमें है उससे राजनीतिज्ञके साधारण मतकी पूरी निन्दा हो जाती है। यदि देशका वाणिज्य सचमुच ऐसी दशामें हो कि जो कोई जबरदस्त वैरी चढ़ आवे उसीके हाथ झट आ जाय—यदि व्यापारकी रक्षा और वृद्धिके लिए जल-स्थल सेनाकी वस्तुतः आवश्यकता हो—तो छोटे छोटे देश तो आशातीत दुरवस्थामें होने चाहिएं, और उनका जीवन तो उसी समयतक रह सकता है जबतक निःशंक भिड़ जानेवाले लोभी वैरी (पड़ोसी) उन्हें रहने दें। तिसपर भी आबादीके हिसाबसे नारवेकी बाहरी सौदागरी ब्रिटेनकी अपेक्षा ज्यादा है* और डच स्विस और बेल्जियन सौदागर संसारके सभी हाटोंमें जर्मन और फ़रासीसी सौदागरोंके मुकाबलेमें कभी पीछे नहीं रहते।

छोटे छोटे राज्योंकी धन समृद्धि एक ऐसी घटना है जिससे केवल यही नहीं सिद्ध होता कि विना सैन्यबलके धन सुरक्षित रह

* "Statesman's Year Book" की स्थिति-संख्याओंसे सिद्ध होता है कि आबादीके हिसाबसे नारवेकी बाहरी सौदागरी इङ्गलैंडकी तिगुनीके लगभग है।

सकता है प्रत्युत इससे अधिक और बहुत सी बातें प्रकट होती हैं। पहले हम देख चुके हैं कि राजनीतिके कट्टर टीकाकार—विशेषतः अमीराल महान जैसे प्रामाणिक लेखक—यह बहस करते हैं कि सैन्यवल औद्योगिक प्रयत्नका एक अंश है—यह कि सैन्यबलका प्रयोग जातियां अपने आर्थिक सुविधाके लिए करती हैं और सुविधा विना सैन्यबलके अप्राप्य है। वह कहते हैं कि न्याय शृङ्खलामें "हाट, अधिकार, नाविक शक्ति, और मोरचा" ये चारों क्रमसे एकके पीछे एक आते हैं। उनका निश्चित कथन है कि जिस जातिके पास राजनीतिक और सैनिक बल नहीं है वह औद्योगिक और आर्थिक दोनों दृष्टिसे बड़ी दुरवस्थामें है*।

अब, छोटे छोटे देशोंकी आपेक्षिक आर्थिक सुदशा इस अगाध-शास्त्रको—ऊपरकी बहसको—बिल्कुल झूठ ठहराती है। जब हम यह स्पष्ट देखते हैं कि रूस या जर्म्मनी इतने शक्तिसम्पन्न होकर छोटे छोटे देशोंकी अपेक्षा अपनी प्रजाके लिए आर्थिक दृष्टिसे अधिक सुख और आराम नहीं प्राप्त कर सकते, तब यह बहस बुद्धिमानोंकी बेहूदा बकबकके सिवाय और हमारी दृष्टिमें क्या जँचेगी। स्विस बेल्जियन वा डच लोगोंके पास न "अधिकार" है न "नाविक बल" है न "मोरचा" है न "युरोपकी बड़ी कौंसिलोंमें मान" है और न "महाशक्ति होनेकी धाक बँधी हुई" है, तिसपर भी जर्म्मनोंके बराबर और आस्ट्रियन और रूसियोंकी अपेक्षा कहीं बढ़ कर सुखी हैं।

इस तरह अगर यह भी बहस की जाय कि छोटे देशोंकी रक्षा उन संधियोंके कारण है जिनसे और देशवाले रोकटोक नहीं कर सकते तो साथही साथ यह नहीं कहा जा सकता कि उनके द्वारा उन्हें "राजनीतिक शक्ति", "दबाव" और जातियोंके कौंसिलोंमें "मान" मिल जाता है—जो अमीराल महान आदि राजनीतिके कट्टर शास्त्रियोंके अनुसार जातीय संवृद्धिके लिए नितान्त आवश्यक है।

मैं यह पूर्ण दृढ़तासे प्रकट कर देना चाहता हूँ कि जो दलील, जो बहस, मैं लगाना चाहता हूँ उसकी हद, उसकी सीमा,

---

* पृष्ठ १२ के अवतरणको देखिए।

कहांतक है। वह बहस यह नहीं है कि जो बातें अभी कही गयीं हैं उनसे सैन्यबलका होना या उसका अभाव ही जातीय सम्पत्तिका परम कारण वा निर्णायक सिद्ध होता है। इस बहससे यह बात अवश्य सिद्ध होती है कि सम्पत्तिकी रक्षा सैन्यबलपर नहीं किन्तु और बातोंपर निर्भर है; यह कि राजनीतिक और सैन्य शक्तिके अभावसे सुख संवृद्धिमें कोई रुकावट नहीं पड़ सकती; साथ ही साथ उससे सुख समृद्धिका होना वा बढ़ना भी आवश्यक नहीं है; और यह भी कि शासन-क्षेत्रके परिमाण मात्रका उसके निवासियोंकी सम्पत्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

जो लोग यह बहस करते हैं कि छोटे छोटे देशोंकी रक्षा उन संधियोंके कारण है जिनसे देशोंमें परस्पर समभाव और बेरोक-टोक रहना निश्चित है—वह ही यह भी बहस करते हैं कि संधिकी प्रतिज्ञाओंसे रक्षा होना कभी संभव नहीं है। देखिये, एक सैनिक लेखकका यह कथन है—

"यद्यपि खुल्लमखुल्ला नहीं मान लेते, तथापि जिस सिद्धान्तपर शासन-कर्म्मचारी चलते हैं वह वही है जिसे मखवल्लीने खुले शब्दोंमें वर्णन किया है कि बुद्धिमान शासक जब देखे कि बात ढोनेसे अपनी हानि है, और जिन कारणोंसे वह वाक्यबद्ध हुआ था उनका अभाव है, तो उसे अपनी बातपर न आना चाहिए।' राजा बिस्मार्कने यद्यपि इतना खोलकर नहीं कहा तथापि मतलब यही होता है। जितने संधिपत्र हैं सब घूम फिर कर युरोपके रद्दीखानेमें ही विश्राम पाते हैं; और एक दिन जो रद्दीखानेमें ही डाला जायगा ऐसे सत्त्वहीन कागजपर अपनी रक्षाका भरोसा करना शोककी बात है। तिसपर भी इस देशमें (इंगलैंडमें) सैकड़ों आदमी हमारे सामने संधिपत्रोंका ऐसा प्रमाण देते हैं मानों उन्हें पूरा विश्वास है कि वे कभी फाड़े नहीं जावेंगे। यह देखनेमें कैसे सच्चे किन्तु कैसे भयानक लोग हैं। इस निठुर और क्रूर संसारका काम जहां बल ही प्रधान नीति है, ऐसे भाववादी, इतने सीधे सादे और भकुआ लोगोंसे चल नहीं सकता। तिसपर कुछ ऐसे भकुए अब भी पार्लिमेंटमें मौजूद हैं। आशा की जाती है कि भविष्यतमें ऐसे लोग वहां न देख पड़ेंगे*।"

मेजर मरेकी बात यहांतक तो ठीक है। सैनिकमत—उन लोगोंका मत जिन्हें सेनापर विश्वास है और "सेना विना मनुष्य

* Major Stuart Murray, "Future Peace of the Anglo-Saxons," Watts & Co.

नीच और अधम वृत्ति को प्राप्त हो जायँगे" ऐसी आचारपक्षकी उक्ति-युक्तिसे सेना-पक्षको पुष्ट करते हैं—वही सैनिकमत इस शक्ति-शास्त्रका पोषण करता है और सेनामें रहकर ठीक ठीक यही भाव हृदयमें उत्पन्नभी हो जाता है।

परन्तु सैनिकमतमें एक बड़ी भारी समस्या है। यदि किसी देशकी सम्पत्तिकी रक्षा बलसे ही हो सकती है और संधिपत्रके अधिकार रद्दी ही हैं, तो सैनिकमत उन राज्योंकी सम्पत्तिकी प्रत्यक्ष रक्षाका क्या कारण बतलाता है जिनके पास औरोंके मुकाबले कोई शक्ति ही नहीं है? जो देश कि उनके प्रति समभाव वर्त्तने और उनके बेरोकटोक रखनेके जिम्मेदार हैं, क्या उनमें जो परस्पर ईर्षा है, वही इस रक्षाका कारण है? तब तो यह परस्परकी ईर्षा उसी पटुतासे शेष राज्योंके विरुद्ध किसी बड़े राज्यकी रक्षाका भी जिम्मा ले सकती होगी। (Mr. Farrer) मिस्टर फ़ाररने इस मामलेको यों वर्णन किया है—

"अभी हालमें इंगलैंड जर्म्मनी फ्रांस डेन्मार्क और हालैंडके बीचमें जो राजीनामा हुआ है इसके द्वारा यदि चढ़ाईसे डेन्मार्क और हालैंड इतने निर्भय हो सकते हैं कि डेन्मार्क बड़ी गभीरतासे अपनी जल-स्थल-सेनाको वस्तुतः तोड़ देनेका विचार कर रहा है, तो जान पड़ता है कि इसके आगे एक ही कदम और बढ़नेमें छोटी बड़ी सभी शक्तियां मिलजुलकर प्रत्येकके भूभागको अलग अलग करके स्वतंत्र रहने देनेका जिम्मा ले सकती हैं।"

दोनों दशाओंमें सैनिकोंका मत खंडित हो जाता है। क्योंकि जातीय रक्षा सेनाद्वारा नहीं वरन् और किसी उपायसे सिद्ध हो सकती है।

परन्तु वास्तवमें जो बात सत्य है उसमें एक ऐसी विशेषता आ जाती है जिसको जान लेना इस विषयको ठीक ठीक समझनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है। छोटे छोटे राज्योंकी राजनीतिक रक्षा सुनिश्चित नहीं है। कोई बाजी नहीं लगा सकता कि यदि जर्म्मनी हालैंडके पूर्ण राज्य-स्वातंत्र्यको छीन लेनेका गभीर भावसे विचार करे तो भी हालैंड अपनी रक्षाकर सकेगा। परन्तु हालैंडकी आर्थिक स्वतंत्रता अवश्य सुरक्षित है। युरोपका हरेक महाजन जानता है कि अगर कल जर्म्मनी हालैंड या बेल्जियमको जीत ले तो उसे उनकी सम्पत्ति अछूती छोड़ देनी पड़ेगा। ज़ब्ती किसी

तरहकी नहीं हो सकती। यही तो बात है कि छोटे छोटे राज्योंमें एक तो सैन्य-व्ययका बोझ हलका है दूसरे ज़ब्तीका डर नहीं है इससे ही वहांके स्टाकका भाव सैनिक राज्योंकी अपेक्षा पन्द्रहसे बीस दरजेतक बढ़ा हुआ है। राजनीतिक दृष्टिसे कल ही बेल्जियमका लोप हो जाय तथापि उसका धन वस्तुतः स्थायी बना रहेगा।

कल्पनाओंका विस्तार करनेसे उनमें बहुधा विचित्र विरोध दिखायी पड़ते हैं। उनमें ही एक अद्भुत विरोध यह भी है कि जिनसे इस विषयसे सम्बन्ध है वह उपर्युक्त युक्तिको कमसे कम अपने हृदयके भीतर समझते भी हैं, तब भी उसके आवश्यक उपसिद्धान्तको—"किसो जातिकी सम्पत्ति चुरायी नहीं जा सकती" इस अभावात्मक सत्यके भावात्मक रूपको—नहीं मानते। हम इस बातको मानते तो हैं कि किसी जातिकी सम्पत्तिपर पराजयका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तब भी हम कमर कसे इस हठपर उद्यत रहते हैं कि हम पर-जातिको जीतकर धनाढ्य हो जायँगे! क्या बुद्धिमत्ता है! जब हमें उनकी सम्पत्तिको छूना ही सम्भव नहीं है, तब हम उसे लेंगे कैसे, धनाढ्य होंगे कैसे?

और मैं लूटके ही विषयमें नहीं कह रहा हूं। सरसरी निगाहसे भी यह स्पष्ट दिखता है कि एक जातिकी सारी आबादीको जीत लेनेसे दूसरे राष्ट्रमात्रको कोई वास्तविक लाभ नहीं होता। तिसपर भी युरोपीय राजनीतिमें सबसे अधिक उपादेय यही उद्देश्य समझा जाता है। दृष्टान्तके लिए जर्म्मनीके सार्व-जर्म्मनोंका उदाहरण लीजिये। "सार्व-जर्म्मन" दलका यह उद्देश्य है कि युरोपभरमें जर्म्मनजाति या जर्म्मनभाषा बोलनेवाली जातियां सम्मिलित होकर एक महतीशक्ति बन जायँ। इस उद्देश्यके सिद्ध होनेपर युरोप-महाद्वीपमें जर्म्मनीकी सबसे प्रबल शक्ति हो जावेगी और संसार भरमें उसकी प्रभुता संभव है। और साधारण मतानुसार, जर्म्मनीकी दृष्टिसे, प्रत्येक जर्म्मनको उचित है कि इस उद्देश्यकी सफलताके लिए तन मन धन अर्पण करे। यह उद्देश्य ऐसा महान ऐसा उपादेय है कि जर्म्मन नागरिकको इसकी पूर्णताके अर्थ सर्वस्व त्याग करनेमें प्राणतक दे देनेमें आगा पीछा नहीं करना चाहिए। थोड़ी देरके लिए मान लीजिए कि महान स्वार्थत्याग करके—

जितना बड़ा स्वार्थत्याग आधुनिक सभ्य जातिसे संभव समझा जा सकता है—यह उद्देश्य पूरा हो गया और बेल्जियम हालैंड जर्म्मनी स्वित्सरलैंड और आस्ट्रिया सबके सब जर्म्मन ध्वजाके नीचे आ गये;—क्या एक भी साधारण जर्म्मन ऐसा है जो कह सकेगा कि इस परिवर्त्तनसे उसकी सुख समृद्धि बढ़ गयी, उसका अधिक कल्याण हुआ ? हालैंड जर्म्मनीकी मिलकियत हो चुकेगा। परन्तु क्या एक भी जर्म्मन इस मिलकियतसे अधिक धनी हो जायगा ? हालैंडका नागरिक पहले एक तुच्छसे देशका नागरिक था अब एक बड़े भारी साम्राज्यका नागरिक हुआ। तो क्या कोई हालैंडनिवासी इस घटनासे अधिक सुखी वा धनी होगा ? हम जानते हैं कि वास्तवमें जर्म्मन या डच* किसीका एक रत्तीभर कल्याण न होगा, और जहांतक हमारा विचार जाता है, वस्तुतः सुदशा होनेके बदले उनकी दशा और भी बुरी हो जायगी। इतना तो हम निश्चय पूर्वक कहेंगे कि हालैंडवालोंका तो कभी भला नहीं हो सकता, क्योंकि हालैंडका टैक्स हलका था और सैनिक नौकरी बहुत थोड़े कालकी और हलकी थी किन्तु जर्म्मन महासाम्राज्यका टैक्स बहुत भारी होगा और सैनिक नौकरी बड़ी मुद्दतकी और कड़ी होगी।

कुछ दिन हुए "डेलीमेलमें" इस विषयपर किसीने एक लेख लिखा था। उसके उत्तरमें जो कुछ लिखा गया था उससे इस अध्यायकी कई बातें और भी साफ़ हो जाती हैं। अतः उसको हम उद्धृत करते हैं। जर्म्मनीने फ्रांससे युद्धमें (Alsace-Lorraine) अलसासे-लोरेन प्रदेश जो छीन लिया था उसपर लेखकका कहना है कि जर्म्मनीको जो यह जायदाद मिली उसकी नकद मालियत निन्नानबे करोड़की होगी; यदि फ्रांसके पास रह जाती तो आजकलकी फ़रासीसी टैक्सकी दरसे फ्रांसको सालमें बारह करोड़की आमदनी हुआ करती; फ्रांसने यह लाभ खो दिया और जर्म्मनीकी इतनी आमदनी बढ़ गयी। इस बहसपर मैंने यह उत्तर दिया—

जर्म्मनीके आजकलके सूदके भावसे, अलसासे-लोरेनकी मालियतपर जर्म्मनोंको सालमें साढ़ेचार करोड़की आमदनी होनी चाहिए। फ्रांसकी दृष्टिसे बारह करोड़ होता है। मान लो कि दोनोंका औसत, आठ करोड़की आमदनी है। यदि सच-

---

* हालैंड निवासियोंको "डच" कहते हैं। (अनुवादक)

मुच अलसासे-लोरेनसे जर्म्मनीको इतनी आमदनी होती हो तो अंग्रेजोंको अपनी मिलकियतसे और भी अधिक आमदनी होनी चाहिए। आबादीके हिसाबसे तो कोई पन्द्रह अरबके पेटेमें होगी और रकवाके हिसाबसे और भी अधिक—जो न केवल अपने सारे टैक्सोंके भरनेको बहुत है वरन इससे ही सारा जातीय ऋण चुकाया जा सकता है, जल-स्थल सेनाका सारा खर्च चल सकता है और सबके अनन्तर देशके प्रत्येक कुटुम्बके लिए एक अच्छी आमदनी घेलवेमें हो सकती है। परन्तु ऐसा न होनेसे स्पष्ट है कि कहीं हमारे हिसाबमें ही भूल है।

क्या मेरे छिद्रान्वेषीको वस्तुतः यह समझमें नहीं आया है कि जातीय मिलकियतोंसे किसी व्यक्तिके लाभ उठानेकी कल्पना भ्रममात्र है। जर्म्मनीने फ्रांसको पराजित किया और अलसासे-लोरेनको मिला लिया। अब वह जर्म्मनोंकी मिलकियत है और वही इस नयी सम्पत्तिके भोक्ता हैं। यह मेरे समालोचकका ही नहीं वरन अधिकांश युरोपीय राजनीतिदक्षोंका मत है, तब भी सरासर झूठ है। अलसासे-लोरेन उसके निवासियोंका है अन्य किसीका नहीं। और जर्म्मनी इतना निठुर होकर भी उन्हें बेदखल नहीं कर सका—यह बात इस घटनासे सिद्ध होती है कि इस नवाधिगत रियासतकी आमदनी जो साम्राज्य-कोषमें जमा होती है—जो न तो साढ़ेचार और न बारह वरन केवल डेढ़ करोड़के लगभग होती है, उसी हिसाबसे नियुक्त हुई है जिस हिसाबसे साम्राज्यके और रियासतोंकी निश्चित की जाती है। विजेता प्रशा [जर्म्मनीका मुख्य भाग] अलसासेके लिए आदमी पीछे ठीक उतना ही खर्च करता है—किसी तरह कम नहीं—जितना पराजित अलसासे आदमी पीछे देता है। और अलसासे यदि यह डेढ़करोड़ जर्म्मनीको न देता होता तो यही—प्रत्युत हमारे छिद्रान्वेषीके मतानुसार बहुत ज्यादा—फ्रांसको अवश्य देता। और यदि जर्म्मनी अलसासे-लोरेनकी जायदाद न रखता तो करोड़ों रुपयेके खरचेसे बच जाता। आधिपत्यके परिवर्त्तनसे अधीन वा अधीश किसीकी सम्पत्तिमें—जिस विषयका यह झगड़ा है—परिवर्त्तन नहीं होता।

इस विषयके अन्तिम लेखमें अपने छिद्रान्वेषीके पक्के चिट्ठेकी परीक्षा करके मैंने लिखा था कि छिद्रान्वेषी महाशयके अंक जितने स्वतःशीर्ण अपूर्ण और भ्रमोत्पादक हैं उतने ही यदि पूर्ण भी होते तब भी मेरे लिए सारहीन थे। हम सभी जानते हैं कि अंकोंसे बड़े अद्भुत और विचित्र परिणाम निकल सकते हैं परन्तु साधारणतः कोई सीधी सी बात भी मिल सकती है जिससे विना बहुतसे गणितकी सहायताके पूरी परीक्षा हो जाती है। मैं समझता हूं कि मेरे छिद्रान्वेषीको ऐसा संयोग न हुआ होगा जैसा एक बार मुझे हुआ था। युरोपके एक जुआखानेमें मैं

जुएका खेल देख रहा था उस समय एक साहूकारी-विद्या-दक्षने अंकोंका एक गूढ़ स्तंभ दिखाया कि इनसे यह सिद्ध होता है—अखंडनीय रीतिसे—कि जिस रीतिका इसमें स्पष्टीकरण है उससे साहूकारीको तोड़कर कोई चाहे तो करोड़ों रुपया सहजमें ले सकता है। मैंने इन अंकोंकी परीक्षा नहीं की और न कभी करूंगा और वह इसी हेतु कि उक्त साहूकारी-विद्या-विचक्षण अपने अद्भुत रहस्यको बारह रुपयेपर बेचनेको तय्यार है। यदि वह परीक्षायोग्य होता ही, तो नीलामपर क्यों चढ़ता?

इसी तरह इस विषयमें भी ऐसी ही कुछ पहिचानकी बातें हैं जो चालाकसे चालाक स्थितिविद्या सम्बन्धी हथकंडोंको उलट देती हैं। वस्तुतः अधिपति देशमें अधीन देशके मिलनेसे सम्पत्तिवृद्धिका भ्रम उस भ्रमकी अपेक्षा अवश्य बहुत सीधी बात है जो जुएके खेलोंमें होता है, जहां बहुतेरी बातें दैवयोग आदि कारणोंपर निर्भर हैं और जहां प्रायः ऐसे विषयोंका भी सम्बन्ध है जिनपर शास्त्री लोग निरन्तर लड़ा करेंगे और जिन भ्रमोंके उच्छेदनमें असाधारण गणित-बुद्धिकी आवश्यकता होगी। परन्तु जिस भ्रमसे हमको काम है वह केवल इसी कारण है कि हममें बहुतेरोंको साथ ही साथ दो घटनाओंपर, दो बातोंपर विचार करनेमें बड़ी कठिनाई होती है। एक बातको पकड़ लेना और दूसरीको भूल जाना बहुत सहज है। इसी तरह हम यह जानते हैं कि जब जर्म्मनीने आलसासेपर विजय लाभ किया है तो उसने एक ऐसे देशको ले लिया है जिसकी मालियत, हमारे छिद्रान्वेषीके मतानुसार, निन्नानबे करोड़ है। परन्तु जिस बातको हम भूल जाते हैं वह यह है कि जर्म्मनीने उस प्रजाको भी ले लिया है जो पहलेकी तरह उस देशपर अब भी अपना अधिकार रखती है। हमने **क** से गुणा तो किया परन्तु इस बातको भूल गये कि **क** से भाग भी देना है, सो व्यक्तिमात्रके लिए परिणाम ज्योंका त्यों रहा। मेरे छिद्रान्वेषीको गुणेकी ठीक याद थी पर भाग देना भूल गया। अब हम परीक्षा-वाली युक्ति लगाते हैं। एक बड़ा देश जब जब किसी विजित देशको मिलाता है तब तब उसे लाभ होता है और देश बढ़ जानेसे उसकी प्रजाके धनकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है—यदि यह बात सच है तो छोटे देशोंको परिमाणातीत दरिद्र और निर्धन होना चाहिए। इसके बदले हम वास्तविक बात यह देखते हैं—जितनी परीक्षा चाहिए कर लीजिए—कि प्रजाकी साख, सेविंग्स-बंककी जमा, आरामसे रहनेका ऊंचा दरजा, सामाजिक उन्नति, और साधारण सुख समृद्धि, इन सबका विचार करके और अन्य बातोंका पल्ला बराबर रखके छोटे देशोंके नागरिक बड़े देशोंके नागरिकोंकी अपेक्षा या तो बराबर या अधिक सुखी हैं। हालैंड बेल्जियम डेनमार्क स्वीडेन नारवे जैसे देशोंके नागरिक हर तरहकी परीक्षासे ठीक ठीक जर्म्मनी, आस्ट्रिया और रूसके नागरिकोंके समान सुखी हैं। यह वास्तविक बातें हैं

जो कोरे सिद्धान्तोंकी अपेक्षा बड़ी बलवती हैं। यदि यह सच होता कि विजित देशके मिलनेसे विजेता देशको लाभ होता है और देश-विस्तारमें साधारण प्रजाका कल्याण है, तो वास्तविक घटनाएं इस प्रकार सदैव विरुद्ध ही क्यों होती हैं? सिद्धान्तमें अवश्य कोई भूल है।

प्रत्येक सभ्य राज्यमें जो आमदनी जिस देशसे होती है उसी देशमें लगा दी जाती है और आधुनिक राज्यशासनमें ऐसी कोई हिकमत नहीं मालूम है जिससे किसी देशका धन पहले खजानेमें खींच लें, और फिर कुछ बढ़ाकर लाभसहित जिन लोगोंसे मिला था उन लोगोंको वा दूसरोंको बांट दें। यह बात यदि ठीक हो तो उसी तरह होगी जैसे कोई यह कहे कि लंडनके निवासी बर्मिंघम-वासियोंसे अधिक धनी हैं क्योंकि लंडनके खजानेमें अधिक धन है। या यह कि लंडन सूबेकी कौंसिल यदि हर्टफ़ोर्ड सूबेको भी मिला ले तो लंडनवाले अधिक धनवान हो जायंगे। या यह कहना कि प्रजाके पास उतना ही अधिक धन होता है जितना अधिक भूभाग उनके राज्यमें होता है। मैंने जैसा कहा है, यह सब दृष्टि-विपर्य्यय है जो ऐसे शब्दोंकी नासमझीसे उत्पन्न हुआ है जिनका प्रयोग सैकड़ों बरस पहलेके अर्थोंमें हो रहा है जब संसारकी स्थिति कुछ और ही थी। जिस तरह बड़े नगरमें छोटेकी अपेक्षा अधिक दरिद्रता हो सकती है और टैक्स भारी हो सकता है, ठीक उसी तरह बड़े राज्यके नागरिक छोटेकी अपेक्षा अधिक दरिद्र हो सकते हैं जैसा कि वस्तुतः देखा जाता है। आजकलका राज्य प्रधानतः शासन और व्यवस्थामात्र है और प्रवृत्ति यह हो रही है कि पूर्णतया व्यवस्था और शासनमात्र हो जाय। छोटे राज्योंको बड़ोंमें मिलाकर या बड़ोंको तोड़ छोटे छोटे करके, अर्थात् शासन-सत्ताओंके चट्टे बट्टे इधरसे उधर करनेवाले इन्द्रजालमात्रसे, सम्पत्ति-प्रश्नपर किसी भांति कोई प्रभाव नहीं डाल सकता।

चौथा अध्याय

ज़ब्ती हो नहीं सकती

हमारे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिके वर्तमान शब्द ऐतिहासिक अवशेष हैं—आधुनिक अवस्था प्राचीनकालसे किन बातोंमें भिन्न है—साखके कारण गर्भार परिवर्त्तन—अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्तिका सूक्ष्म अन्योन्याश्रय—अट्टिला और जर्म्मनसम्राट—यदि जर्म्मन वैरी इंगलैंड बैंक लूट ले तो क्या हो ?—जर्म्मन व्यापार अंग्रजी साखपर निर्भर है—वर्त्तमान नवीन स्थितिमे वैरीकी जायदादकी जब्ती आर्थिक रीतिसे असाध्य है—समुदायकी सम्पत्ति अस्पृश्य है।

जूबिलीके जुलूसमें एक अंग्रेज मंगन यों कहता था—

मैं आस्ट्रेलिया कनाडा निउज़ीलैंड भारतवर्ष ब्रह्मदेश और शान्त महासागरके दूरके द्वीपोंका स्वामी हूं; पर मैं एक टुकड़ा रोटीके लिए मर रहा हूं। आजकलके संसारकी सबसे बड़ी राज्यशक्तिका नागरिक हूं और सब लोगोंको मेरे महत्वके आगे सिर झुकाना चाहिए। तिसपर भी कल ही एक हब्शी हूशके सामने भीखके लिए मैं गिड़गिड़ाया और उसने मुझे बड़ी घृणासे फटकार दिया।

इसका मतलब क्या है ?

मतलब यह है कि विचारके इतिहासमें जैसा प्रायः होता है, हमारे शब्द जिस दशासे और जिस समयसे अब तक बचे बचाये चले आ रहे हैं उसमें महान परिवर्त्तन हो गया है और शब्दोंके ही पीछे पीछे हमारे मानसिक विचार भी चलते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिमें अब तक उन्हीं शब्दोंका पूरा अधिकार जमा हुआ है जिनका प्रयोग ऐसी दशाओं और ऐसी घटनाओंपर होता है जिनको आजकलके जीवनके ढंगोंने बिलकुल उठा दिया है।

रोमनोंके समयमें—वस्तुतः युरोपके प्राचीनकालमें—समस्त संसारके लिए यह बात ठीक थी कि किसी भूभागके विजयसे विजेताको सुस्पष्ट लाभ होता है। तात्पर्य्य यह कि विजयी राज्य आपही अपने और अपनी प्रजाके लाभार्थ विजितदेशकी सम्पत्तिको सभी उपायोंसे अपने काममें लाता था। बहुधा यह भी अर्थ होता था कि विजित प्रजाको दास बनाना और उन दासोंसे धन उपार्जन करवाकर विजयसे लाभ उठाना। मध्यवर्त्तीकालमें युद्ध-विजयका साफ़ मतलब कमसे कम लूट ले जाने योग्य माल सोना चाँदी हीरा

जवाहिर था जो तुरन्त मिलता था, तथा भूमिका विजयी सरदारोंमें बट जाना भी था जैसा कि नार्मन-विजय आदिमें हुआ।

इस कालके अनन्तर, विजयसे कमसे कम विजयी जातिके राज्यवंशको अवश्य लाभ होता रहा, और कई सदियोंतक प्रधानतः लागी राजाओंके परस्पर धाक और बलकी लागडाट थी जिससे युद्ध हो जाया करते थे।

इसके अनन्तर भी सभ्यताके सम्पूर्ण अंगको—केवल विजयी देशको नहीं—(कभी कभी) जंगली लोगोंको पराजित करके अराजकतासे सुराज स्थापित करनेमें लाभ पहुंचता रहा। तदनन्तर जब नव-ज्ञात भूमिमें उपनिवेश बनाने लगे, ऐसी भूमिपर जाति विशेषके पूर्वक्रयाधिकार (हक़ शुफ़ा) मिल जानेसे उस जातिके नागरिकोंको यह लाभ हो गया कि अपने देशकी अत्यन्त बढ़ती हुई आबादीके लिए वासस्थान मिल गया। वह भी ऐसा कि यदि वह पराये देशोंमें बसते तो परजातियोंके निश्चित सामाजिक और राजनीतिक बन्धनोंको स्वीकार करना पड़ता; उन विदेशोंकी अपेक्षा उपनिवेश अधिक सुखकर ठहरा। परन्तु जिस प्रश्नपर हम विचार कर रहे हैं, उससे इन दशाओंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। हमारा सम्बन्ध है उन पूर्ण सभ्य प्रतिस्पर्धी जातियोंसे जो पूर्ण-भुक्त देशोंमें रहती हैं, वा उस सभ्यतासे जो ऐसी दृढ़तासे गढ़ी हुई है कि विजयसे उसके रूपमें सुस्पष्ट परिवर्त्तन नहीं हो सकता। और ऐसे देशके विजयसे विजेताको कोई ऐसा वास्तविक लाभ नहीं हो सकता जिसे वह बिना विजयके प्राप्त न कर सकता। और ऐसी दशामें—आजकलकी राजनीतिक दुनियाके वास्तविक रूपमें—"अधिकार", "प्रभुत्व", "दबाव", या "समुद्रपर राज्य" इनमें एक भी उद्योगमें व्यापारमें या साधारण प्रजाके कल्याणमें सहायक नहीं हो सकता। हम पचास ड्रेडनाट और बना लें परन्तु सम्भव है कि उसके प्रभावसे एक सूई भी अधिक न बेच सकें। हम कल ही जर्म्मनी जीत लें और परिणाम यह हो कि इस जीतसे और युद्धक्षतिपूरणको लेकर भी किसी अंग्रेजको एक रुपयेका लाभ न हो।

दशाएं क्योंकर ऐसी बदल गयीं, क्या बात है, कि जिन शब्दोंका प्रयोग प्राचीनकालमें किसी एक अर्थमें होता था—एक अर्थमें तो

कमसे कम माध्यमिक कालमें और दूसरे भावमें उस राजनीतिक पुनरुत्थानकालमें जिसमें महा-ब्रिटेनको साम्राज्य प्राप्त हुआ—उनका प्रयोग संसारकी वर्त्तमान दशामें किसी अर्थमें नहीं हो सकता? किसी राज्यका अपनी प्रजाके कल्याणार्थ किसी अन्य जातिको जीतकर उसकी सम्पत्ति ले लेना कैसे असम्भव हो गया? यह बात कैसी असंगत है [जो ब्रिटिश साम्राज्यसे ही सिद्ध होती है] कि विजयिनी प्रजा विजयके पश्चात विजित देशसे उतना भी लाभ नहीं उठा सकती जितना विजयके पहले उठा सकती थी!

इस स्थानपर मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि मैं इस परिवर्त्तनके सबही कारणोंकी समालोचना करूँ, क्योंकि जिस बातको मैं सिद्ध करना चाहता हूं उसके लिए केवल एक ऐसी घटनाकी ओर ध्यान दिलाना बहुत है जो उन कारणोंसे उत्पन्न हुई है और जो किसीको भी अस्वीकार नहीं है—अर्थात् आधुनिक संसारमें भिन्न भिन्न जातियोंका परस्पर माली सम्बन्ध। परन्तु मैं यहां उस विषयकी थोड़ी सी चर्चा अवश्य ही कर दूंगा यद्यपि इस ग्रन्थमें आगे जाकर उसका समावेश होगा। यहां मैं पहले उन शक्तियोंकी ओर इशारा भर कर दूंगा जो एक महती घटनाकी परिणामरूपा हैं, अर्थात् आवाजाईकी सुविधासे श्रम विभागका बढ़ जाना।

जिस समय श्रम विभाग ऐसी संकुचित दशामें था कि हरेक गावँ अपनी आवश्यकताभर सब चीज़ें तय्यार कर लेता था, उस समय यदि अठवारों वा महीनोंके लिए किसी गावँसे सारे संसारसे कोई सम्बन्ध न रहे तब भी कोई हर्ज न था। उस गावँके आसपासके सब ही गावँ यदि आपत्तिमें पड़ जायँ या तहस नहस कर डाले जायँ तो भी उसे कोई कठिनाई न थी। परन्तु यदि रेल-वालोंकी हड़तालसे कुछ नहीं तो दो ही दिनके लिए आज विला-यतके एक जिलेका औरोंसे आर्थिक सम्बन्ध टूट जाय तो तुरन्त दुर्भिक्ष पड़ जाय और सारी प्रजा भूखों मरने लगे। जब इंगलैंडपर डेनोंका राज्य था, यदि उस समय किसी मंत्रबलसे सारे विदे-शियोंको (डेनोंको) इंगलैंडवाले नष्ट कर डालते तो अवश्य उनका कल्याण होता। यदि आज वह ऐसा करें तो आधी प्रजा भूखों मर जाय। एक सरहदपर यदि गेहूंकी पैदावार होती है और दूसरी पर कोयलेकी, तो प्रत्येकका कल्याण, प्रत्येकका जीवन, दूसरेके

कारबार चलते रहनेपर निर्भर है। खानिवाला एक अठवारेमें काम लगाकर गेहूं नहीं उपजा सकता और किसानको गेहूं तय्यार होनेकी बाट देखनी पड़ेगी और तबतक बाल-बच्चोंको खिलाना भी पड़ेगा। यह अदल-बदल जारी रहना चाहिए और यह साफ़ और स्पष्ट भरोसा रहना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति समयानुसार अपने परिश्रमके मीठे फल चखेगा, नहीं तो दोनों ही भूखों मर जायँगे। और यही अदलाबदली, यही भरोसा, बहुत मोटी तरहपर व्यापार और साखके ठीक अर्थको खोलता है। और जिस परस्पर सबन्धका यहां इशारा किया गया है वह शीघ्र आवाजाई, तार चिट्ठी आदिके अगणित भांतियोंसे बढ़ जानेके कारण ऐसी विकट और उलझी दशामें पड़ गया है कि किसी भी कार्य्यमें दखल देनेसे केवल उन्हीं लोगोंपर उसका प्रभाव नहीं पड़ता जिनका घनिष्ट सम्बन्ध है, प्रत्युत उन असंख्य लोगोंपर भी उसका प्रभाव पड़ता है जो ऊपरसे देखनेमें सर्वथा असम्बद्धसे प्रतीत होते हैं।

जिस महत्वके पारस्परिक सम्बन्धका, अन्योन्याश्रयका, ऊपर वर्णन हुआ है जो सरहदसे सरहदतक व्यापक है, वह इधरके चालीस वर्षोंका ही काम है। और इस थोड़ेसे कालमें इतना बढ़ गया है कि संसारकी राजधानियोंमें परस्पर एक विकट मस्ली सम्बन्ध हो गया है, जिसका यह परिणाम है कि यदि निउयार्कमें कोई गड़बड़ हो तो लंडनमें भी माली और व्यापारी हलचल मच जायगी, और यदि यह गड़बड़ गहरी हो तो लंडनवाले साहूकार निउयार्कवालोंको लाचार होकर सहायता देंगे कि झमेला मिट जाय—सो भी किसी भ्रातृभाव वा परमार्थकी दृष्टिसे नहीं, किन्तु अपने अपने व्यापार की रक्षाके लिए। आधुनिक लेनदेनके विषम सम्बन्धसे निउयार्कको लंडनका, लंडनको पैरिसका, पैरिसको बरलिनका, इतना बड़ा भरोसा करना पड़ता है जितना अभीतक इतिहासमें कहीं देखा नहीं गया। यह परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध सभ्यताके उन यंत्रोंके सदैवके प्रयोगसे उत्पन्न हो गया, जिनका अभी कल्ह ही निर्म्माण हुआ है, अर्थात् तेज़ डाक, और तार जिसके द्वारा माली और व्यापारी समाचार पलक भांजतेमें पहुँच जाते हैं, और आपसकी आवाजाई और तार-चिट्ठीके उपायोंमें ऐसी शीघ्रतासे उन्नति होना जिसका जल्दी विश्वास नहीं होता, जिसके

द्वारा युरोप और अमेरिकाकी राजधानियोंमें परस्पर ऐसा समीप-वर्त्ती सम्बन्ध हो रहा है, ऐसा परस्पर आश्रय है जैसा सौ वर्षके भीतर ही भीतर इंगलैंडके ही नगरोंमें नहीं था।

एक प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक एक माली पत्रिकामें यह विचार प्रकट करता है—

शिल्पकलाकी अति शीघ्र उन्नतिके कारण साहूकारीके कारबारको भी बीचमें पड़ जाना ही पड़ा और अब साहूकारी शिल्पकलाका जीवनस्रोत सी हो रही है और अपना अधिकार अवश्य ही जमावेगी। माली लेनदेनके प्रभावसे शिल्पकला अपनी जातीयताको धीरे धीरे खोती और सार्वभौमिक रूप धारण करती जाती है। स्पर्धी जातियोंका परस्पर वैरभाव भी पारस्परिक सम्बन्धके घनिष्ठ होते होते घटता दिखायी पड़ता है। अभी हालमें जो औद्योगिक और माली संकट पड़ा था* उसमें इस घनिष्ठ सम्बन्धका अपूर्व रीतिसे प्रकाश हुआ था। इस संकटने अमेरिका और जर्म्मनीमें तो महाविकट रूप धारण किया था और इससे स्पर्धी जातियोंको लाभ तो दूर रहे बड़ी हानि हुई। इंगलैंड और फ्रांस जैसे देशोंके स्पर्धियोंको भी, अमेरिका और जर्म्मनीका सा घनिष्ट सम्बन्ध न होनेसे, यद्यपि उनसे कुछ कम हुई, तथापि हानि अवश्य हुई। यह बात न भूले कि दूसरे देशोंके उद्योग-व्यापारमें अपना माली सम्बन्ध थोड़ा हो चाहे बहुत, किन्तु प्रत्येक पैदा करनेवाला देश एक ही कालमें उद्योगी और स्पर्धी, बेंचनेवाला और खरीदनेवाला दोनों होता है। माली और व्यापारी एकता व्यापारी और औद्योगिक लाग-डाटके जोरसे ही बढ़ती जाती है। बरस दो बरस हुए जर्म्मनी और फ्रांसमें मराकोके बारेमें जो लड़ाई छिड़ते छिड़ते रुक गयी और अलजेसिरसवाली* जो संधि हुई उसका प्रधान कारण यही बात थी। जिन लोगोंने इस विषयपर विचार किया है उनको इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता कि हमलोग कुछ भी करें इस अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक घनिष्टताकी बाढ़को रोक नहीं सकते। हममेंसे किसीके विज्ञात कर्म्ममें यह बात न तो पैदा हुई है और न किसीके विज्ञात कर्म्मसे रोकी जा सकती है।†

एक गरम देशभक्तने लंडनके किसी समाचारपत्रमें यह प्रकाशित कराया था—

जो बकवादी लोग इस समय चार और ड्रेडनाटोंके निर्म्माण-व्ययपर चिल्ला रहे हैं, वह अभी नहीं समझते कि बुद्धिमान लोग उनके विरोधको क्यों व्यर्थका

---

* इस पुस्तकके अन्तमें पाठकगण "संकट" शब्दपर टिप्पणी देखें।

† *L'Information*, August 22, 1909.

राजद्रोह समझते हैं। यह उन्हें तब सूझेगी जब इंगलैंडके बंकके तहखानोंको जर्म्मन सेना लूटने लगेगी और हमारी जातीय सम्पत्तिकी जड़ बुनियाद्को उखाड़ कर ले जाने लगेगी।

जर्म्मन सेना लंडनमें ऐसा करे तो क्या परिणाम होगा? पहला असर तो यह अवश्य होगा कि विलायतके और सब बंकोंका काम बन्द हो जायगा क्योंकि इंगलैंड बंक और सब बंकोंका बंक है। परन्तु साथ ही साथ जर्म्मन महाजनोंपर भी इसका असर पड़ेगा क्योंकि उनका भी लेनदेन लंडनमें है। लंडनके बंकका दिवाला निकलनेपर संसारकी सारी साहूकारीमें हलचल पड़ जायगी और इंगलैंडबंककी लूटके धक्केसे सँभलनेके लिए जर्म्मनीमें महाजनोंका जितना रुपया अटका होगा सबके सब उगाहने लगेंगे। जर्म्मन साहूकारीमें इससे जितनी गड़बड़ी पड़ेगी वह लंडनकी लूटसे कम भयंकर न होगी। चाहे लंडनकी लूटवाला जर्म्मन सेनापति अट्टिलाकी* ही तरह असभ्य क्यों न हो, परन्तु उसे अपनी और अट्टिलाकी स्थितिमें अन्तर अवश्य दिखेगा। अट्टिलाके सौभाग्यसे उसे अंक-बंकके झगड़ोंसे सम्बन्ध नहीं था। परन्तु जर्म्मन सेनानायकको यह सूझ पड़ेगी कि मैंने ज्यों ही इंगलैंड बंकको लूटा त्यों ही जर्म्मन बंकवाली मेरी जमा जत्था भी हवा हो गयी और मेरी बड़ीसे बड़ी लगायी हुई जमापर पानी फिर गया, बाजीगरके रुपयोंकी नाईं रकमकी रकम उड़ गयी, एवं लूटकी लालचसे जिसमें सिपाही पीछे दो चार मोहरसे अधिक न पड़ेगा अपनी बहुत सारी घरकी पूंजी भी खो गयी। यह बात तो सर्वथा निश्चय है कि यदि जर्म्मनसेना ऐसी जंगली लूट मचावे तो जर्म्मनीमें एक भी बड़ी संस्था न होगी जो बड़े घाटेसे बच जाय—साख ऐसी बिगड़ जायगी, कारबार ऐसा उखड़ जायगा कि उसकी अपेक्षा लूटके लाभकी दो कौड़ीकी भी

---

* ईसाकी पांचवी शताब्दीमें (Attila) अट्टिला नामक एक बड़ा जगद्विजयी हुआ हो गया। उसकी क्रूरताके कारण युरोपियन उसे "दैवी उपद्रव" कहते थे। उसकी महती सेनामें फ़िरंग (Franks), वंडाल (Vandals), अस्त्रजाटादि (Ostrogoths) अनेक जातियां थीं। युरोपमें उसे कहीं हार नहीं हुई। अन्तको फ्रांसमें चालोंसके [Chalons] महायुद्धमें जब उसने अपने वैरी [Theodoric] थियोडोरिकको मार डाला, तो थियोडोरिकके वीर पुत्रने अट्टिलाकी सारी सेनाका सर्वनाश कर डाला। अट्टिलाने अपना जीवन लूटमारमें ही बिता दिया। (अनुवादक)

हैसियत न होगी* । यह कहना अत्युक्ति न होगा कि इंगलैंडसे जितने मोहर लिये जायँगे उनके एक एकके बदले कई कई जर्म्मन व्यापारको देना पड़ेगा । जर्म्मनीके साहूकारोंमें जितनी शक्ति होगी, उतनी शक्तिसे जर्म्मन-व्यापार-घातिनी दशाको दूर करनेके लिए वे जर्म्मन-सर्कारपर पूरा प्रभाव डालेंगे और जबतक जर्म्मन-सर्कार इस बातका जिम्मा न लेगी कि साधारणतः इंगलैंडकी प्रजाकी जानमाल और विशेषतः बंकोंके नकद्की रक्षा की जायगी, तबतक जर्म्मन साहूकारीका एकदम टाट उलटे बिना नहीं रह सकता । सचमुच जर्म्मन आततायियोंको आश्चर्य्य होगा कि भला यह युद्ध हमने किया ही क्यों, और उनके खूनकी गरमीको शान्त करनेके लिए ब्रिटिश-जल-बलके महत्वकी अपेक्षा इस अवसरपर प्राप्त किया हुआ अन्तर्राष्ट्रीय साहूकारीका एक छोटा सा पाठ पढ़ा देना अधिक गुणकारी होगा । क्योंकि यह साधारण स्वभाव है कि जितनी जल्दी मनुष्य लड़नेको तय्यार हो जाता है उतनी जल्दी देनेको मुस्तैद नहीं होता । रुपया दे देनेके बदले अपनी जान जोखिममें डाल देनेको जल्दी तय्यार हो जाता है । रुपया पैदा करनेमें भी यही बात है । ब्रेकनने क्या ठीक कहा है कि बहुत कालतक पीड़ा सहनेकी अपेक्षा जोखिममें पड़ जाना मनुष्यको अधिक प्रिय है ।

कारबारी लोगोंको अभी वह घटनाएं भूल न गयी होंगी जिनसे यह स्पष्ट होता है कि आजकलकी माली दुनियामें सबके सब उद्योगी देश असाधारण रीतिसे जकड़े हुए हैं। निउयार्कमें मालीसंकट पड़नेपर अंग्रेजी बंकोंके सूदकी दर झटपट सात रुपये सैकड़े चढ़ गयी जिससे ऐसे ऐसे धंधोंका पटरा पड़ गया जो कठिनसे कठिन कालमें किसी न किसी भांति सँभल ही जाते । सो, बात ऐसी ही है कि यदि माली दुनियाका कोई अच्छा भाग संकटमें पड़ जाय तो दूसरा भाग लाचार होकर, अपनी इच्छाके प्रतिकूल ही सही, बचानेको अवश्य दौड़ेगा ।

अन्तर्राष्ट्रीय साहूकारीपर एक नये अत्यन्त सरल और मनोहर ग्रंथसे† मैं नीचेके सार-गर्भित वाक्योंको उद्धृत करता हूं—

---

* बड़ी भारी हानि संभव है क्योंकि इंगलैंडबंकमें नकद लेनदेनकी अपेक्षा नकद जमा कम रक्खी रहती है ।

† Hartley Withers, "The Meaning of Money." Smith, Elder and Co., London.

समस्त देशोंमें साहूकारी ऐसी परस्पर जकड़ी हुई है कि बुरेसे बुरोंकी भूलसे जो कहीं कोई बदनामी हो गयी तो अच्छेसे अच्छे शक्तिमानको बलहीनकी पूरी सहायता करनी पड़ेगी। जैसे भीड़से कसी हुई गलीमें पैरगाड़ीपर चलनेवाला अपनी प्राणरक्षामें केवल अपनी ही चतुराईपर नहीं किन्तु भीड़की चालपर भी भरोसा करता है। (वाल-स्ट्रीट संकटके समय) अपनी रक्षाके ही उद्देश्यसे जर्म्मन बंकोंने लाचार हो अमेरिकावालोंकी अड़चनपर उनके यहां अपना रुपया जाने दिया। यदि वह कठिनाई इतनी बढ़ जाती कि इस विषयमें लंडनको अपनी सुविधाओंको संकुचित करना पड़ता, तो और भी मुख्य मुख्य स्थान जो अपनी बचतकी रकम लंडनमें जमा रखते हैं और उसे उतना ही सोना समझते हैं— क्योंकि लंडन-बंकके नाम चेक या ड्राफ़्ट अशरफियोंके बराबर समझा जाता है— अपनेको अत्यन्त शोचनीय दशामें पाते। इससे यही परिणाम निकलता है कि जो सुविधा केवल लंडनसे प्राप्त हो सकती है उससे लाभ उठानेवाले जितने मुख्य मुख्य स्थान हैं उनकी भलाई इसीमें है कि वह यह चौकसी रक्खें कि लंडनपर इतना बोझ न पड़े कि उठ न सके। उन विदेशियोंके बारेमें, जो अपनी जमाको लंडनमें रखते हैं यह बात अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुतः जो रुपया निउयार्कवाले संकटमें लंडनने दिया वह सत्रह भिन्न भिन्न देशोंसे खिंचकर गया था।........."

इसी अवसरपर यदि हम यह कहें तो अनुचित न होगा कि अंग्रेजी साखकी रक्षामें जर्म्मन व्यापारका विशेष रीतिसे लाभ है। जिसका प्रमाण अभी ऊपर दिया गया है उसका कथन है—

यहांतक बहस की जाती है कि यद्यपि जर्म्मन व्यापार ग्राहकोंके इच्छानुसार चलकर और भावको अनुकूल रखकर ही प्रायः चलाया गया तथापि यदि लंडनकी साखसे उसे सहायता न मिलती तो इतना शीघ्र उसका विस्तार न होता।...... जर्म्मनोंसे कोई इस बातपर लड़ नहीं सकता कि अपने व्यापारकी वृद्धिमें इन्होंने हमारी दी हुई साखसे क्यों काम लिया, यद्यपि उनकी साखवाली सुबिधा सीमासे बाहर फैलकर ऐसे फल फल रही है जिसे उनके सिवाय दूसरे भी चखते हैं।...............

हमें आशा है कि हमारे जर्म्मन मित्र सर्वथा कृतज्ञ हैं और हमें इस भ्रममें भी न पड़ना चाहिए कि इस सहायतासे हमने सदाके लिए अपनी हानि की है। इसमें संसारभरकी आर्थिक भलाई है कि शिल्पको उत्तेजना दी जाय और संसारभरकी आर्थिक भलाईमें ही इंगलैंडकी आर्थिक भलाई है क्योंकि इंगलैंडका व्यापार सारे संसारमें फैला हुआ है। अंग्रेजी साखकी सहायतासे जैसे जर्म्मनीने पैदावारके वेगको बढ़ा दिया है, संसारके आर्थिक-दृष्टिसे-सभ्य-समझे-जानेवाले सभी देशोंने

किया है। वास्तवमें यही बात है कि सभी देश, यहांतक कि ब्रिटिश उपनिवेश भी, ब्रिटिश पूंजी और साखसे अपने सम्पत्ति-साधनोंको बढ़ाते हैं और फिर ब्रिटिश मालपर ही कड़ा महसूल लगाकर उसकी बिक्री रोकते हैं। यह बात ओछी दृष्टिसे देखनेवालेके समीप ऐसी लगती है कि इंगलैंड अपने व्यापारको मानों नष्ट करनेके लिए अपनी पूंजी लगाता है। परन्तु वस्तुतः इसका उलटा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि यह देश जो ब्रिटिश पूंजीसे अपनी सम्पत्तिवृद्धि करते हैं, सो विदेशको मालकी निकासी बढ़ाने और अंग्रेजोंके हाथ बेचनेके लिए सारे उपाय करते हैं; और अबतक ऐसा आर्थिक भ्रातृभाव तो हुआ नहीं है कि बेदामकौड़ी माल दे दें, सो उनकी पैदावारकी बढ़तीके साथ साथ अंग्रेजोंके माल और मेहनतकी अधिकाधिक मांगका होना भी नितान्त आवश्यक है। इस बीचमें अंग्रेजोंकी पूंजी और साखपर सूद और हुंडियोंके लाभसे अंग्रेजोंके जातीय आयमें बेदाग वृद्धि होती जाती है।"

परन्तु इस स्थितिका और भी एक उपसिद्धान्त यह है कि जर्म्मनी पहलेकी अपेक्षा अब अधिकाधिक ब्रिटेनका ऋणी है और उसकी औद्योगिक सफलता ब्रिटिश मालकी रक्षाके संग संग जकड़ी हुई है।

यदि यह देश किसी दिन समरमें जर्म्मनीपर विजयलाभ करे तो उसके दूसरे दिन ब्रिटेनमें क्या स्थिति होगी?

मैंने एक लेख देखा है जिसमें विजयी ब्रिटिश बेड़ेका हम्बर्गके स्वतन्त्र बन्दरको दखल कर लेना सम्भव बताया गया है। हम मान लेते हैं कि ब्रिटिश-राज्यने ऐसा किया है और दखल और ज़ब्त की हुई जायदादका हिसाब करनेका विचार है।

यह जायदाद जीतके पहले दो तरहकी थी। कुछ तो जर्म्मन या हम्बर्ग राज्यकी थी और कुछ प्रजाकी व्यक्तिगत स्वत्वाधिकारमें थी। पहली अर्थात सर्कारी जायदादकी आमदनी जर्म्मन गवर्नमेंटके कुछ स्टाकोंपर सूद देनेके लिए नियुक्त थी, सो ब्रिटिश सरकारकी दखलसे वह स्टाक करीब करीब रद्दी हो गये, और गवर्नमेंटके सिवाय अन्य कम्पनियोंके हिस्से तो बिलकुल ही रद्दी हो गये। उन कागजोंको अब कोई मोल न लेगा। परन्तु यह कागज भिन्न भिन्न रूपोंमें आनुसंगिक वा अन्यरीतिसे बहुतसे बड़े बड़े बंकों और बीमाकम्पनियोंके पास हैं, तथा और और कारबारियोंके पास भी हैं, और इस तरह उनकी कीमतके एकाएकी गिर जानेसे

उन कागजोंकी मातवरी मिट्टीमें मिल गयी। इसका प्रभाव केवल जर्म्मनीकी ही साखवाली संस्थाओंपर पड़ता किन्तु इस कारणसे कि ये संस्थाएं अधिकांश लंडनकी ऋणी हैं; अंग्रेजी संस्थाओं-पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। लंडन एक और तरहपर भी फंसा हुआ है। पूर्व कथनानुसार बहुतेरी बाहरी कारवारी कम्पनियां भी लंडनमें अपनी जमा रखती हैं, और अब जो ब्रिटिश सरकारने जर्म्मनीमें आर्थिक-संकट उत्पन्न कर दिया है, इससे लंडन बंकसे लोग अपनी अपनी जमा निकाल रहे हैं। लंडनको अब दो प्रकारसे कष्ट पहुंच रहा है और यदि इतनेपर भी सारी ब्रिटिश साहूकारी ब्रिटिश सरकारके इस आचरणका विरोध न करे तो एक अस्वाभाविक चमत्कार समझो। कुछ भी हो मान लो कि सर्कार इस कीचड़में फंसकर किसी न किसी तरह काम संभालनेके लिए जायदादपर अपना क़बज़ा क़ायम रखती है और संग्रामकी हानिके पीछे फिर अच्छी दशामें लानेके लिए करजा लेनेका उपाय करती है। किन्तु यह देखकर कि लड़ाईके पहलेके कागज तो ब्रिटिश सर्कारकी काररवाईसे रद्दी हो गये और उस जायदादमें ब्रिटिश साहूकार लोग पहले ही धोखा खा चुके हैं, अन्य देशोंके बंक भी सहायता देना स्वीकार नहीं करते। इन्हीं कारणोंसे रुपया अब मिलता भी है तो इतने अधिक व्याजपर, कि यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सर्कारी कारबारके रूपमें इस नयी जायदादमें टोटा ही टोटा है। अब यह प्रयत्न किया जाता है कि उस जायदादको ब्रिटिश और जर्म्मन कम्पनियोंके हाथ बेंच दिया जाय। परन्तु रक्षाहीनताका भय इस सारे कारबारमें बेतरह लगा हुआ है। ब्रिटिश वा जर्म्मन कोई साहूकार इस बातको भूल नहीं सकता कि इस जायदादके हिस्से और स्टाकके कागज सबको सरकारने रद्दी कर दिया है। अव ब्रिटिश सर्कारको वस्तुतः मालूम हो गया कि जबतक जायदादके पूर्व-स्वत्वाधिकारियोंका, अगले मालिकोंका अधिकार पहले ही ब्रिटिश सर्कार स्वीकार न कर लेगी और इस बातका निश्चय न करा देगी कि विजित देशभरमें जायदादपर सब किसीके स्वत्वकी पूर्ण रक्षा होगी तबतक माली दुनियामें उसका कारबार चल ही न सकेगा। सबका परिणाम यह हुआ कि ज़ब्ती चल न सकी, ज़ब्ती असंभव है।

है विजेता लोग ब्रिटिश प्रजाको अपना दास बनाकर जर्म्मन स्वामियोंके लिए कोड़े और गोली मार मारकर काम लेंगे। उन्होंने हिसाव लगा रक्खा था कि विजेताको कितना लाभ होगा। अस्तु, क्रमशः देखिये! ब्रिटेनकी प्रजाको अपनी मजदूरी खर्च करनेका अधिकार न होगा अथवा वह अपने लिए कुछ थोड़ा ही सा खर्च कर सकेंगे। उनको दासोंका सा भोजन मिलेगा जो मात्रामें कम होगा और मजदूरीका अधिकांश जर्म्मन-स्वामियोंका होगा। परन्तु यह आमदनी जिससे जर्म्मनोंके मुंहमें पानी आ रहा है कैसे होगी—रेलवे लैनके हिस्सोंका, पुतलीघरोंका, खानियोंका, अन्न-वस्त्रादि सम्बन्धी तथा खेल तमाशेकी कम्पनियोंका मुनाफ़ा कैसे और कहांसे आवेगा? मुनाफ़ा तो यों आता है कि प्रजा पेटभर खाती शौकभर पहनती रेलोंपर सुखसे यात्रा करती और नाटकों और खेल तमाशोंका आनन्द लूटती है। यदि यह सब न करने पाएगी अर्थात् इन बातोंमें यदि धन-व्यय न करेगी तो मुनाफ़ा होगा कहांसे? तेल तो तिलसे ही निकलेगा। मुनाफ़ा भी तो इनसे ही मिलता था। जर्म्मन-स्वामी जो यह मुनाफ़े चाहें तो उन्हें लाचार हो उनके पैदा होनेका मौका देना पड़ेगा, अर्थात् प्रजा जैसे रहती थी वैसे ही रहने देना होगा—अर्थात् प्रजा अपनी कमाई अपने-लिए ही काममें लावेगी—और यदि प्रजा अपनी कमाई आप लेगी तो स्वामियोंको मिला क्या? बात यह है कि खर्च होना भी लाभका एक अपरिहार्य कारण है। खर्च बन्द तो मुनाफ़ा भी बन्द। सो यह मृगतृष्णाभ्रम, यह सीपमें चांदीका आभास जिसपर हमारा वैरी लट्टू होकर चढ़ आया था उच्छिन्न* हो गया। इसीसे कहते हैं कि हमारी सम्पत्तिपर कोई हाथ नहीं लगा सकता। यदि यह अस्पृश्यता नहीं है तो क्या है? साधारण और स्थूल रीतिसे यह कहना पड़ेगा कि हमारे समयके विजेताको केवल दो मार्ग खुले हुए हैं, या तो वह कोई छेड़छाड़ करे ही न, और ऐसी दशामें अपने देशको

* मुझे मालूम है कि अर्थशास्त्री इसपर यह आपत्ति ला सकता है कि इसमे वह मुनाफा नहीं आया जो आर्थिक मालगुजारी वा लगानसे आता है। जो लोग संसारके कार्य्योंकी वास्तविक दशासे भली भांति अभिज्ञ है वड़ी सुगमतासे यह समझ सकते हैं कि वस्तुतः एक जातिसे दूसरीके पास इस मुनाफ़ेका जाना सैन्यबलसे वैसा ही अकरणीय है जैसे उपर्युक्त और सब बातें। अगले तीन अध्यायोसे यह बात भी कुछ कुछ स्पष्ट हो जायगी।

छोड़ अन्य देशपर चढ़ाई करनेका उसे कोई काम ही नहीं है; या वह छेड़छाड़ करके किसी न किसी रूपमें जब्ती करे, और यों जिस लाभके लोभसे उसने आक्रमण किया उस लाभकांक्षाको ही सुखा दे। आगेके अध्यायोंमें यह बात दिखलायी जायगी कि जब एक संकीर्ण औद्योगिक महाजाति किसी दूसरी जातिको लूटकर और उसका लोहू चूस कर लाभ उठाया चाहती है उस समय सम्पत्तिकी अस्पृश्यता ही क्षतिपूरण, राज्यकर, स्वाधीन हाट आदि विजयके जितने साधन हैं सबको बिलकुल व्यर्थ कर देती है।

पांचवां अध्याय

विदेशी व्यापार और सैन्यबल

सैन्य शक्तिसे व्यापारका अवरोध वा नाश क्यों नहीं हो सकता—व्यापारके तरीके क्या हैं और उसपर जल-थलका क्या प्रभाव है—ड्रेडनाट और कारबार—कल्पित जर्म्मन युद्ध-पोतोंसे ड्रेडनाट्सद्वारा व्यापार-रक्षा होते हुए भी वास्तविक जर्म्मन स्विस वा बेल्जियन बनिये उसे हरे लिये जाते हैं—सैन्यविजयके व्यर्थ होनेका वास्तविक रहस्य—सरकारका अपहरण वैसा ही लाभ रहित होता है जैसा तस्करद्वारा अपहरण—सरकारके वाणिज्य विषयक न्याय्याचारका वास्तविक मर्म्म ।

जैसे हरिसेन साहबके कथनानुसार ब्रिटेनके पराजयसे उसके समस्त वाणिज्य और व्यापारपर सर्व-ग्रहण लग जायगा और चार करोड़ निवासियोंकी भुक्तिका उपाय सर्वथा नष्ट हो जायगा; वैसे ही एक मुख्य अंग्रेजी सामयिक पत्रमें भी मैंने देखा है कि "यदि कल्ह ही जर्म्मनीका निर्व्वाण हो जाय तो परसों संसारमें एक भी अंग्रेज न होगा जिसे अर्थलाभ न हुआ हो। एक एक नगरके लिए वा किसी व्यक्ति विशेषके राज्याधिकारके लिए राष्ट्रोंने वर्षों युद्ध किया है। फिर पौनेचार अरब रुपया वार्षिक व्यापारके लिए लड़ जायँ तो क्या कोई अनहोनी बात है ?

जर्म्मनीके "निर्व्वाण"का क्या अर्थ है ? क्या यह मतलब है कि हम विना कारण, विना प्रकोपन, छ सात करोड़ स्त्री पुरुष और बच्चोंका सिर काट लेंगे ? यदि नहीं, तो सारा जर्म्मन बेड़ा और सम्पूर्ण सेना नष्ट हो जाय तो भी देशके छ करोड़के लगभग परिश्रमी प्राणी बच ही जायंगे जो अनाहारादि महादुःखोंसे पीड़ित होकर और भी अधिक व्यवसायी हो जायंगे—उद्यत होकर खानियों और कारखानोंसे, पूर्ण चातुर्य्य, परिश्रम और मितव्ययद्वारा यथा-सम्भव पहलेकी अपेक्षा और अधिक धनोपार्जन करेंगे—और इन्हीं कारणोंसे वह कमसे कम पहलेकी भांति हमारे व्यापार-स्पर्धी बने ही रहेंगे—सेना हो वा न हो, जंगी बेड़े रहें वा न रहें।

अगर हम जर्म्मनीको नष्ट कर भी सकें, तो अपने ऋणियोंके ऐसे बड़े विभागको नष्ट कर देंगे जिससे लंडनमें अनिवार्य्य और भयानक उद्वेग फैल जायगा जिसका हमारे ही व्यापारपर ऐसा

अनिष्ट प्रभाव पड़ेगा कि निष्पक्ष हाटोंमें जर्म्मनीकी सी स्थिति भी हमारे व्यापारको प्राप्त करना असम्भव हो जायगा। और यह बात अलग ही रही कि जर्म्मनीके नष्ट होनेसे हमारी एक ऐसो बड़ी हाट नष्ट हो जायगी जिसकी बराबरी कनाडा और दक्षिणीय अफ्रिका दोनों मिलकर शायद ही कर सकते हों।

इसका मतलब क्या है? क्या यह सोचना मेरी भूल है कि इस वादविवादमें उन निरर्थक शब्दोंने हमारी भाषापर अधिकार जमा रक्खा है जिनका सार्थक सम्बन्ध भूतकालकी घटनाओंसे था परन्तु अब न वह दशा रही न वह अर्थ रहे, पर अर्थहीन शब्द ज्यों के त्यों रह गये?

हमारे देशभक्तजी कदाचित यह कहें कि हमारा मतलब "सदैवके लिए नाश" नहीं वरन "थोड़े कालके लिए ही सर्वनाश होना" है। (और इसी ढंगसे दूसरे पक्षमें भी इसका अर्थ सदैवके लिए नहीं वरन थोड़े ही कालके लिए उस पौनेचार अरबके व्यापारका पाना है।)

हरिसेन साहबकी भांति बातको वह यों उलटकर कहते हैं कि जर्म्मनीका समुद्रपर अधिकार हो जाय तो वह हमारे गाहकोंसे हमको बिलकुल अलगकर सकता और हमारे व्यापारको अपने नफ़ेके लिए बीचसे ही रोक सकता है। यह विचार भी वैसा ही ऊटपटांग है जैसा पहला। यह बात सिद्ध की ही जा चुकी है कि साखके एक दमसे नष्ट हो जानेसे और माली दुनियामें बेहद गड़-बड़ हो जानेसे—जो मिस्टर हरिसेनकी दूरदर्शितानुसार जर्म्मन आक्रमणका अनिवार्य्य परिणाम होगा—जर्म्मन साहूकारी भी अछूती नहीं बच सकती। इसमें यह प्रश्न हो सकता है कि जर्म्मनीमें हमारी गड़बड़ीके समान ही बड़ी गड़बड़ी पड़ेगी या नहीं। कुछ भी हो वह गड़बड़ी ऐसी बड़ी होगी कि उसके शिल्पीय उद्योगको बिलकुल उलट पलट देगी और ऐसी अव्यवस्थित दशामें—इंगलैंडके पराङ्मुख रहते जो हाटें खाली रह जायंगी उनमें जर्म्मनीका माल पहुंचा पाना तो स्वप्नमें भी संभव नहीं है। इसके सिवाय वह हाट भी तो अव्यवस्थित हो जायँगी क्योंकि वह भी इंगलैंडकी क्रय-क्षमतापर निर्भर हैं और उस क्रयक्षमताको नष्ट करनेके भरपूर प्रयत्नमें जर्म्मनी लगा होगा। इस स्व-निर्मित

अव्यवस्थासे जर्म्मनीको कोई लाभ न हो सकेगा। अपने ही व्यापारके लिए घातक माली अव्यवस्थाको जिन दोषोंसे जर्म्मनीने पैदा किया उनको दूर करनेसे ही—ब्रिटिश व्यापारकी रुकावट हटा देनेसे ही—वह अव्यवस्था मिट सकती है।

प्रस्तुत विषयके इस पत्तमें हम दो बातें पूर्ण निश्चयसे कह सकते हैं; (१) जर्म्मनी हमारी आबादीको समूल नष्ट करके ही हमारे व्यपारको नष्ट कर सकता है और (२) यदि वह हमारी आबादीको नष्ट कर डाले, जो असंभव है, तो वह अपनी एक बड़ी विस्तृत और बहुमूल्य हाटको नष्ट करेगा क्योंकि आजकल उसकी बिक्री ब्रिटेनसे अधिक है। इस पत्तभरमें वाणिज्य और उद्योगके वास्तविक तत्त्वोंको अनभिज्ञता भरी हुई है।

सीधी सादी रीतिसे वाणिज्य केवल एक वस्तुके बदले दूसरी वस्तुका लेना है। यदि ब्रिटिश शिल्पी कपड़े, लोहेके हथियार, कल बरतन, वा नौकाएं अपने स्पर्धीसे अच्छा तय्यारकर सकता है, तो वाणिज्य उसीका होगा। यदि नहीं, यदि माल घटिया है, महँगा है, वा ग्राहकोंको कम रुचता है तो व्यापार उसके स्पर्धियोंके हाथ आ जायगा, और ड्रेडनाट रखनेसे इसमें कोई भेद नहीं पड़ सकता। स्वित्सरलैंड, जिसके पास एक भी ड्रेडनाट नहीं है, उसे उसके ही उपनिवेशोंकी हाटसे निकाल बाहरकर देगा जैसा कि हो रहा है* हम कितना ही राजनीतिक बड़बड़ मचावें, समृद्धिके वास्तविक कारणोंसे और सैन्य वा जलबलसे परस्पर तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। चार करोड़ प्राणियोंका व्यापार नष्ट करनेके लिए जर्म्मनी को हमारे कोयले और लोहेकी खानियोंको चौपट करना पड़ेगा, हमारे देशवासियोंकी शक्ति, चरित्र और वैभवको नष्टकर देना पड़ेगा, निदान चार करोड़ प्राणियोंके स्वबाहुबलसे वित्तोपार्जनके दृढ़ निश्चयको धूलिमें मिला देना पड़ेगा। यदि हम इस विचित्र इन्द्र-जालसे मोहित न हो गये होते तो यह तुरन्त समझमें आ जाता कि प्रजाकी समृद्धि ऐसी ऐसी बातोंपर निर्भर है जैसे अपने देशकी नैसर्गिक सम्पत्ति, प्रजाके सामाजिक नियम और सच्चरित्र—जो उसने वर्षोंमें, पीढ़ियोंमें, शताब्दियोंमें, वंशपरम्परासे वा धीरे धीरे प्रयत्नशील संग्रह द्वारा प्राप्त किया है—और इन सब मूल कारणोंके

---

* देखो पृष्ठ ५८—५९

अतिरिक्त प्रजाकी समृद्धि व्यापार और लेनदेनके असंख्य तानेबाने-पर निर्भर है,—जैसे अमुक अमुक शिल्पमें विशेष-योग्यता, अमुका-मुक हाटकी मांग पूरी करनेमें विशेष क्षमता, बड़ी फेरफारवाली बारीक वा बड़ी कलोंवाले कारखानोंको यथेष्टरीतिसे चलानेकी योग्यता, विशेष प्रकारके वाणिज्यके लिए प्रजाका सुशिक्षिता होना,—जिसमें सालों और पीढ़ियोंके प्रयत्नकी आवश्यकता होती है। हरिसेन साहबके मतानुसार इन सब बातोंकी कोई गिनती नहीं और पलक भांजतेमें ही जर्म्मनीको इन सब बातोंको निकाल देनेकी क्षमता होगी, और जलयुद्धमें उसके विजयी हो जानेसे चार करोड़ व्यक्तियोंको निस्सहाय हो बैठना अनिवार्य्य है। शायद कामधेनुका ऐसा आशीर्वाद होगा कि जिस व्यापारको संसारके सबसे उत्तम और कार्य्यक्षम शिल्पी और व्यापारी विश्वकर्म्मा पीढ़ियोंसे रचते आये उसे हस्तगत करनेके लिए देखते ही देखते जहाजके बाड़े, धातु ढालनेकी भट्टियां, पुतलीघर, कारखाने, कोयले और लोहेकी खानें और उनका सारा सामान जर्म्मनीमें इस अद्भुत विजयके बिहान ही प्रस्तुत हो जायगा। जर्म्मन प्रजा जितना अबतक पैदा करती थी, उसका तिगुना चौगुना पैदा कर लेनेकी योग्यता भी उसमें झटसे हो जायगी, क्योंकि यदि वह ऐसा न कर सकी तो उसे फिर भी अंग्रेजोंकी हाट अंग्रेजोंके ही हाथोंमें छोड़ देनी पड़ेगी। जर्म्मन-विजयके बिहान ही जिस चार करोड़ प्रजाको भूखों तड़पना है उसकी भुक्तिका वास्तविक उपाय वह लोहा और कोयला था जिसे पृथ्वीसे खींच खींचकर किसी न किसी रूपमें जिनको आवश्यकता होती थी उनके हाथ वह प्रजा बेंच देती थी। क्या यह आवश्यकता एकाएकी बन्द हो जायगी वा आठ करोड़ बाहुओंपर ऐसा पक्षाघात होगा कि उनका महान शिल्पीय उद्योग एकदम शून्य हो जायगा? इस बातसे कि कनाडाका किसान अपना गेहूं देकर हमारा माल खरीदता है, हमारे जल-युद्ध विजयसे क्या सम्बन्ध है? सम्भव है कि जर्म्मनी गेहूंकी आमदको बन्द कर दे, किन्तु वह ऐसा करने क्यों लगी? इससे उसकी प्रजाका क्या लाभ है? जितने मालकी तय्यारीमें चार करोड़ आदमी पिसे रहते थे, उतना माल किस मंत्रके बलसे जर्म्मनी कनाडाको एकदमसे दे सकेगी? किस चमत्कारसे उसकी उद्योगशीला प्रजा कल्ह ही दूनी हो जायगी? किस जादूके ज़ोरसे वह इतना गेहूं और खा जायगी क्योंकि कनाडा-

वाले गेहूंसे ही मोल लेंगे ? मैं जानता हूं कि यह छोटी छोटी बातें हैं और एक शब्दमें इसका नाम अर्थशास्त्र है; किन्तु मिस्टर हरिसेन और उनके सदृश विचारवाले जब पूर्वोद्धृत वाक्योंके भावमें बहस करते हैं, तो उनका अर्थशास्त्र क्या होगा ?

एक और टीका सम्भव है जो कदाचित् देशभक्तोंके मनमें हो। वह यह कह सकते हैं कि जल-स्थल-सैन्यकी बड़ी बड़ी व्यवस्थाएं देशोंके विजय वा स्पर्धीके वाणिज्यको नष्ट करनेके लिए नहीं होतीं। प्रत्युत शिल्प और व्यापारकी रक्षा वा अप्रत्यक्ष सहायताके लिए होती हैं। हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि किसी अस्पष्ट रीतिसे एक बड़ी शक्ति, अपनी बड़ी जल-स्थल-सेनाके रोबसे वा महसूलके मामलोंमें दूसरी जातियोंपर दबाव डालकर, अपनी प्रजाके व्यापारकी सहायता कर सकती है। परन्तु फिर भी युरोपके छोटे राष्ट्रोंकी ओर निगाह करनेसे यह नतीजा झूठ ठहरता है।

यह प्रकट है कि कोई विदेशी जर्म्मनीके मालको छोड़ हमारा इसलिए नहीं मोल लेता है कि हमारे पास बड़ी नाविकशक्ति है। मान लो कि किसी जर्म्मन और किसी अंग्रेज़ी दूकानके एक एक गुमाश्ते अर्जेंटिना, ब्रेज़ील, बलगेरिया वा फ़िनलैंडमें किसी दूकानदारके यहां चाकू आदि औज़ार बेचना चाहते हैं तो जर्म्मनके इस कहनेसे बिक्री न होगी कि हमारे यहां बारह ड्रेडनाट हैं पर अंग्रेजोंके यहां आठ ही हैं। जर्म्मनकी बिक्री तब होगी जब वह गाहकको अच्छा सौदा सस्ती दरपर बेच सकेगा, और बस। और गाहक भी उसीसे मोल लेगा जिससे पट जायगा चाहे वह जर्म्मन, स्विस, बेल्जियन वा ब्रिटिश कोई भी हो और इस बातको भूलकर भी न सोचेगा कि किस सौदागरके राज्यकी जल वा स्थलसेना कम वा अधिक है। और जब महसूल लगाना वा कर लगाकर किसी देशके मालकी आमद कम करना होगा तब भी यह नहीं मालूम होता कि जल वा स्थलबलका ज़रा भी विचार किया जायगा। स्वित्सरलैंड भी जर्म्मनीसे अवरोधककरका युद्ध छेड़ देता और विजयी होता है। छोटे देशोंके व्यापारका सारा इतिहास यही सिद्ध करता है कि बड़े देशोंको अपने राजनीतिक महत्व और धाकसे व्यापारमें कोई सहायता नहीं मिलती।

हम सदा इसी तरह बातचीत करते हैं मानों हमारा वैदेशिक व्यापार किसी विशेष भावसे हमारे जलबलकी वृद्धिका फल है। किन्तु

नार्वेके पास तो उसकी जनसंख्याकी अपेक्षा हमसे तिगुना वैदेशिक व्यापार है, और जिन कारणोंसे विदेशी विजेताके लिए इंगलैंडके बंकका जमा सोना ज़ब्त करना असम्भव है उन्हीं कारणोंसे नाविक पराजयके पीछे ब्रिटिश नाविक व्यापारको ज़ब्त करना भी असम्भव है। फिर किस तरह यह कहा जा सकता है कि हमारा वैदेशिक व्यापार वा अन्य वाणिज्य सैनिक बलपर निर्भर है ?

अभी डेलीमेलमें एक लेखमाला मैंने देखी है जिसमें मिस्टर (F.A. McKenzie) मक्खनजीने यह स्पष्ट दिखाया है कि इंगलैंडके हाथोंसे किस प्रकार कनाडाका व्यापार निकला जा रहा है। एक लेखमें कनाडाके कई सौदागरोंकी बातचीत भी उद्धृत की है—

कम्पनीके एक उपसभापति (Harry McGee) हरि मग्गी साहबने मेरे प्रश्नके उत्तरमें यह कहा कि हमलोग सीधे इंगलैंडसे तो बहुत कम माल मोल लेते हैं। लंडनमें ही हमारे बीस आदमी युरोपीय मालकी ख़रीदकी देखभालके लिए रहते हैं किन्तु हमारी मांग अधिकांश फ्रांस जर्म्मनी और स्वित्सरलैंडको जाया करती है, इंगलैंडको नहीं।

और एक जगह उसी लेखमालामें यह उल्लेख है कि बहुतेरी मांगें बेल्जियमको जा रहीं हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि जितना कुछ कनाडामें हमारी जलशक्तिने हमारे लिए किया है उससे अधिक क्या कर सकती है। तब भी हमारा व्यापार स्वित्सरलैंड और बेल्जियम छीने लेते हैं। एक दर्जन ड्रेडनाट हम और निर्म्माणकर लें तो क्या स्वित्सरलैंडके व्यापारी अत्याचारसे हमारी रक्षा हो सकती है ? मान लो कि हम अपने ड्रेडनाटोंसे स्वित्सरलैंड और बेल्जियमको जीत भी लें तो भी क्या इन देशोंका व्यापार पहलेकी भांति चलता न रहेगा ? हमारे सैन्यबलसे कनाडा तो अधिकृत हो गया किन्तु कनाडाकी मांगें अधिकृत न हुईं और स्वित्सरलैंडको ही जाती हैं।

छोटे छोटे देशोंके व्यापारी यदि बड़े बड़े देशोंके वीरधुरीण समर-विजेताओंके मुंह चिढ़ाते हैं तो ब्रिटिश बनिये ड्रेडनाट लेकर करेंगे क्या ? यदि स्विसोंकी वाणिज्य-लक्ष्मी उससे सौगुने शक्तिशाली पड़ोसीके अत्याचारसे सुरक्षित और निश्चिन्त है, तो

जिसका निश्चय हरिसेन कराना चाहते हैं वह कैसे सम्भव है—कि ज्यों ही अंग्रेजोंकी सैन्यशक्तिके असाधारण महत्वमें ह्रास होगा त्यों ही संसारके इतिहासमें सबसे बड़ी जातिका जीवन दुर्भिक्ष संकटमें पड़ जायगा ?

यदि युरोपके राजपुरुष हमें यह बतलाते कि किस रीतिसे किसी बड़े राष्ट्रका सैन्यबल उसके नागरिकोंके व्यापारमें अधिक लाभका कारण होता है; वह तरीका वह ढंग समझाते और "जातियोंकी महासभाओंमें उचित दबाव डालना" आदि बड़े बड़े और संदिग्ध वाक्योंका हवाला न देते तो उनकी बात मान भी ली जाती। किन्तु जबतक वह ऐसा न करें तबतक हमारा यह समझ लेना अवश्य ही उचित है कि उनकी राजनीतिक शब्दमाला सैकड़ों वर्ष पुरानी और ऐसे काल और अवस्थाकी है कि जिन बातोंपर जिन अर्थोंमें, उनका प्रयोग होता था, वह बातें, वह दशाएं और वह अर्थ अब रहे ही नहीं।

जिन बातोंका मैंने दृष्टान्त दिया है वही बातें हैं जिनसे छोटे छोटे राज्योंकी रक्षा होती है और ज्यों ज्यों संसारमें स्पष्ट रीतिसे सब लोग इस सिद्धान्तको समझते और मानते जायंगे त्यों त्यों बाह्य अत्याचारसे छोटे बड़े सब ही देश सुरक्षित और निश्चिन्त होते जायँगे।

साहूकारी विषयके एक शास्त्री, जिनका मैंने प्रमाण भी दिया है, कहते हैं कि आधुनिक संसारमें परस्पर लेनदेनका अत्यन्त अनिवार्य्य और एचपेचका फँसाव हम लोगोंकी इच्छाके प्रतिकूल ही बढ़ गया है, प्रत्युत "जबतक किसी भद्दी रीतिसे इसने अपने आपको जताया नहीं तबतक हमको इसकी खबर भी नहीं थी"। पहलेकी भांति अब भी मनुष्य यही चाहता है कि आनका धन आनकी कमाई बैठे बिठाये मिल जाय तो अच्छा है। परन्तु अब इस विषयमें सम्बन्ध बढ़ जानेके कारण लाभका रूप और उसके उपाय में परिवर्त्तन हो गया है। अत्यन्त असभ्य दशामें बटमारीमें कुछ न कुछ सम्पत्तिलाभ होता ही है। जहां पैदावार कम होनेके कारण मेहनत मजदूरी कम मिलती है वा मिलनेमें कठिनाई होती है, और जहां सारी सम्पत्ति ढोनेके योग्य होती है वहां साहसी मनुष्यको चोरी और डाकासे बढ़कर और किसी व्यापारमें अपने

उद्यमका पूरा फल नहीं मिलता; ऐसी दशामें जो जितना शक्तिमान होता है उतना ही धनवान होता है,—जिसकी लाठी उसकी भैंस। परन्तु जिस मनुष्यकी सम्पत्ति उसकी साखपर और शहरमें उसके पुरजे वा कागजकी मातबरीपर निर्भर है उसके लिए बेईमानी और असत्य उसी प्रकार लाभहीन और संदिग्ध हो गया है जैसी प्राचीनकालकी ईमानदारीवाली मेहनत मजदूरीकी दशा थी।

शहरके भलेमानुसके अन्तर्हृदयमें चाहे अपहरणके वैसे ही विचार हों जैसे पशुचोर वा डाकुओंके सरदारके हुआ करते थे, परन्तु किसीका स्वत्व छीन लेनेमें लाभ अत्यंत कम हो गया है और यह रोजगार बड़ा संदिग्ध हो चुका है। वाणिज्यकी शक्तियोंने इस व्यापारको असंभव कर दिया है। मैं जानता हूं कि शस्त्रबल-वादी यह उत्तर देगा कि पुलीसने असंभव कर दिया है। यह ठीक नहीं है। युरोपमें जब लुटेरोंका सरदार अपना रोजगार चलाता था उसकालमें भी उतने ही शस्त्रधारी थे जितने अब हैं। यह कहना बिलकुल उलटी बात है कि पुलीसके कारण लूट असंभव हो गया है। यदि यह बात साधारणतः मान न ली गयी होती कि अत्याचार और अव्यवस्थामें व्यापार नहीं हो सकता तो पुलीसकी उत्पत्ति ही कहांसे होती और पुलीसका होना ही संभव क्यों होता?

ज़रा देखिये, दक्षिणी अमेरिकामें क्या हो रहा है। उन राज्योंमें जहां अभी हालमें ही प्रतिदिनके राजनीतिक व्यवहारमें लेनदेनकी बातोंमें इनकार और बेईमानी एक साधारण सी बात थी अब कुछ बरससे ही ऐसी बड़ी स्थिरता और प्रतिष्ठा आ गयी है जैसी लंडनकी है और अब वह अपनी बात और अपनी प्रतिज्ञाएं उसी प्रकार नियम-पूर्वक पूरी भी करते हैं। सैकड़ों बरससे जो देश अव्यवस्था और लूटमारके दलदलसे हो रहे थे, वही पन्द्रह बीस बरसमें बिलकुल बदल गये। क्या इसका यह मतलब है कि एक पीढ़ीसे कममें ही इन देशोंके मनुष्योंका स्वभाव एकदम जड़से बदल गया? ऐसी दशामें शस्त्र-वादियोंके बहुतेरे सिद्धान्तोंका खंडन हो जायगा। इसका मतलब और भी सीधा सा है।

यह देश, ब्रेज़िल और अर्जेंटैन जिनके उदाहरण हैं, देशोंके परस्पर साहूकारी, अदलाबदली (विनिमय) और वाणिज्यके चक्करमें आ गये हैं। उनके आर्थिक सम्बन्ध इतने फ़ैल गये हैं और ऐसे

पेचपेचके हो गये हैं कि अपहरणके और सब रूपोंमें कागजसे इनकार करनेवाले व्यवहारमें कोई लाभ ही नहीं दिखता। साहूकार आपसे साफ़ कहेगा कि इनकारमें हमको कोई सुविधा ही नहीं है। यदि इनकारकी कोशिश की जाय तो राज्यकार्य्यके नियमित सम्पादनसे प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रखनेवाली सब तरहकी जायदादपर उसका बुरा प्रभाव पड़ेगा, बंक झंझटमें पड़ जायँगे, बड़े बड़े कारबार लड़खड़ाने लगेंगे और सारा साहूकारा इसका विरोध करेगा। एक छोटे से ऋण चुकानेमें आगापीछा करनेसे कारबारी दुनियाका कई गुना नुकसान होगा।

आर्थिक आचारनीतिके साधारण नियमोंके उल्लंघनमें अथवा अपनी प्रतिज्ञाओंसे इनकार कर जानेमें उसी राज्यको सुविधा हो सकता है जहांके निवासियोंके पास ऐसा कुछ है ही नहीं जिसकी हानि हो—न बंक हैं, न राज्यके भरोसे व्यक्तियोंके स्वत्व हैं, न कोई बड़ा कारबार है और न उद्यम है। एक पीढ़ी पहले अर्जेंटिना और ब्रेज़िलका यही हाल था और थोड़ा बहुत अब भी कई मध्य अमेरिकन राज्योंका यही हाल है। इसका कारण यह नहीं है कि साधारण जनसमुदायकी साख और मातबरी बढ़ जानेके कारण इन देशोंमें सेनाकी वृद्धि हो गयी है, क्योंकि एक पीढ़ी पहले तो उनकी सेना आजकी अपेक्षा अधिक थी। कारण तो यह है कि अब उन्हें यह बात मालूम हो गयी है कि सारी साहूकारी और सारे वाणिज्यकी नींव साख और मातबरी ही है—अर्थात् इसपर पूरा विश्वास और भरोसा कि बात पूरी की जायगी, कोई हक मारा न पड़ेगा, और कानूनके अनुसार ठेके और प्रतिज्ञाएँ पूरी की ही जायँगी—और यह कि अगर मातबरीपर दाग आया तो कारबारकी इस महती अट्टालिकाका कोई भाग बिना हिले न रह जायगा।

हमारे व्यापारके ढंग जितने पेचीले होते जाते हैं उतना ही हमारे धनका, हमारी समृद्धिका भरोसा उस विश्वासपर होता जाता है जो प्रतिज्ञाओंके नियमपूर्वक पूर्ण करनेपर हो सकता है। व्यक्तिगत और जातीय धाककी असल जड़ यही है; और हमारी व्यापारी सभ्यतापर झकी टीकाकरनेवाले कितना ही कहें, किन्तु इस सीधे सादे आदर्शको झखमारने और माननेके लिए हमसे भी अधिक बलवती स्थितियां हमें ढकेल रही हैं। और जब कभी हम इस आदर्शसे गिर जाते हैं दंड अवश्य और तुरन्त पाते हैं—और जो

समाज थोड़ी बहुत आदिम असभ्य दशासे अभी उभरे हुए हैं उनका इस आदर्शसे बहुधा च्युत हो जाया करना स्वाभाविक ही है।

अमेरिकाके (United States) संयुक्तराज्योंमें जिस बंक-संकटका वहांके कारबारियोंपर ऐसा दुःखद प्रभाव पड़ा उसकी असल जड़ क्या थी ? उसकी असल हकीकत यह थी कि अमेरिकन लोगोंके निकट अमेरिकन महाजनों और साहूकारोंकी मातबरी उठ गयी थी। वास्तवमें और कोई बात न थी। कुछ लोग (currency) चलनसारीकी भूलोंकी और नकदी जमाकी बातें किया करते हैं, किन्तु संसारभरकी साहूकारी करनेवाले लंडनके पल्ले जितनी थोड़ी जमा है उतनी कम कहीं नहीं, क्योंकि जैसा एक अमेरिकन पंडितका कहना है "अंग्रेज महाजन मानसिक जमासे काम लेते हैं।"

मिस्टर (Withers) विदर्स कहते हैं—

इसका कारण यह है कि अंग्रेज साहूकार ऐसे सुरक्षित, सीधे, ईमानदार, समझदार, अमेरिकावालोंके हिसाब ऐसे कम व्यवसायी हैं, कि वह थोड़ी ही जमापर पहुत बड़ी साख बना सकते हैं—ऐसी बड़ी कि स्वयं अंग्रेज उसे अनुचित सिद्ध कर चुके हैं। यह मानसिक जमा बड़ा अमूल्य स्वत्व है जो सच्चे साहूकारोंके वंशामें पीढ़ीदरपीढ़ी चला आ रहा है, और हरेक पीढ़ीका वारिस (उत्तराधिकारी) कुछ न कुछ उसमें बढ़ाता ही जाता है, या कमसे कम उसे कायम ही रखता है।

परन्तु सदैव ऐसा ही नहीं हुआ है और यह सब केवल हमारे वाणिज्य और साहूकारेकी शाखाप्रशाखाओंका फल है। अन्तमें अमेरिकनोंको हमारी नकल करनी ही पड़ेगी, नहीं तो उन्हें हमारे माली मुकाबलेमें सदाके लिए पिछड़ जाना पड़ेगा। वाणिज्यकी उन्नतिसे इस सत्यसिद्धान्तका प्रत्यक्ष दृष्टान्त मिलता है—कि सामाजिक आचारनीतिका वास्तविक मूल स्वार्थ ही है। यदि अंग्रेजी बंक और बीमाकम्पनियां अपने कारबारमें पूरी सच्चाई और ईमानदारीसे काम करने लगी हैं तो उसका कारण यह है कि एककी भी बेईमानीसे सबका कारबार जोखिममें पड़ जाता था।

क्या हमें मानना पड़ेगा कि संसारके जिन राज्योंका प्रबन्ध ऐसोंके हाथमें है जो साहूकारोंसे कम दूरदर्शी नहीं हैं, उन राज्योंको

ऊंचे दरजेके स्वार्थको समझनेमें साहूकारोंकी अपेक्षा सदा पिछड़ा रहना है ? क्या हमें यह मान लेना पड़ेगा कि जो वात साहूकारको स्वयंसिद्ध है, प्रत्यक्ष है—अर्थात यह कि अपनी प्रतिज्ञाओंको झूठी कर देना वा व्यापारी धूर्त्ततासे लूटना बड़ी मूर्खता और व्यापारी आत्महत्या है—वह कभी शासकको सूझेगी ही नहीं ? किन्तु जब वह इस सत्यसिद्धान्तको भली भांति समझ ले, तो क्या शुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिकी नींव डालनेमें हम थोड़ा बहुत कृतकार्य्य नहीं हुए ?

इस पुस्तकके प्रथम संस्करणपर निम्नोद्धृत लिखापढ़ीसे इस अध्यायकी कई बातें ज्यादा साफ़ हो जाती हैं। (Public Opinion) "लोकमत" के एक लेखकने इस विभागको "सत्य-प्राय सिद्धान्तोंकी शृङ्खला" कहकर यह प्रश्न किये हैं—

"स्वाभाविक सम्पत्ति क्या है और जब उसका रोजगार किया जाय तो विना उसकी मांगके, विना हाटके कैसे संभव है ? क्या लेखक यह सिद्ध कर सकता है कि सैनिक विजयसे, विशेषतः जब कि विजितसे विजेता बलपूर्वक स्व-लाभ-समन्वित व्यापारी प्रतिज्ञाएं करा लेता है, हाटोंकी अपरिमित वा सदाके लिए हानि नहीं हो सकती ?...... "Most-favoured-nation" वाले* वाक्यसे जिसे जर्म्मनोंने फ्रांकफ़र्टके संधिपत्रमें फ्रांससे जबरदस्ती लिखवा लिया, जर्म्मनीने अनेक लाभ उठाये वा अबतक उठा रही है।......इसमें सन्देह नहीं कि विस्मार्क ठीक अटकल न कर सके कि फ्रांसके माली कारवारमें कितना लचीलापन है और जब फ्रांसने ऐसी अद्भुत शीघ्रतासे दंडका रुपया भर दिया और दखल करनेवाली जर्म्मनसेनाके भरणपोषणके उतने ही कठिन बोझसे हलका हो गया तो विस्मार्क अत्यन्त विस्मित और हताश हो गये। उन्हें यह पछतावा हुआ कि हमने दूना दंड क्यों नहीं मांगा। जर्म्मनी फिर ऐसी भूल न करेगा और भविष्यतमें जो देश दुर्भाग्यवश उससे पराजित होगा उसे पचासों बरसतक अपने वाणिज्य-वृद्धिको जर्म्मनीके हाथ हार जाना पड़ेगा।"

इसपर मैंने यह उत्तर दिया—

आपके लेखक महाशय मुझे इस कथनके लिए क्षमा करेंगे कि अर्द्ध-सत्य

---

* सबसे अधिक सुविधा-प्राप्त जाति"

युक्तियोंकी चर्चा जिस लेखांशमें वह कर गये हैं वह भी उसी अर्द्ध-सत्य सिद्धान्तसे आवृत है जो मेरी पुस्तकद्वारा उन्मूलित भ्रमकी जड़ है।

"हाट" कहते किसको हैं? आपके लेखक महाशयके विचारानुसार हाट वह स्थान है जहां चीज़ें बिक जाती हैं। यह केवल "सत्यांश" है। हाट वह स्थान है जहां क्रय विक्रय दोनों होता है; और एकके विना दूसरा असंभव है और यह सोचना कि एक जाति सदैव बेचती रहे और कभी आप मोल न ले अर्थशास्त्रके लिए वैसा ही असम्भव है जैसे (Mechanics) यन्त्रविद्याके लिए सततगतिकी कल्पना। देशोंका परस्पर व्यापार उसी भांति सततगतिसे नहीं चल सकता। जिस प्रकार कलका कोई भी काम एक ही बारके शक्तिप्रयोगसे निरन्तर नहीं चल सकता। आर्थिक रीतिसे सुव्यवस्थित जातियोंमें ऐसा परस्पर व्यवहार है कि ग्राहक ही अपना स्पर्धी भी होता है, और यह बात जबरदस्ती, वा सैन्य-बलसे नहीं बदली जा सकती। जहांतक वह उसे स्पर्धीरूपमें बिगाड़ेंगी उतना ही अधिक वह साधारणतः, और अधिकांश ग्राहकरूपमें भी बिगड़ जायगा।

मृत मिस्टर (Seddon) सेडनके विचारमें इंगलैंड अपनी खरीदारीमें अपने खजानेसे मोहरोंकी धारा बहाता जाता है और खजाना खाली करता जाता है। उक्त महाशय बड़े अमली आदमी कहलाते थे और कोरे सिद्धान्तोंको अत्यन्त तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते थे, किन्तु वह स्वयं एक कोरे सिद्धान्तके शिकार हो गये थे क्योंकि जो मानसिक चित्र उन्होंने खींचा, घटनाके जगतमें उसका कहीं पता नहीं है। इंगलैंडके पास तो इतना भी सोना नहीं है कि सालभरका कर दिया जा सके, और जो कहीं सोना देकर खरीदारी होती तो तीन महीनेमें सारा सोना स्वाहा हो जाता। और जिस रीतिसे वास्तवमें वह दाम देता है उसी रीतिसे साठ बरससे बराबर देता आया है। जब तक वह खरीदता रहता है तबतक बेचता भी रहता है। और यदि वह जर्म्मनीकी हाट बने तो उसे जर्म्मनीके मालका दाम देनेको जर्म्मनी वा अन्य देशोंके हाथ अपना माल बेंचकर रुपया पैदा करना ही होगा। और इंगलैंडकी बिक्री बन्द हो जाय तो जर्म्मनीकी हाट बन्द हो जायगी—केवल अंग्रेजी हाट ही नहीं किन्तु वह हाटें भी बन्द हो जायँगी जो इंगलैंडके ही हाथ बिक्री करके निर्वाह करती हैं क्योंकि यह स्पष्ट है कि हाट वही स्थान है जहां क्रय विक्रय दोनों ही हो।

यदि आपके लेखक महाशयकी कल्पनामें आधी ही बात न उपस्थित होती, दोनों ही बातें होतीं, तो वह मेरे ऊपरके उद्धृत वाक्य कदापि न लिखते। बिस्मार्क-कल्पित अर्थशास्त्रके अनुमोदनसे उनका स्पष्ट विचार यह हो गया है कि एक राष्ट्रका जितना लाभ होगा उतनी ही दूसरेकी हानि होगी और यह कि राष्ट्रोंका

जीवन अपने पड़ोसियोंको थोड़ा बहुत लूटखानेपर ही निर्भर है। यह अर्थशास्त्र तैमूरलंग और जंगली लोगोंका है और सौभाग्यवश आजकलकी वास्तविक व्यापारी घटनाओंसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

आपके लेखक महाशयके लेखभरमें केवल आधे ही मामलेपर विचार किया गया है। उनका यह कथन कि "Most-favoured-nation" वाले वाक्यसे जिसे जर्म्मनीने फ्रंकफ़र्टके संधिपत्रमें फ्रांससे जबरदस्ती लिखवा लिया, जर्म्मनीने अनेक लाभ उठाये और उठा रहा है" बिल्कुल ठीक है, किन्तु उन्होंने इस सत्यका दूसरा अंश छोड़ दिया जो हमारी बहसमें कुछ काममें आ सकता है—अर्थात् यह बात कि फ्रांसको भी इस विषयमें बहुत लाभ हुआ कि बाधक-महसूलका व्यर्थ रगड़ा इतना कम हो गया।

और भी उदाहरण लीजिए। फ्रांसके इस शीघ्रतासे ज्योंका त्यों हो जानेसे जर्म्मनीके अत्यन्त हताश हो जानेका क्या कारण है? पड़ोसीके धनहीन हो जानेसे जर्म्मन लोग अधिक धनवान न हो जायँगे, प्रत्युत और धनहीन ही होंगे। और आज कोई अर्थशास्त्री ऐसा नहीं है जो क्षणमात्रके लिए भी इसका विरोध करके अपनी बदनामी कराये, चाहे व्यापारी विषयोंमें उसके विचार कैसे ही हों।

पराजित इंगलैंडको दबाकर किस प्रकारसे जर्म्मनी ऐसा व्यापारी बन्दोबस्त कर सकेगा कि पराजित निर्धन हो जाय और विजेता अधिक धनवान? क्या फ्रंकफ़र्ट सरीखा दूसरा संधिपत्र लिखाकर, जिससे अंग्रेजी बन्दरोंपर जर्म्मन मालके उतारे जाने और बिकनेका पूरा स्वत्व हो जाय? किन्तु यह सोचनेकी बात है कि साठ बरससे अंग्रेजी बन्दरोंपर जर्म्मनमालका ऐसा ही दखल चला आया है, और इसके लिए जर्म्मनीको कोई बड़े प्रयास और व्ययका युद्ध नहीं करना पड़ा है। अगर यह कहा जाय कि जर्म्मनी हमारे मालका अपने बन्दरपर बिकना रोक देगा, तो यह तो बिना युद्धके ही उसने कर रक्खा है, और सो भी ऐसे अधिकारसे जिसका विरोध हम स्वप्नमें भी नहीं कर सकते। फिर युद्धका परिणाम इस विषयके अनुकूल वा प्रतिकूल कैसे पड़ेगा? आज दस बरससे मैं युरोपके राजनीतिज्ञों तथा राजपुरुषोंसे इस प्रश्नका सविस्तर उत्तर मांग रहा हूं परन्तु ठीक उत्तर मुझे आजतक न मिला सिवाय इसके कि अनिश्चित वादविवाद हुए, और वाणिज्य-विषयक महत्त्व, उत्तेजित वैदेशिक नीति, जातीय धाक, इत्यादि बड़े सुन्दर और अनुपम शब्दोंका प्रयोग किया गया जिसकी व्याख्या निश्चयपूर्वक करने योग्य कोई दिखायी नहीं देता; परन्तु सच्ची पालिसी, सच्चा सिद्धान्त, कार्य्यनीति, वा सच्चा लेखा जिसे सब ही जांच सकें कभी पेश नहीं किया गया।

और जबतक ऐसा न होगा, मैं बराबर यही समझूंगा कि यह सारी बातें भ्रममूलक हैं।

इस प्रकारके तर्काभासोंकी सच्ची पहचान उन्नति है। थोड़ी देरके लिए मान लो (जिसका बहुधा हमारे आततायियोंको स्वप्न हुआ करता है) कि जर्म्मनीका युरोपपर असपत्न राज्य हो गया और जिस नीतिसे चाहे वह उसे चला सकता है। तो ऐसे युरोपीय साम्राज्यसे उसका बर्त्ताव कैसा होगा? क्या उसके अंगोंको धनहीन कर डालेगा? ऐसा करना तो केवल आत्महत्याका उपाय होगा। उसकी महती उद्योगशीला जनसंख्याके लिए हाट कहां मिलेगी*। यदि वह उस साम्राज्यके अंगोंको उन्नत और धनसम्पन्न करने लग जाय तो वह उसके ही बलवान प्रतिस्पर्द्धी बन जायँगे, और इस कुपरिणामको पहुंचनेके लिए उसे इतिहासके सबसे बड़ी लागतका संग्राम करनेकी आवश्यकता क्या थी? यही तो विरोधाभास है, अर्थात् विजयकी निरर्थकता—वही महाभ्रम जिसका उदाहरणरूप अंग्रेजी साम्राज्य है। अंग्रेज अपने साम्राज्यपर इस तरह अधिकार रखते हैं कि प्रत्येक अंगको वह अपनी अपनी रीतिसे बढ़ने देते हैं और अपने ही स्वार्थपूर्ण उद्देशोंपर चलने देते हैं; और जिन साम्राज्योंने इसके व्यतिरिक्त किसी और नीतिका अवलम्बन किया है उनका परिणाम यही हुआ है कि उनकी अपनी ही प्रजा दीन हीन हो गयी और साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो गया।

आपके लेखक महाशयका प्रश्न है कि "क्या नार्मन एंजेल इस बातको सिद्ध करनेको तय्यार है कि जापानने रूस विजय करके कोई राजनीतिक वा व्यापारी लाभ नहीं उठाया और यह कि पराजयसे रूसकी कोई हानि नहीं हुई?"

जिस बातको सिद्ध करनेको मैं तय्यार हूं और जिसे नीतिकुशल लोग सत्य समझते हैं, वह यह है कि उस युद्धसे जापानी धनलाभ करनेके बदले अधिक धनहीन हो गये और रूसी लोगोंको जयसे जो लाभ होता उससे अधिक पराजयसे होगा, क्योंकि वह देश और सेनाको जो प्रकाण्डरूपसे बढ़ाते जा रहे हैं, उनकी यह नीति आर्थिक दृष्टिसे निरर्थक है और पराजयसे उनकी इस नीतिमें रुकावट पड़ेगी और रूसियोंकी शक्तियोंका प्रयोग उधरसे हटकर सामाजिक और आर्थिक वृद्धिमें होगा। और यही बात है कि रूस इस समय—अपने अनिवार्य्य और कठिन अंतरंग संकटोंके होते हुए भी—यदि जापानसे अधिक नहीं तो निस्सन्देह उसके बराबर ही आर्थिक अभ्युदयकी योग्यता दिखा रहा है। जापान अपनी

* इसी भागके सातवें अध्यायमें फ्रांसकी औपनिवेशिक नीतिपर टीका की गयी है उसे पाठकगण इस सम्बन्धमें पढ़ें।

प्रजापर जैसे भारी भारी कर लगा रहा है आजतक किसी सभ्य वा असभ्य देशमें नहीं लगा। जापानियोंको किसी न किसी रूपमें अपनी आयसे तीस रुपया सैकड़ा अर्थात् तृतीयांशके लगभग देना पड़ता है और उन्नतिके सिद्धान्तको आगे बढ़ानेके लिए जापानी ऐसे लाचार हो रहे हैं कि जिसे सौभाग्यवश दस हजारकी आय है उसे छ हजारसे भी अधिक करके रूपमें समर्पण करना पड़ता है; यही बात यदि किसी युरोपीय देशमें हो तो चौबीस घंटेके भीतर बलवा हो जाय। और इसे युद्धका ऐसा उत्तम परिणाम समझते हैं कि इसका प्रमाण दिया जाता है और कोई सच्चे मनसे इसपर सन्देह नहीं कर सकता। दूसरी ओर रूसको लीजिये। रूसी बजटमें बीस बरस पीछे अब पहली बार बचत दिखायी गयी है।

यह कुछ हमलोगोंके ही युगकी विशेषता नही है कि युद्धके पीछे पराजित जाति इस प्रकार सँभल जाती है। युद्धमें पराजित होनेके दस बरस पीछे फ्रांसकी माली दशा जर्म्मनीकी अपेक्षा अच्छी थी और आज भी अच्छी ही है और यद्यपि उसका वैदेशिक व्यापार उस तरह बढ़ता हुआ नहीं दिखता जिस तरह जर्म्मनी का—क्योंकि उसकी जनसंख्या अत्यन्त सीमाबद्ध है, बढ़ती ही नहीं, और जर्म्मनीकी आबादी दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती ही जा रही है—तब भी फ्रांसके लोग साधारणतः जर्म्मनोंकी अपेक्षा अधिक समृद्ध और अधिक सुखी हैं तथा उनकी सम्पत्ति अधिक सुरक्षित है। उनके पास अधिक संचित धन है और समस्त चरित्र और समाजविषयक अनुगत सुविधाएं भी उसको अधिक हैं। उसी प्रकारसे आजकलके स्पेनका आर्थिक और औद्योगिक पुनरुज्जीवन उस दिनका ही है जिस दिन उसका पराजय हुआ और उपनिवेश उसके हाथसे निकल गये

---

* *Oriental Economic Review* पत्रके एक लेखका सारांश देकर सानफ्रांसिस्कोका *Bulletin* पत्र कहता है "अब जापानको कदाचित् यह बात सूझ रही है कि विजित कोरिया वस्तुतः कोरियोका ही है और अपने युद्धका लाभ उसे यही हो रहा है कि राज्य सँभालनेका और शासनके व्ययका बोझा वृथा उसके सिर पड़ा, और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े पहलेसे अधिक बढ़ गये क्योंकि जापानकी सरहद बढ़कर अब उसके महाद्वीपीय स्पर्द्धियों चीनियों और रूसियोंकी सरहदसे मिल गयी है। जब कोरिया स्वतंत्र राज्य था तबकी अपेक्षा अब जापान कोरियापर अधिकार पाकर आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिसे बहुत बुरी दशामें है। *Oriental Economic Review* का मत है कि जापानियों और कोरियोंमें विवाहसे जापानको कोरियाकी स्थिति सुधारनेकी आशा है; किन्तु यह जातीय वृद्धि है और इससे विजयके पहले सामाजिक और आर्थिक सम्बन्ध अधिक सम्भव था और प्रायः सुखकर होता, यदि राज्य छिन जानेसे परस्पर द्वेषभाव इतना बढ़ न गया होता।

और उसके पराजयके दिनसे ही उसकी हुंडियोंका भाव ठीक दूना हो गया है*। जिस दिनसे इंगलैंडने अपने स्वत्वाधिकारमें "संसारके स्वर्णोत्पादक क्षेत्रोंको" मिला लिया है, उस दिनसे ही ब्रिटिश कौंसलोंका भाव बीस दरजे घट गया है। राजनीतिक धाक और सैनिक विजयका सामाजिक सुख समृद्धिपर ऐसा प्रभाव पड़ता है!"

---

* युद्धकालमें स्पेनके चार रुपयें सैकड़ेका भाव साढ़े बयालिस था और मराकोके झगड़ोंके ठीक पहले नब्बेके भाव बेखटके बिक रहा था। *North American Review, December, 1910,* में एफ़०सी० पेनफ़ोल्ड महाशय यों लिखते हैं "आधुनिक स्पेनकी संचालिनी शक्ति, स्वप्नकल्पित यंत्रसे नहीं, वरन शुद्धचित्त व्यवसाय और परिश्रमसे निकल रही है—यही बात है कि इस साल उसकी आर्थिक वृद्धि जैसी है वैसी कई पीढ़ियोंतक नहीं हुई थी। जबसे युद्ध हुआ स्पेनकी हुंडियोंका भाव वस्तुतः दूनेसे भी बढ़ गया है और विदेशी सर्राफ़ेमें उसकी चलनसारीमें भी उतनी ही उन्नति दिखायी पड़ती है। अटलांटिक और भूमध्य समुद्रोंमें उसके बन्दर जहाजोंसे भरे रहते हैं। वास्तवमें प्रजामें सुख-शयन और आराम-तलबीकी सुस्ती अब साहस और आर्थिक समृद्धि और उद्योगके रूपमें बदलती दिखती है।

छठा अध्याय

क्षतिपूरणकी निःसारता

फ्रांस जर्म्मनयुद्धका वास्तविक लेखा—अंकोंकी व्याख्यामे सर राबर्ट गिफ़्फ़ेनके उपदेशकी उपेक्षा—युद्धके पीछेके दस बरसोमें फ्रांस और जर्म्मनीमे वस्तुतः क्या हुआ—बिस्मार्कका भ्रमोच्छेदन—जो अनिवार्य्य कमी वा हानि हो उसको क्षतिपूरण देनेकी आवश्यकता—युद्धका अर्थ और जर्म्मन उन्नति और ऐश्वर्य्यपर उसका प्रभाव।

दुर्भाग्यवश राजनीतिमें यह सत्य ही है कि दृष्टिसे दूर यदि सचमुच लाखों पड़ा हो तब भी सर्वसाधारणकी आंखोंमें सामनेकी दस अशरफ़ियोंकी कूरी वहुत ज्यादा जचेगी ? इसी तरह—"युद्धमें वृथा व्यय होता है और उससे विजेताको सामाजिक वा आर्थिक स्थायी लाभ असंभव है"—इस विषयको कितना ही स्पष्ट रीतिसे समझा दिया जाय, परन्तु इस बातसे—कि १८७०-७१-वाले युद्धके अन्तमें जर्म्मनीने फ़्रांससे युद्धके क्षतिपूरणमें तीन अरब रुपया ले ही लिया—साफ़ यह प्रकट होता है कि "युद्धसे विजयिनी जाति रुपया पैदा कर सकती है"।

१८७२ ई० में सर राबर्ट (पहलेके "मिस्टर") गिफ़्फ़ेनने फ़्रांस-जर्म्मन युद्धके परिणामको समासतः वर्णन करते हुए एक प्रसिद्ध लेखमें यों लिखा था—"इस युद्धसे फ़्रांसकी हानि साढ़ेदस अरब रुपयेकी हुई और सब लिये दिये जर्म्मनीको पूरा दो अरब इकसठ करोड़ रुपयेका लाभ हुआ; और जर्म्मनीका यह बेदाग नफ़ा कीमतमें ब्रिटिश राष्ट्रीय ऋणकी पूरी रकमसे भी बढ़ जाता है।

इस तरहकी अंक-व्याख्या देखनेमें एकाएकी ऐसी स्पष्ट और अखंड जान पड़ती है कि जिन लोगोंने तबसे १८७० वाले युद्धके धनसम्बन्धी परिणामपर वादविवाद किया है वह इस बातको बिलकुल भूल गये कि यदि उपर्युक्त लेखा पक्का समझा जायगा तो युद्धके पीछेके चालीस बरसोंका जर्म्मनी और फ़्रांसका सारा इतिहास निकम्मा और अर्थहीन हो जायगा।

सच्ची बात यह है कि ऐसा पक्का चिट्ठा ही सारहीन है—और इस निर्णयसे सर राबर्ट गिफ़्फ़ेनके लेखपर कोई लांछना नहीं लगती क्योंकि जबका उनका लेख है तबतक युद्धका परिणाम

विदित नहीं हुआ था । परन्तु ऐसे लेखेमें जो बात दिखायी गयी हो उसे स्वीकार करनेवालेकी बुद्धिपर अवश्य लांछना लगती है। वास्तवमें सर राबर्टने स्वयं बहुत सी बातें बचाकर लिखा था। क्षतिपूरणके धनसे लाभ उठानेमें जो वास्तविक अड़चनें हैं उनका उन्हें कुछ अनुमान अवश्य था और उन्होंने स्पष्ट लिखा था कि अंक-मात्रपर पूरा भरोसा कभी न करना चाहिए।

जान पड़ता है कि इस पुस्तकके किसी पूर्व संस्करणके एक परीक्षकने* सर राबर्टके अंकोंको, विना उनके बचावोंपर विचार किये, मान लिया था। इन परीक्षक महाशयको मैंने यह उत्तर दिया था—

कम्पनी चलानेवाला साहसी जैसे सैकड़ा पीछे डेढ़सौ मुनाफ़ा करानेका वादा करता है, मेरे परीक्षक महाशय इस बाकी गिरानेमें कितनी ही बातोंका हिसाब करना भूल गये। जो मदें छूट गयी हैं उनमें कुछ यह हैं—युद्धके पीछे ही फ्रेंचसेनाकी वृद्धि, और उसका परिणामरूप जर्म्मनीकी सेनामें विवशतः कमसे कम एक लाख सिपाहियोंकी वृद्धि, और उनका चालीस बरससे बराबर कायम रहना। सब मिलाकर इसका खरचा तीन अरब रुपयेसे कम किसी दशामें नहीं होता। इस तरह सारा मुनाफ़ा तो यों ही खप गया और अभी मैं आधी मदोंको भी नहीं गिना पाया; जैसे फ्रांसके जानोमालका इतना नुकसान होनेसे जर्म्मनीकी हाटकी जो बड़ी हानि हुई; युरोप भरमें साधारण जनसमुदायमें गड़बड़ी फैल जानेसे हानि; और इस बातसे और भी अधिक हानि कि युद्धके समाप्त होते ही लगभग सारे युरोपमें सैन्यशक्तिके बढ़ानेमें अनुत्पादक लाभहीन अपव्यय किया गया, जिससे लोगोंके व्यवसायका रुख बदल गया और बड़ी बड़ी हाटें जर्म्मनीके हाथोंसे निकल गयीं, और उन्नतिकी गति साधारणतः रुक जानेसे अप्रत्यक्ष ही जर्म्मनी अपनी बहुत बड़ी वृद्धियोंसे वंचित रहा।

मेरे परीक्षकके से लेखेजोखेके लिए अंकोंका प्रमाण देना बिलकुल वृथा है। जर्म्मनी इस युद्धके लिए कई बरससे तैयारियां कर रहा था; इन तैयारियोंके प्रत्यक्ष परिणामरूपमें तथा उसकी नीत्यनुमोदित साधारण-युद्धरीतिके एक बड़े महत्वके अंशरूपमें, इन चालीस बरसोंके भीतर उसके सिरपर कुछ कर्त्तव्योंका भी बोझ रहा है। यह सब ही बातें भुला दी जाती हैं। विचार कीजिये कि यदि साधारण कारबारमें यह ही सिद्धान्त लगाये जायँ तो क्या परिणाम होगा? मान

---

* *Daily Mail*, December 15, 1910.

लो कि किसी मिलकियतमें फ़सिलकी तैयारीमें केवल एक पक्ष लगता है, तो सालभरके शेष ५० सप्ताहके काममें जो खरचा हो उसका हिसाब न किया जाय, फ़सिलमें जो असली खरचा पड़ा हो उसका ही दाम लगावें और फ़सिलकी पूरी आयसे घटा लें और बाकीको मुनाफ़ा कहें। यह तो बड़ा बांका रोजगार होगा! यदि साधारण कारबारी ऐसा करे तो दो ही दिनमें उसका दिवाला निकल जाय और जेलमें विश्राम करे।

मेरे परीक्षकका लेखा जितना भ्रममूलक और अत्यन्त अपूर्ण है, उतना पूर्ण ही होता तब भी उसके कथनका मुझपर कोई प्रभाव न पड़ता क्योंकि जो वास्तविक घटनाएं हम अपनी आंखोंसे देख रहे हैं वह उनका अंकशास्त्रीय लीलाका समर्थन कदापि नहीं करतीं। हम इस बातकी खोजमें हैं कि इतिहासमें वर्णित वह कौन सा संग्राम है जो आर्थिक दृष्टिसे सबसे अधिक लाभका कारण हुआ है और यदि यह वाक्य ठीक होता कि ऐसा युद्ध आर्थिक दृष्टिसे लाभदायक है, और यदि युद्धका फल वैसा ही अच्छा होता जैसा बतलाया जाता है, तो फ्रांसकी अपेक्षा जर्म्मनीमें रुपया सस्ता तथा अत्यन्त अधिक होता। राष्ट्रीय और व्यक्तिगत मातबरी भी अधिक बढ़ जाती। ठीक, परन्तु वास्तवमें इसका उलटा ही दिखता है। सब जोड़ घटाकर अन्तमें यही परिणाम दिखायी दिया कि युद्धके दस बरस पीछे जर्म्मनी अपने पराजित स्पर्द्धीकी अपेक्षा आर्थिक दृष्टिसे बड़ी बुरी दशामें थी और आजकलकी ही तरह अपने विजित वैरीसे ऋण लेनेका यत्न कर रही थी। जिस दिन फ्रांसने क्षतिपूरणके रुपयेका आखिरी किस्त दे दिया उसके तीन महीनेके भीतर ही भीतर बर्लिनके बंकका भाव पेरिसकी अपेक्षा चढ़ गया था और यह विदित ही है कि बिस्मार्कको बड़ा विस्मय और अचम्भा था और इसे वह एक असम्भव चमत्कार समझते थे, कि विजित फ्रांस अपने विजेताकी अपेक्षा शीघ्रतर उठ खड़ा हुआ, और इस दृश्यसे ही उनका अन्तिम जीवन मेघाच्छन्न सा रहा। इस घटनाके समर्थनमें उनकी ही वक्तृताएं प्रमाण हैं और यह सिद्ध करती हैं कि १८७८-७९ के आर्थिक संक्षोभ और दुर्दिनको जर्म्मनीकी अपेक्षा फ़ांसने अधिक सुगमतापूर्वक बिताया। और आज जहां जर्म्मनी ४) फ़ी सैकड़ेपर रुपया पाता है वहां फ्रांसको ३) फ़ी सैकड़ेपर मिलता है।......इस अवसरपर धनके सिवाय और किसी विषयपर हम विचार नहीं कर रहे हैं—अर्थात् यह कि किसी धनसम्बन्धी कारबारमें लाभ है वा हानि। और किसी भी कसौटीपर कसिये, विजित फ्रांस विजेता जर्म्मनीसे अच्छी ही दशामें दिखेगा। फ्रांसकी प्रजा जर्म्मनोंकी अपेक्षा अधिक समृद्ध, अधिक सुखी, उसकी सम्पत्ति अधिक सुरक्षित और निःशंक, अधिकतर जमारखनेवाली और तदनुगत अधिक सामाजिक और चरित्रविषयक सुविधा रखनेवाली है—जिसका संक्षिप्त वर्णन

यों हो सकता है कि फ्रांसकी हुंडियोंका भाव जहां ६८) है वहां जर्म्मनका ८३) ही है। जिस कारबारमें ऐसा उलटा फल मिले उसमें अवश्य कहीं भूल होगी।

और वह भूल अवश्य यही है कि माली मुनाफ़ा दिखानेके लिए जितनी आवश्यक घटनाएं हैं—जो घटनाएं युद्धके पहले और पीछे हुए विना नहीं रह सकतीं— उन्हें बिलकुल छोड़ देना। इंगलैंड और जर्म्मनी दोनों बड़े सुव्यवस्थित उद्योगी राष्ट्र हैं और उनकी अधिकांश आबादीका जीविका इसपर ही निर्भर है कि पड़ोसी राष्ट्र उनका माल ख़रीदा करें। यदि यह दोनों राष्ट्र सामुद्रिक लूटको अपनी साधारण नीति बना लें, तो और लोगोंको स्वरक्षामें अधिक व्यय करना और तदर्थ कम ख़रीदना पड़ेगा, और इसके व्ययका बोझ कुछ अपने हिस्सेभर उसे भी उठाना पड़ेगा जिसके कारण यह बोझा पड़ा है। फ्रांस-जर्म्मन युद्धमें जो कुछ वास्तविक खरच पड़ा उसका अधिकांश फ्रांसको नहीं देना पड़ा है, उसे सारे युरोपको और विशेषतः जर्म्मनीको ही देना पड़ा है—और वह इस रूपमें, कि युद्धके कारण सैन्यव्यूह कितना भारी हो गया है और साधारण राजनीतिक स्थिति भी कठिनतर हो गयी है।

परन्तु क्षतिपूरणमें रुपया लेनेके विषयमें एक बात विशेषतः विचारयोग्य है। वह यह है कि जब क्षतिपूरणके लिए एक बहुत बड़ी रकम नित्यके व्यापारसे निकालकर अलग कर दी जाती है तो बहुतेरी कारबारी कठिनाइयां पड़ जाती हैं, विशेषतः ऐसी दशामें कि अभीतक आर्थिक-संसार संरक्षण-नीतिका (Protectionist System) अनुयायी हो रहा है। सच पूछो तो साधारण संरक्षणवादानुसार क्षतिपूरणका पाना पानेवाले राष्ट्रकी असुविधाका भी कारण हो सकता है। यदि इसतरह प्राप्त किया हुआ रुपया देशमें ही रक्खा जावे, तो जितना ही रुपया बढ़ेगा उतनेके ही लगभग सब चीज़ोंका भाव भी चढ़ जायगा और बाहर भेजनेमें उनका दाम कम मिलनेसे रवानगी कम होगी; अर्थात् बाहरसे मुकाबला करनेमें वह टोटेमें रहेगा। और यदि वह रुपया विदेशमें व्यय हो तो जो माल उसके बदले आवेगा वह देसीका मुकाबला करके उसे ही पीछे हटावेगा। इसमें उभयपक्षको कठिनाई है। विजेताको क्षतिपूरण या तो सच्ची सम्पत्ति अर्थात् मालके रूपमें लेना पड़ेगा, जिसका फल यह होगा कि देसी कारीगरोंकी हानि होगी क्योंकि

विदेशसे न आता तो देशमें ही तय्यार होता ; और नहीं तो किसी प्रकारकी नकदीके रूपमें लेना पड़ेगा जो यदि देशकी सीमाके भीतर रहेगा तो सब ही माल महँगा हो जायगा, जिसका फल यह हुआ कि फेरफारमें अधिक रुपयोंके होनेसे रुपयेकी क्रयशक्ति घट जायगी और इसके अतिरिक्त उस देशके वैदेशिक व्यापारको भी हानि पहुँचेगी—यह सचमुच संरक्षण-नीत्यनुयायीके लिए दोनों प्रकारसे कठिनाईका कारण है, यद्यपि मुक्तद्वार-व्यापारी इससे बचा रहता है।

इस बातपर बहुत ज़ोर देनेकी ज़रूरत नहीं है। बिना ज़ोर दिये ही फ्रांसके क्षतिपूरण-विषयमें जर्म्मनीका अनुभव स्वयं इस प्रश्नको सुझाता है कि जो भारी रकम क्षतिपूरणार्थ ली जाती है जब उसके लेनदेनमें ऐसी वास्तविक माली कठिनाइयां पड़ जाती हैं जो कैसी ही स्थिति सम्भव हो सर्वथा अनिवार्य्य हैं, तब उस द्रव्यके नाम-मात्रके मूल्यपर एक भारी रकमका बट्टा क्यों न लगाया जावे ?

सर राबर्ट गिफ़्फ़ेन्‌ने इस कठिनाईको पहलेसे ही सोच रक्खा था, यद्यपि उनकी चेतावनी और प्रभावपूर्ण समर्य्यादवादपर उनके मतानुयायी साधारणतः ध्यान नहीं देते।

उनकी चेतावनीके वाक्योंका सारांश यह है—

जर्म्मनीके विषयमें विचार करते हुए यह सन्देह होता है कि जितनी हानि फ्रांसकी हो रही है उतना ही लाभ जर्म्मनीको होगा; क्योंकि क्षतिपूरणकी रकम व्यक्तियोंके हाथसे निकलकर जर्म्मन सर्कारके हाथोंमें जायगी और जितना लाभ उससे प्रजा उठा लेती उतना सरकारको नहीं हो सकता। ऋण देना तालामें बन्द रखनेसे अच्छा तो है परन्तु तब भी बड़ी बड़ी रकमें ऋण देकर फँसा रखना अन्तको हानिकारक नहीं होगा—इसमें भी सन्देह ही है।

इन बड़ी हानियों और व्ययोंके कारण जो माली कारखाई आवश्यक होती है उसका सर्राफ़ेपर बुरा प्रभाव पड़ता है। पहली बात तो यह है कि इन कार-रवाइयोंसे एकाएकी बड़ी भारी गड़बड़ मच जाती है। सन् १८७०की जुलाईमें युद्ध छिड़ जानेसे द्रव्य-विप्लवसा मच गया क्योंकि प्रजाको इस चिन्तामें कि युद्धमें न जाने कैसी पड़े अवसरानुसार रुपयोंका बन्दोबस्त करना पड़ा। फिर सितम्बर सन् १८७१में दूसरा द्रव्य-विप्लव इसलिए हो गया कि जर्म्मन सरकारको जो द्रव्य पाना था उसे उसने एकाएकी खींच लिया। इस तरह यह युद्ध इस बातका उदा-

हरण है कि जैसी विरल व्यवस्थावाला सर्राफ़ा लंडनका है, वैसे सर्राफ़ोंमें साधारणतः सभी युद्धोंसे बड़ी हलचल मच जानेकी संभावना है।

इस जगह यह भी याद रखने लायक है कि उन कठिनाइयोंके आगे, जो अब ऐसी दशामें बिना पड़े नहीं रह सकतीं, सन् १८७२ ई०की कठिनाइयोंकी तो कोई गिनती ही नहीं है। सन् १८७२में जर्म्मनी स्वतःपर्य्याप्त थी, अर्थात् उसका काम अपने देशके ही पैदावार और व्यापारसे निकल सकता था। साखका आधार नाममात्रको था। आज युरोपमें उसकी अप्रतिहत साख उसके औद्योगिक कारबारका जीवन प्राण है। वस्तुतः उसकी प्रजाकी जीविका यही है जैसा कि सन् १९११ ई०की घटनाओंने भली भांति प्रमाणित कर दिया है।*

साधारणतः इस बातको लोग नहीं समझते कि सर राबर्टकी चेतावनी जर्म्मन क्षतिपूरणमें इतिहाससे सच्ची ठहरती है और जहांतक जर्म्मनराष्ट्रका सम्बन्ध है, यह अशर्फ़ियोंका ख़ज़ाना सचमुच राख हो गया है।

जिस विषयकी चर्चा कर आये हैं उसपर ही विचार करनेसे स्पष्ट होता है कि इतनी भारी रकम देशमें आ जानेसे सब चीज़ोंका भाव चढ़ जाना चाहिए और फ्रांसके मुकाबलेमें बाहरी व्यापारको रुकावट होनी चाहिए, क्योंकि फ्रांसमें रकमकी कमीसे सब चीज़ोंका भाव घट जाना चाहिए। वस्तुतः यही बातें हुईं भी। महाशय पाल बोलू और महाशय लीयं सें† दोनोंने इस बातको सिद्ध कर दिया है कि व्यापारी हुंडियोंके भावपर इसका पूरा प्रभाव पड़ा जिससे फ्रांसके माल भेजनेवालेको तो बोनस (नफ़ा) मिला और जर्म्मन माल-भेजनेवाले अपने चढ़े भावके कारण मुकाबलेमें पिछड़ गये जिसका प्रभाव व्यापारमात्रपर पड़ा। कप्तान बर्नार्ड सेरिग्नी जिन्होंने अपने ग्रन्थमें इस विषयके अनेक प्रमाण एकत्र किये हैं यों लिखते हैं—

मालकी तय्यारीकी लागतपर भावके चढ़ जानेका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा और जर्म्मन कारखानेवालोंको इंगलैंड और फ्रांससे मुक़ाबला करनेमें नीचा देखना

---

* "हालके इतिहासकी साक्षी" वाला नवां अध्याय देखो।

† "Traité de Science des Finances", vol. ii, p. 682.

पड़ा। अन्तमें इतनी अधिक लागतके मालको अपने देसमें ही खपाना पड़ा, और वह भी ऐसे समयमें जब कि रहनसहनका खरचा बढ़ जानेसे मोल लेनेकी शक्ति बड़े वेगसे घटती जा रही थी। विदेशमें न खपनेसे माल जर्म्मनीके भीतर ही रह गया, अतः खपतसे कहीं ज्यादा माल इकट्ठा हो जानेसे उसकी बिक्रीमें जो कठिनाई हुई सो तो हुई ही, किन्तु जर्म्मनीमें भाव चढ़े हुए होनेसे बाहरी माल भी बड़े वेगसे आकर बाजारमें बिकने लगा। यद्यपि प्रतिबन्धक-कर-द्वारा उनके आनेमें सामान्यतः यों रुकावट रहती है, कि कर देनेपर उनका भाव देसी मालके भावकी अपेक्षा ऊंचा वा बराबर हो ही जाता है, परन्तु उस समय कर देकर भी भावमें विदेशी माल सस्ता ही पड़ा। और देसी मालको उसका भी मुकाबला करना पड़ा। इस मुकाबलेमें विशेषतः फ्रांसकी अच्छी बन आयी। फ्रांसमें सिक्कोंकी कमीके कारण वहां रुपयेवाले फूंक फूंक कर कदम रखते थे, और चारों ओर भाव बहुत घट गया था, सो साधारण व्यापारी तथा माली दशा जर्म्मनीकी अपेक्षा पूर्णतया भिन्न थी, क्योंकि जर्म्मनीमें एक दमसे इतना हरजेका रुपया मिल जानेसे लोग बिना विचारे ही व्यापारी जुआ खेलने लगे थे। इसके सिवाय, इसलिए कि फ्रांसने विदेशमें इतनी भारी रकम दे डाली थी, विदेशी बंकोंके नाम लिखी हुंडियोंका भाव बढ़तीपर था—ऐसी बढ़ती कि फ्रांसके बाहर माल-भेजनेवालोंको विशेषतः अधिक लाभ था—किसी किसी दशामें तो इतना अधिक था कि फ्रेंच कारखानेवालोंने हुंडीपर नफ़ा पैदा करनेके लिए अपना माल नुकसान उठाकर बेचा। इस तरह जिस समय जर्म्मन यह सोच रहे थे कि हरजेकी रकमसे वह संसारभरकी हाटको अपनी मुट्ठीमें कर लेंगे, उसी समय फ्रांसीसियोंने जर्म्मनीकी हाट दखल कर ली।"

सन १८७४ ई० में जर्म्मन अर्थशास्त्री (Max Wirth) मक्सवृर्थने फ्रांसके माली और औद्योगिक पुनरुत्थानपर बड़ा आश्चर्य्य प्रकट किया। "Geschichte der Handelskrisen" में कहते हैं कि "फ्रांसकी आर्थिक शक्तिका विचित्र दृष्टान्त इसमें है कि संधिपत्र लिखनेके बाद ही विदेशी व्यापार बढ़ गया, यद्यपि ऐसा घोर संग्राम हुआ था कि लाखों आदमी खेत रहे और छः अरब रुपये भी लगे। अध्यापक (Biermer) बीरमरने* भी यही परिणाम निकाला है और यह प्रकट किया है कि १८७९का व्यापार-रक्षा-आन्दोलन अधिकांश हरजेकी रकमके कारण फैला है।

परन्तु यह तो कई कारणोंमें से एक है। माली दुर्व्यवस्थासे—

* "Furst Bismarck als Volkswirt."

अर्थात् व्ययकी नकली वृद्धिसे जिसका फल केवल हानिकारक सट्टा वा जुआ है—जर्म्मनी ऐसे बुरे माली संकटमें पड़ गया जैसा वर्त्तमानकालमें उसपर पड़नेकी नौबत नहीं आयी थी। महाशय (Lavisse) लाविस्से इस अनुभवको संक्षेपसे यों वर्णन करते हैं—

बड़ी बड़ी रकमें डूब गयीं। अगर कोई बर्लिन बूर्सकी (सर्राफ़ेकी) ज़मानतोंका ही टोटल लगावे—जो प्रायः रेल, खानि और उद्योग विषयक थीं—तो सन १८७०-७१के सालकी ज़मानतोंकी मालियत अरबों रुपयेतक पहुंचती है। परन्तु जर्म्मनीमें सैकड़ों साहसी कारबार चल पड़े थे बूर्सको जिनकी खबर भी नहीं थी। कलोन, हम्बर्ग, फ्रं कफ़र्ट, लैपसिग, ब्रेस्लो, स्टटगार्टादि सब ही स्थानोंपर स्थानीय फाटके वा जुएवाली ज़मानतें खड़ी हो गयी थीं। उन अरबोंके साथ इन करोड़ोंको भी मिला लेना चाहिए। इन भेदोंसे केवल यही नहीं सिद्ध हुआ कि सम्पत्तिने स्थान बदला है किन्तु यह भी कि जो पूंजी लगायी गयी उसका एक बहुत बड़ा अंश एकदम डूब गया, क्योंकि बेसोचे समझे ऐसे कारबारमें फँसा दिया गया जिसे किसीने बात भी नहीं पूछी।......इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं हो सकता कि इन निकम्मे साहसी धन्धोंमें रुपया लगानेसे जर्म्मनीको सदाके लिये उतनी पूंजीसे हाथ धोना पड़ा।

यद्यपि १८७२की हलचलके पीछे युरोपके और सब देशोंके लिए और विशेषतः जर्म्मनीके लिए मन्द दशा थी तथापि सन् १८७०-८०का दशक फ्रांसके पुनरुद्धारका समय था। इन दोनों बातोंका बिस्मार्कसे बढ़कर कौन प्रमाण हो सकता है। उनके विचारमें यह अद्भुत और असम्भव चमत्कार था, जिसे देखते देखते बिस्मार्कका जीवन मेघाच्छन्न हो गया था—कि युद्धके अनन्तर जर्म्मनीकी अपेक्षा फ्रांसका पुनरुद्धार अधिक शीघ्रता और अधिक पूर्णतासे हो रहा है—यहांतक कि १८७९में व्यापार-संरक्षणके कानूनका मसविदा पेश करते हुए उन्होंने कहा कि जर्म्मनी धीरे धीरे रुधिरस्रावसे मर रहा है और यदि ऐसी ही दशा रही तो उसके नष्ट होनेमें कुछ शेष न रहेगा। २ मई १८७९को बिस्मार्कने जर्म्मन व्यवस्थापक सभामें यों कहा था—

"हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सभ्य संसारके कारबारको आजकलके संकटकी दशामें फ्रांस हमारी अपेक्षा अधिक सुगमता और चातुर्य्यसे सँभाल रहा है, और १८७१से अबतक उसके बजटमें डेढ़ अरबकी वृद्धि हो चुकी, और वह भी केवल

ऋणोंद्वारा नहीं। हम देखते हैं कि जर्म्मनीकी अपेक्षा फ्रांस अधिक विभव रखता है; निदान फ्रांसमें ज़मानेकी शिकायत कम है।"

और दो बरस पीछे [नवम्बर २६, १८८१] एक व्याख्यानमें फिर वही विचार प्रकट करते हैं—

सन १८७७के लगभग मैं यह पहले पहल देखकर अचम्भेमें हुआ कि फ्रांसकी अपेक्षा जर्म्मनीमें लोकव्यापी दुर्भिक्ष बढ़ता जा रहा है। कारखाने टूट गये, सुखोपजीवनका परिमाण घट गया, काम करनेवालोंकी साधारण दशा बिगड़ गयी और कारबार एकदम चौपट सा हो गया।"

जिस *पुस्तकके यह अवतरण हैं उसके लेखकने बिस्मार्ककी वक्तृताओंपर प्रस्तावनाकी भांति यों लिखा है—

उद्योग और वाणिज्य दोनोंकी दुर्दशा हो रही थी। हज़ारों काम करनेवाले बेकार थे, और १८७६–७७के जाड़ोंमें बेकारी अत्यन्त बढ़ गयी, यहांतक कि जर्म्मन सरकारको मुहताज-खाने और कारखाने खोलने पड़े।

जो जो ग्रन्थकार इस समयका वर्णन करते हैं विस्तारमें उनमें परस्पर कितना ही भेद हो किन्तु सब ही मोटी तौरपर यही कहानी कहते हैं। १८७९में महाशय ब्लाक कहते हैं "क्या अच्छा होता यदि हम फिर उसी स्थितिको लौट जाते जो युद्धके पहले थी। किन्तु इस समय तो तनख़ाहें घट रही हैं और सब चीज़ें महँगी होती जाती हैं।" †

जिस समय जर्म्मनीमें फ्रांसके धनकी वर्षा हो रही थी उस समय (१८७३) ही, जर्म्मनी एक बड़े माली संकटमें पड़ा हुआ था, और वाणिज्य और साहूकारेपर साधारणतः रुपयेकी इस आमदका इतना कम प्रभाव पड़ा कि हरजेकी आख़िरी किस्त अदा होनेके सालभरमें ही बर्लिनमें पैरिसकी अपेक्षा बंकका भाव चढ़ गया था। और जर्म्मन अर्थशास्त्री (Soetbeer) ज़्वैटबीरके अनुसार सन १८७८तक फ्रांसमें हेराफेरीमें जर्म्मनीकी अपेक्षा अधिक रुपया

---

* "Die Wirtschafts Finanz und Sozialreform im Deutschen Reich." Leipzig, 1882.

† "La Crise Economique," *Revue des Deux Mondes*, March 15, 1879.

था।* सन १८७३से १८८०तक जो माली संकटोंका सिलसिला चला गया (Hans Blum) हंस ब्लुमने तो उसे साफ़ साफ़ हरजेके धनके कारण बतलाया है और यह लिखा है कि "धनकी तो एकाएकी वर्षा हुई पर हज़ारोंका सर्वनाश हो गया।" १८७५के सालभर पैरिसमें बंकका भाव ३) सैकड़ा था। बर्लिनमें ४) से लेकर ६) सैकड़ा था। इस तरहका भेद इस बातसे भी दिखायी देता है कि सन १८७२से १८७७तक पांच बरसमें जर्म्मनीके सरकारी बंककी जमा वस्तुतः मोटे हिसाबसे सैकड़ा पीछे बीस घट गयी, और उसी कालमें फ्रांसकी जमा सैकड़ा पीछे बीसके लगभग बढ़ गयी।

युद्धके पीछेवाले दशकमें जर्म्मनीकी जैसी दशा थी वह दो प्रवृत्तियोंसे स्पष्ट हो जाती है; एक तो समष्टिवादकी अत्यन्त वृद्धि—इतनी वृद्धि जितनी तबसे आजतक देखी नहीं गयी; दूसरे यह कि स्वदेशत्यागकी प्रवृत्ति अत्यन्त उत्तेजित हो गयी।

साधारणतः सभी युद्धवादी इस दलीलकी ओट लेते हैं, कि यद्यपि संकुचित आर्थिक दृष्टिसे कोई १८७०वाले साहसिक युद्धको न्याय्य न सिद्ध कर सके, तथापि जर्म्मन जातिको उस विजयसे जो मानसिक प्रोत्साहन मिला वह उस जाति, उस राष्ट्रके लिए परिमाणातीत लाभ समझा जाता है। उसके प्रभाव जो यह कहे जाते हैं कि राष्ट्र अधिकाधिक सुदृढ़ हो जाता है, देशभक्ति और जातीय गौरवकी उत्तेजना और आन्तरिक भेदभावका मिटना, और इनके अतिरिक्त न जाने क्या क्या लाभ विजयसे होते हैं, सो

* Maurice Block, "La Crise Economique," *Revue des Deux Mondes*, March 15, 1879. See also "Les Consequences Economiqnes de la Prochaine Guerre," Captaine Bernard Serrigny Paris, 1909. महाशय सेरिग्नी यों कहते हैं कि "यह बात स्पष्ट है कि जर्म्मनीकी माली स्थिति ऐसी आपत्तिजनक थी कि युद्ध छिड़ जानेपर उसे ११) रुपया सैकड़ेके अभूतपूर्व व्याजपर ऋण लेना पड़ा और इस ऋणके ही कारण बिस्मार्कने हरजेकी रकम इतनी बढ़ाकर रक्खी। उनका ख्याल था कि इस तरह देशकी माली दुरवस्था सुधर जायगी। कुछ भी हो वास्तविक घटनाओंने उन्हें बड़ी निष्ठुरतासे धोखा दिया। हरजेकी अन्तिम रकम देनेके दो चार महीनेके भीतर ही फ्रांसका धन फ्रांसको फिर लौट आया और जर्म्मनी और भी धनहीन होकर अत्यन्त संकटमें फँस गया जो अधिकांश उसके क्षणिक सम्पत्तिका प्रत्यक्ष फल था।"

† "Das Deutsche Reich zur Zeit Bismarcks."

मैंने अन्यत्र इन विषयोंपर पूरा विचार किया है और यहां कवल इतना कहूंगा कि यह सब लम्बो चौड़ी बातें सत्य घटनाओंकी कसौटीपर नहीं ठहरतीं। अभी जिन दो अद्भुत घटनाओंका निर्देश किया गया है—अर्थात् समष्टिवादकी असाधारण वृद्धि और देशत्यागका अत्यन्त प्रोत्साहन जो युद्धके अनन्तर कुछ वर्षोंमें दृष्टि-गोचर हुआ—इनसे ही उन बातोंका खंडन हो जाता है। जिन वर्षोंमें कि विजयकी मानसिक उत्तेजनासे और हरजेके रुपयोंकी आर्थिक उत्ते-जनासे प्रत्येक बल-स्वास्थ्य-सम्पन्न जर्म्मन अपने देशमें ही रह जाता; युद्धके बादके उन्हीं बरसोंमें जितने मनुष्योंने देशत्याग किया आबादोके हिसावसे उतने मनुष्योंने न कभी पहले देशत्याग किया था न तबसे अबतक किया है। देशत्यागियोंकी संख्या १८७२में १,५४००० और १८७३ में १,३४००० थी। सन १८५०से अवतक इन ही वर्षोंमें सबसे कठिन भीतरी राजनीतिक झगड़े पड़े थे। वह समय ही सरकारी दबावका था। एक ओरसे सेनामें बेगार भरती होती थी और दूसरी ओर जाति-विद्वेष फैला हुआ था। उसी समयके लिए किसी जर्म्मन लेखकने कहा है कि "दलेलके सिपाहियोंका मानों सतयुग था"।

इसका यह उत्तर दिया जायगा कि युद्धके पहले दशकके अनन्तर जर्म्मनीके व्यापारकी जैसी उन्नति हुई वैसी फ्रांसकी तो नहीं हुई। जो लोग इस भ्रममें पड़े हुए हैं, वह एक अत्यन्त आवश्यक घटनाको नहीं समझते जिसका प्रभाव युद्धकालसे ही नहीं किन्तु उन्नीसवीं शताब्दीभर जर्म्मनी और फ्रांसपर पड़ता रहा

---

* इस सम्बन्धमें जर्म्मन देशत्यागविषयक संख्याएं अनेक परिणामसूचक हैं। यद्यपि उनमें न्यूनाधिक्य बहुत है जिससे अनेक कारणोंका होना सूचित होता है किन्तु युद्धके पीछे यह संख्याएं बराबर बढ़ती जान पड़ती हैं। यथा, जर्म्मनीके अन्तर्गत राज्योंके युद्धोंके पीछे यह दूनी हो गयी, क्योंकि पांच बरस पहले ४१,०००का औसत था किन्तु सन १८६५के पीछे यह संख्या एक लाख हो गयी। १८६९तकमें घटकर ७०,००० हुई थीं किन्तु सन १८७२-में एकाएकी १,५४,००० हो गयी और इससे भी अद्भुत बात यह है कि देश-त्याग विजित देशवालोंने नहीं किया वरन विजयी देशके वासियोंने। हमारा यह कथन नहीं है कि संख्याकी इस तरंगवत् दशाका एक युद्ध ही कारण है किन्तु हमारा अनुरोध है कि जो जो लाभ सफल युद्धमें कहे जाते हैं उनका प्रभाव जैसा देशत्यागपर पड़ता है वह ध्यानपूर्वक विचारणीय है। See particularly "L'Emigration Allemande" *Revue des Deux Mondes*, January, 1874.

है। वह घटना पचास बरस पहलेही पूर्णतया प्रकट थी; अतः फ्रांस-जर्म्मनी-युद्धसे उससे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। वह घटना यह है कि फ्रांसकी जनसंख्या सर्वथा स्थिर है, और जर्म्मनीकी जनसंख्या बढ़ती जा रही है। इस वृद्धिके कारणोंसे और युद्धसे कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि यह विषय भी आधी शताब्दी पहलेसे स्पष्ट है। १८७५से आजतक जर्म्मनीमें दो करोड़ आदमी बढ़ गये। फ्रांसमें कुछ भी नहीं बढ़े। क्या इसमें भी आश्चर्य्य है कि एक ओर दो करोड़ मनुष्योंका बढ़ा हुआ काम दूसरी ओरके बिलकुल न बढ़े हुए कामकी अपेक्षा औद्योगिक संसारमें कुछ हलचल पैदा करे? और क्या यह स्पष्ट नहीं है कि वह औद्योगिक वृद्धि जो वर्द्धमान जन-संख्याको जीविकाकी अत्यन्त आवश्यकतासे संघटित हो, देशकी सीमाको भी अतिक्रमण कर जाय; और यह कि स्वभावतः जिस देशमें ऐसी स्थिति वा आवश्यकता न हो उसमें ऐसी वृद्धि संघटित न हो? इसके सिवाय यह बात भी याद रखनी चाहिए कि जर्म्मनीने अपनी प्रजाके साधारण सुखोपजीवनकी अपेक्षा कठिन नियमों और दुरवस्थाओंको अपने ऊपर लेकर अपने बाहरी व्यापारको बढ़ाया है। अर्थात् उसने इस तरह अपने मुनाफ़ेको काट काटकर अपना व्यापार बढ़ाया जैसे कोई कारबारी अपने जीवनरक्षार्थ, अपने मालके विक्रयार्थ, ऐसे ऐसे कष्ट उठाता और अपने मुनाफ़ोंको कटवा देता है जैसा कि साधारण सुखसे व्यापार करनेवाले कारबारी लोग कदापि न कर सकेंगे। यद्यपि फ्रांसने युद्धके पीछे विदेशी व्यापारमें कोई हलचल डालनेवाली उन्नति नहीं की है तथापि उसकी प्रजाके सुखोपजीवनका परिमाण दृढ़तासे बढ़ता गया है और आज जर्म्मन प्रजाकी अपेक्षा प्रायः अधिक ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। उसकी माली स्थितिमें उसके सुखोपजीवनका उच्च परिमाण प्रतिबिम्बित है। आज वही विजेता जर्म्मनी फ्रांसके सामने हाथ पसारे हुए है और यह बात कोई राजनीतिक रहस्य नहीं है कि जर्म्मनी अपनी ज़मानतोंको फ्रांसके सर्राफ़ोंमें सरकारी रीतिसे मनवानेके लिए कितने बरसोंसे बराबर अपने सारे राजनीति चातुर्य्यको काममें ला रहा है। सच पूछो तो माली दृष्टिसे वास्तविक कोड़ा फ्रांसके ही हाथोंमें है।

बात इतनी ही नहीं है। जो लोग बड़े गर्वसे युद्ध और विजयके लाभोंके प्रमाणमें जर्म्मन औद्योगिक उन्नतिको पेश करते हैं वह ऐसी

कई घटनाओंको भूल जाते हैं जिनपर बिना विचार किये उनकी बहस कौड़ी कामकी नहीं रहती। वह यह हैं—

१—ऐसी उन्नति जर्म्मनीकी ही विशेषता नहीं है। साधारण नागरिककी सम्पत्ति और सामाजिक उन्नतिका विचार कीजिये तो यह उन्नति, इतनी ही वा इससे भी अधिक अंशमें, उन राज्योंमें भी हुई है जिनमें कोई जय-यश-सम्पन्न युद्ध नहीं हुआ है—जैसे नारवे, स्वीडेन, हालैंड और स्वित्सरलैंड।

२—ऐसा न होनेपर भी थोड़ी देरके लिए यदि यह उन्नतिकी विशेषता जर्म्मनीमें ही मान ली जाय, तो हमको यह प्रश्न करनेका अधिकार होगा कि क्या इस उन्नतिके कहीं अधिक कारण—जिनका प्रत्यक्ष और बोधगम्य प्रभाव औद्योगिक-वृद्धिपर पड़ सकता है—युद्धके पहलेके जर्म्मन राजनीतिक विकासके कतिपय रूप नहीं हैं? विशेषतः इस सम्बन्धमें मेरा निर्देश अवश्य जर्म्मन राज्योंमें उस धन-सम्बन्धी संधि-जनित महान परिवर्त्तनसे है जो सन १८७०-वाले फ्रांस-जर्म्मन-युद्धकी-घोषणाके पूर्व ही पूर्णताको प्राप्त हो चुका था। इस बातकी तो कोई चर्चा ही नहीं कि इस उन्नतिके और भी कारण हुए, जैसे टामस-गिलक्रिष्ट-प्रक्रियाका आविष्कार जिसके द्वारा जर्म्मनीकी लोहस्फुरक कच्ची धातु जो पहले सर्वथा निरर्थक थी, काममें लायी जाने लगी।

३—बड़ी घोर सामाजिक कठिनाइयोंका सामना—जिनका आर्थिक पक्ष भी है—जर्म्मन प्रजाको करना पड़ता है, जैसे कठिन जाति-विद्वेष, पार्लिमेंट-राज्यकी मन्द दशा, प्रायः प्रतिघातक राजनीतिक विचारोंका अवशेष, जो प्रशा-राज्यके आदर्शसे अच्छादित है, इत्यादि। इन कठिनाइयोंका सामना उन देशोंको उतना नहीं करना पड़ता जिनकी राजनीतिक उन्नतिमें विजयी युद्धोंका काम कम पड़ा है—जैसे वह छोटे छोटे राज्य जिनकी चर्चा अभी की गयी है। युरोपके बड़े बड़े राष्ट्रोंमें एक जर्म्मनीको ही जो यह कठिनाइयां झेलनी पड़ीं उसका कारण अधिकांश फ्रांस-जर्म्मन-युद्ध ही है। उस युद्धसे जसी साधारण व्यवस्था हो गयी थी और उससे जो आन्तरिक राजनीतिक एकताकी ओर प्रवृत्ति हो गयी थी उसी व्यवस्था' उसी प्रवृत्तिका अंश इन सारी कठिनाइयोंमें सम्मिलित है।

जितनी वास्तविक उन्नति जर्म्मनीने की है उसे सब लोग युद्ध छोड़ और किसी कारणसे बतलाते ही नहीं। वस्तुतः यह एक ऐसी निष्पत्ति है जिसमें लोग चुपचाप उन सब कारणोंको भुला देते हैं जिनका प्रभाव जर्म्मन उन्नतिपर प्रत्यक्षरीतिसे पड़ता है। यह एक ऐसा पक्षपातपूर्ण निर्णय है जिसे बड़े बड़े नामी सार्वजनिक-विषयोंके पंडितोंने भी बिना खोजे, बिना विचारे, तोतेकी भांति बार बार दुहराया है। यह उस अविचार और प्रमादका ठीक लक्षण है जिसने इस विषयपर पूरा अधिकार जमा लिया है। परन्तु यह प्रश्न अधिक सामान्य विचारका है जो क्षतिपूरणके झगड़ेमें ठीक ठीक नहीं आता, अतः मैंने विस्तारसे अगले अध्यायमें इसका वर्णन किया है। इस प्रश्नविशेषका साक्ष्य और प्रमाण—कि वस्तुतः विजित वैरीसे बड़ी रकममें क्षतिपूरण लेना विजेताके लिए कभी आर्थिक रीतिसे लाभकारी वा सचमुच सुविधाजनक हो सकता है वा नहीं—अत्यन्त सरल है। यदि हम इस रूपमें प्रश्न करें कि "इतिहासमें सबसे स्वाभाविक और विजयी युद्धका क्षतिपूरण लेकर विजेताको लाभ हुआ या नहीं," तो इसका उत्तर बहुत सीधा सा यह होगा, कि जितने प्रमाण हैं सब ही सरलतापूर्वक यही सिद्ध करते हैं कि कोई लाभ नहीं हुआ और यह कि विजेता न लेता तब ही उसके लिये अच्छा था।

परन्तु यदि हम उस प्रमाणसे उलटा ही परिणाम निकालें—यदि हम यह भी समझ लें कि क्षतिपूरणके वसूल कर लेनेसे वस्तुतः उतना ही लाभ हुआ जितना प्रमाणोंसे हानिकारक प्रकट होता है—यदि हम उन माली और व्यापारी कठिनाइयोंको भी, जो क्षति-पूरण-प्राप्तिका कारण जान पड़ती हैं, इस बहससे बिलकुल अलग कर सकें—यदि हम यह भी समझलें कि जो बड़े बड़े माली संकट उसकी प्राप्तिके पीछे पड़े वह अन्य अन्य कारणोंसे थे—यदि हम क्षतिपूरणके नाममात्रके मूल्यपर कुछ भी बट्टा न लगावें, वरन् यह समझलें कि जर्म्मनीको जितने रुपये, जितनी पाइयां मिलीं, सबका वास्तविक मूल्य पूरा रुपया और पाई ही ठहरा—इन सारी बातोंको मानते हुए भी, इसमें फिर भी कोई सन्देह, कोई कोरकसर नहीं रह जाती कि व्यापारी दृष्टिसे सन १८७०के युद्धमें बड़ा गहिरा घाटा, बहुत बड़ा टोटा पड़ा। कारण यह कि, इसमें कच्चा मुनाफ़ा

क्षतिपूरण और दो सूबोंका मिलना ही हुआ यद्यपि इस काममें केवल रुपयोंका ही खर्च जोड़ा जाय तो क्षतिपूरणकी रकम और सूबोंकी कीमतसे कहीं ज्यादा होता है।

इसपर यह बहस अवश्य की जा सकती है कि आगे ऐसे अवसरपर जर्म्मनी सरीखा राष्ट्र और भी बड़ी रकम वसूल करेगा और जिन भूलोंसे सारे लाभ मिट्टीमें मिल गये उनसे बचा रहेगा। इसका निस्संदेह यह उत्तर होगा कि सन १८७२की कठिनाइयां आज और विराट रूपसे बढ़ गयी हैं; जर्म्मनी अब युरोपकी साखका भरोसा रखता है; चालीस वरस पहले यह बात नहीं थी; जिन जोखिमोंसे १८७२में बुद्धि-चातुर्य्यसे बचना संभव था आज उनसे वचना राजनीतिक चमत्कार होगा। युद्धका व्यय, कठिनाई और उसका घातक परिणाम, सब ही आज अपरिमित-रूपसे बढ़ा हुआ है। १८७०के युद्धका उभयपक्षका व्यय सर रावर्ट गिफ़ेन्के अनुसार नव अरब रुपया होता है। तीस ही वरस पीछे उभय-पक्षका व्यय मिलाकर इससे भी अधिक खर्च उस युद्धमें हुआ जिसमें इंगलैंडको, चार करोड़ नहीं, वरन एक लाखके ही लगभग मनुष्योंको पराजित करना था। १८७०में जर्म्मनीको इस हिसाबसे चार सौ गुना अधिक मनुष्योंका मुकाबला करना था।

जो लोग हठपूर्वक यही सिद्धान्त मानते हैं कि क्षतिपूरण-द्वारा युद्धसे रुपया पैदा हो सकता है—और उनके लिए ही यह अध्याय लिखा गया है—उनके आगे अत्यन्त गंभीर और बड़े जटिल प्रश्न उपस्थित हैं, जो कोरे सैनिक ही नहीं किन्तु धन और समाज सम्बन्धी भी हैं। सन १८७०में जर्म्मन-विज्ञान उपस्थित विषयके इस विभागमें ही हार मान गया। इस बातका कोई प्रमाण नहीं है कि सन १८७०के युद्धके पीछे इस प्रश्नके विचारमें उभयपक्षसे किसीने भी कदम बढ़ाया हो; वरन इसके अनेक प्रमाण हैं कि इस विषयके अध्ययनको लोग एकदम भूल गये। अब समय आ गया है कि इस प्रश्नपर उचित और वैज्ञानिक रीतिसे विचार किया जाय।

जो लोग युरोपका भला चाहते हैं वह इस विषयके अध्ययनको प्रोत्साहित करेंगे, क्योंकि इसका परिणाम एक यही हो सकता है कि—दिनोंदिन युद्धका लाभ घटता ही जायगा; संसारकी सब

ही शक्तियां जो प्रतिदिन प्रबल होती जा रही हैं युद्धरूपी समस्त वाणिज्यको अधिकाधिक असंगत और अयुक्त करती जाती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिके इस विभागके अध्ययनका वही परिणाम होगा जो उसके किसी पक्षके अध्ययनसे हो सकता है, अर्थात् उन विश्वासोंका निर्मूलन हो जायगा जिनसे भूतकालमें सभ्य जातियोंमें बहुधा युद्ध हुए और जो अब भी प्रायः ऐसे कारण समझे जाते हैं जिनसे सभ्य जातियोंमें युद्ध होना सम्भव माना जाता है।

सातवां अध्याय

उपनिवेशोंपर स्वामित्व

बीसवीं शताब्दीकी रीतियोंको अट्ठारहवींसे भिन्न क्यों होना चाहिए—हमारे राज्यशासन-विषयक विचारोंकी अस्पष्टता—उपनिवेशोंपर हमारा "स्वामित्व" कैसा है—कुछ ऐसी घटनाएं जिनकी ओर कोई ध्यान नहीं देता—विदेशी लोग इंगलैंडसे उसके स्वतंत्र उपनिवेशोंके लिए क्यों नहीं लड़ सकते—उसका स्वामित्व उनपर नहीं है क्योंकि वह स्वाधीन हैं—विजयका विरोधाभास; विदेशियोंकी अपेक्षा अपने ही उपनिवेशोंसे इंगलैंडका अधिक दवा रहना—इतिहासमें सबसे पुराने और कुशल उपनिवेश-निर्माता-रूपसे उसका अनुभव—वर्त्तमान फ्रेंचों-का अनुभव—जो इंगलैंड न कर सका, क्या जर्म्मनी उसे ही करनेकी आशा कर सकता है?

तीसरे अध्यायमें जिन सात बातोंका स्थूलरूपसे वर्णन हुआ था, गत अध्यायोंमें उनमें छः पर विचार किया जा चुका। सातवीं बात बाकी है, अर्थात् यह कि किसी रीतिसे विदेशी जाति हमारे उपनिवेशोंको हमसे छीनकर हमारे सुख समृद्धि और सुरक्षामें बाधा डालेगी—और इस बातका हमको विश्वास दिलाया जाता है कि हमारे स्पर्द्धी इसके लिए अत्यन्त अधीर हैं, क्योंकि इस घटनासे उनको यह लाभ होगा कि ब्रिटिश साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो जायगा।

व्यवच्छेद करनेपर यद्यपि बात बालबुद्धि सी दिखती है, तथापि जो लोग हमारे राजनीतिक विचार उत्पन्न करते हैं साधारणतः उनके ही मुखसे ऐसी बातें निकलती हैं, अतएव उस वाक्यका कुछ अर्थ निकालनेका अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।

यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न है। इसके प्रत्येक पक्षमें, एतावता यहां भी, यह कह देना आवश्यक है कि संसार परिवर्त्तित हो गया है, रीतियां बदल गयी हैं। यह संभव नहीं है कि आज सैन्यबलकी अनिवार्य्य निःसारतापर हम दस मिनिट भी शास्त्रार्थ करें, और यह न पेश किया जाय कि जैसे इंगलैंडने शस्त्रबलसे उपनिवेश प्राप्त किये, उसी प्रकार शस्त्रबल उपनिवेश-प्राप्तिमें और राज्योंको भी सहायक हो सकता है। शायद उतना ही न्यायपूर्वक कोई यह भी कह सकता है कि जैसे अगले समयमें वीर जातियां और युद्ध-प्रिय राष्ट्र अपने पड़ोसकी जातियोंको बन्दी करके दास दासियां

बना लेते और उनकेद्वारा धनोपार्जन करते थे, उसी प्रकार अब भी दास दासियां बनानेके लालचसे जातियों और राष्ट्रोंमें परस्पर संग्राम होना आवश्यक है। मानों आजकलकी औद्योगिक रीतियोंने दासत्वको आर्थिक रीतिसे एकदम निकाल बाहर नहीं कर दिया है; मानों सामाजिक रीतियोंमें परिवर्त्तन होनेसे स्त्रियोंका हर लेना बन्द नहीं हो गया है।

सोलहवीं शताब्दीके साहसी सौदागरके सामने कौन सा प्रश्न उपस्थित था? यह कि बहुतेरी नवज्ञात विदेशी भूमि पड़ी हुई थी जिनमें उसके विचारानुसार बहुमूल्य धातु, हीरे, जवाहर, मसाले आदि भरे पड़े थे और जहां जंगली या अधजंगली लोग रहते थे। यह सब माल जब दूसरे सौदागरोंके हाथ आ जाय तो स्पष्ट है कि उसको न मिलेंगे। अतः उसकी औपनिवेशिक नीतिके दो उद्देश्य थे; एक यह कि देशपर ऐसा पूरा राजनीतिक दखल रहे कि जंगली वा अधजंगली प्रजा दबी रहे, जिसमें उस भूमिसे वह जितनी सम्पत्ति उठा ला सके उठा लाये; दूसरे यह कि अन्य जातियोंको उस देशकी सम्पत्ति सोना, चांदी, मसाले, हीरे, जवाहरका पता न लग सके, और वह उन्हें रोक सके, क्योंकि यदि वह पा जायँगे तो उसे कैसे मिलेगा।

भारतवर्षमें फ्रेंच और डच लोगोंकी और दक्षिणी अमेरिकामें स्पेन-निवासियोंकी यही कथा है। परन्तु उन देशोंमें ही रहनेवाली एक सुव्यवस्थित जाति ज्यों ही बन गयी, वह सारी बात बदल गयी। अतः उपनिवेशोंका लाभ विशेषतः इस बातमें है कि पैतृक-देशके लिए माल खपानेको बाज़ार मिल जाता है और अन्न और कच्चा माल उसके बदले मिल सकता है। और यदि इन बातोंमें उपनिवेशोंकी पूरी उन्नति इष्ट है तो न्यूनाधिक परिमाणमें वह अवश्य स्वतंत्र हो जायँगे, और पैतृक देश उनसे उतना ही लाभ उठा सकता है जितना अपने सम्बन्धके किसी देशसे। जर्म्मनी कनाडाको ले ले, परन्तु उसका ले लेना वहांके सोना चांदी आदि बहुमूल्य धातुओंका लेना वा किसी और तरहपर उसकी सम्पत्तिका लेना नहीं है, जिसे अन्य जातियां न ले सकें। यदि जर्म्मनी कनाडाका आधिपत्य करे तो उसी प्रकार कर सकेगा जैसे अंग्रेज। जर्म्मनीको कनाडाके गेहूंके हर बोरेका दाम अपने आधिपत्य में भी

उसी तरह देना पड़ेगा जिस तरह अन्य किसीके आधिपत्यमें। जर्म्मनीकी इतनी अल्प-कामना भी पूरी नहीं हो सकती कि कनाडाके लोग जर्म्मन सांचेमें ढल जायँ, क्योंकि विदित है कि वह लोग बड़ी दृढ़तासे अपने ही सांचेमें ढल चुके हैं। उनकी भाषा, उनकी नीति, उनका आचार जर्म्मन-विजयके पीछे भी वही रहेगा जो अब है और जर्म्मनी देखेगा कि जर्म्मन कनाडा वैसा ही है जैसा पहले था, और अब भी जर्म्मन लोग पहली स्वतंत्रतासे आते जाते और बसते हैं और जर्म्मनीकी वर्धमान प्रजाके लिए अब भी वहां जगह मिलती है।

वास्तविक बात यह है कि जर्म्मनी अपनी नित्य बढ़ती हुई प्रजाका पालन कनाडा संयुक्त-राज्य (United States.) तथा दक्षिणी अमेरिका सरीखे देशोंद्वारा, विना कभी वहां गये, कर लेता है। जर्म्मनीसे निकलकर विदेश बसना बन्द हो गया है क्योंकि यौगिक-भाफ-अंजनके आविष्कारसे विदेशगमन अनावश्यक हो गया। और यही तो उन्नति है जो उन शक्तियोंसे उत्पन्न हुई है जिनसे सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दीके और बीसवीं शताब्दीके औपनिवेशिक प्रश्नमें पूरा भेद पड़ गया।

मैंने इस मामलेको इस प्रकार वर्णन किया है। ब्रिटिश उपनिवेशोंको जीतकर कोई विदेशी राष्ट्र लाभ नहीं उठा सकता, उनके निकल जानेसे ब्रिटेनकी भी कोई आर्थिक हानि नहीं हो सकती। चाहे काल्पनिक कारणों और रसिक भावोंसे इस हानिपर कितना ही शोक प्रकाश किया जाय और कहा जाय कि एक मेलकी जातियोंमें लाभदायक सामाजिक सहकारिता अधिक कठिन हो जाती है। क्योंकि ब्रिटिश उपनिवेश पैतृक देशसे मैत्री रखनेवाले स्वतंत्र राष्ट्र हैं और पैतृक देशको उनसे कोई कर नहीं मिलता, न तो कोई ऐसा आर्थिक लाभ होता है जो विदेशी जातियोंसे न होता वा हो सकता हो; क्योंकि उनका आर्थिक सम्बन्ध पैतृकदेश नहीं निश्चित करता, वह स्वयं निश्चित करते हैं। आर्थिक दृष्टिसे तो उनके विधिपूर्वक अलग हो जानेसे इंगलैंडका लाभ है। क्योंकि उनकी रक्षाके खरचसे इंगलैंड बच जायगा। जब उपनिवेशोंके निकल जानेसे इस खरचकी बचतके सिवाय और कोई आर्थिक परिवर्त्तन नहीं होता,-तो इससे हानि दिखानेवाले जो कहते हैं कि साम्राज्य

सत्यानाश हो जायगा और पैतृकदेशकी प्रजा भूखों मर जायगी, यह बात सारहीन है। जब इंगलैंड ही कोई आर्थिक लाभ वा कर लेनेमें समर्थ नहीं हुआ है, तो यह बात विचारमें नहीं आ सकती कि कोई दूसरा देश, जो औपनिवेशिक व्यवस्थामें अवश्य कम अनुभव रखता होगा, उस कार्य्यमें सफलता प्राप्त करे जिसमें इंगलैंडको सफलता नहीं हुई। इस सम्बन्धमें विशेषतः स्पेनीय, पुर्तगीज़, फिरंगी और अंग्रेज़ोंके औपनिवेशिक साम्राज्योंके पूर्व इतिहासपर विचार करना चाहिए—जिससे यह भी प्रकट होता है कि राज्योपनिवेशोंकी स्थिति स्वतंत्रोपनिवेशोंकी अपेक्षा स्थूलरूपसे तनिक भी भिन्न नहीं है। अतः यह अनुमानमें नहीं आता कि कोई युरोपीय राष्ट्र, इंगलैंड-विजय-कामनासे प्रेरित हो उसके उपनिवेशोंके साथ ऐसी परीक्षाके लिए—जिसका अवश्यमेव निष्फल होना इतिहास सिद्ध है—अपने असीम धनको डूबनेवाले व्यापारमें लगानेका दुःसाहस करेगा।

वास्तविक बातें क्या हैं? संसारमें सबसे कुशल विदेश-बसानेवाली जाति अंग्रेजोंकी है और अनुभवसे लाचार हो इंगलैंडको जिस नीतिका अवलम्बन करना पड़ा है उसका स्थूलरूपसे वर्णन औपनिवेशिक-प्रश्नोंपर प्रमाणवत्-प्रतिष्ठा-प्राप्त सर सी. पी. लूकसने किया है। अमेरिका महाद्वीपमें ब्रिटिश उपनिवेशोंके इतिहास-सम्बन्धमें यों लिखते हैं—

"यह बात देखनेमें आयी—और देखनेमें न भी आती यदि संयुक्त-राज्य (United States) स्वाधीन न हो गये होते—कि अंग्रेज बसनेवाले प्राचीन यूनानी बसनेवालोंकी भांति विदेशमें अपने छूटे हुए देशवासियोंके अधीन होकर नहीं बसते वरन् उनसे बराबरीका दरजा रखते हैं। जब वह सफलतापूर्वक एक दूसरे दूरदेशको बसा लेते हैं तो उसका शासन पूर्ण विस्तारमें बिना किसीकी छेड़छाड़के स्वयं करना चाहते हैं। और चाहे वह सद्व्यहार करें वा असद्—सद्व्यवहारकी अपेक्षा असद्व्यवहारमें प्रायः अधिक—वह बलपूर्वक राजी नहीं किये जा सकते। और सच्चा औपनिवेशिक साम्राज्य तबतक ही स्थिर रह सकता है जबतक पैतृक-देश और उपनिवेशमें परस्पर स्वार्थैक्य हो, सद्भाव हो तथा इनमें एक भी दूसरेके प्रति अपने न्याय्य अधिकारोंको चरमसीमातक पहुंचानेका प्रयत्न न करे।"

कोई मोटी समझवाला भी यह सोच सकता है कि जब पालिसी यह है कि वह जो चाहें सो करें—"चाहे वह सद्व्यवहार करें

वा असत्—सद्व्यवहारकी अपेक्षा असद्व्यवहारमें प्रायः उनको अधिक स्वतंत्रता है, तो उनको जीत लेनेसे लाभ ही क्या है ! और उनको पराजित करके हमको क्या मिला जब वह बलपूर्वक फिर भी राजी नहीं किये जा सकते ? स्पष्टतः इस बातसे ही सारा विषय व्यर्थ और असंगत सिद्ध हो जाता है। जर्म्मनी जैसे महा-शक्तिको यदि उपनिवेशोंको हस्तगत करनेके लिए बलसे काम लेना हो तो मालूम हो जायगा कि यह बलपूर्वक राजी नहीं किये जा सकते और टिकाऊ नीति यही हो सकेगी कि वे उसी प्रकार आचरण करें जिस प्रकार पराजयके पूर्व करते थे, और यदि वे चाहें तो पैतृकदेशको निरा विदेश ही सा समझें जैसा कि बहुतेरे ब्रिटिश उपनिवेश समझते हैं। कुछ दिनोंसे कनाडामें यह वाद-विवाद रहा है कि युद्ध छिड़ जानेपर ब्रिटेनसे कनाडाका कैसा सम्बन्ध होगा। इससे कनाडाकी स्थिति अच्छी तरह स्पष्ट हो गयी है। संक्षेपतः वह यह है कि "सहायता देने वा न देनेमें हम स्वतंत्र हैं, हमको अधिकार है, दें वा न दें"*

विदेशी जाति इससे अधिक और क्या कहेगी ? हमारा वह स्वामित्व कनाडापर किस तरहका है जब कनाडी इतने स्वतंत्र हैं कि हमारी सहायता करें वा न करें। और किसी भी विदेशी राष्ट्र और कनाडामें क्या भेद है जब इंगलैंडसे किसीसे तो झगड़ा हो और कनाडासे उससे ही सुलह हो ? अस्किथ साहब यथार्थ रीतिसे इस विचारको और भी दृढ़ करते हैं। †

इससे यह स्पष्ट है कि कोई राज्य वा देश ब्रिटिश-साम्राज्यके शासकका भक्त न हो तब भी यह आवश्यक नहीं है कि वह अपनी

* The Montreal *Presse* March 27, 1909.

† पार्लिमेंटकी स्पीच, २६ अगस्त, १९०९। १६ नवम्बर, १९०९के निउयार्कके समाचारपत्रोंमें सर (Wilfrid Laurier) विलफ्रिड लारियरकी निम्न लिखित स्पीच छपी है जो कनाडाके पार्लिमेंटमें नाव-विभागवाले वादविवादमें दी गयी थी। जो अब हमको नाविक-बलकी व्यवस्था करनी है, तो इसलिए कि राष्ट्र-रूपमे हमारी वृद्धि हो रही है। यह राष्ट्र होने-का दंड है। मेरी जानमे कोई राष्ट्र सिवाय नारवेके ऐसा नही है कि समुद्रतट रखता हो परन्तु नाविकबल न रखता हो, परन्तु किसीको नारवे जैसे उजाड़ देशपर चढाई करनेसे लाभ ही क्या हो सकता है ? कनाडाके पास तो कोयलेकी खानि, सोनेकी खानि, गहूंके खेत हैं, और असीम सम्पत्ति है, जिसकी लालचसे कोई भी वैरी चढ़ाई कर सकता है।

सेना उसे सहायतार्थ देवे, चाहे उसे उस सहायताकी कितनी ही अधिक आवश्यकता क्यों न हो। यदि उसकी इच्छा सहायता करनेकी न हो, तो वह स्वतंत्रापूर्वक इनकार कर सकता है। इसका फल यह होता है कि ब्रिटिश साम्राज्य स्वाधीन राज्योंकी एक ऐसी अस्थिर मित्रमंडली बन जाता है जिसमें कोई भी युद्ध कालमें दूसरेकी सहायता करनेको बाध्य नहीं है। युद्धविषयमें ब्रिटिश साम्राज्यके अंगोंमें जैसा विरल सम्बन्ध है उसकी अपेक्षा तो जर्म्मनी और आस्ट्रियाके स्वाधीन राज्योंकी मैत्रीका सम्बन्ध कहीं अधिक दृढ़ है। इसी विषयपर टीका करते हुए एक परीक्षक यों कहता है ;—

"साम्राज्य-रक्षाके इस नये आन्दोलनको चाहे कैसे ही शब्दोंमें वर्णन किया जाय, यह उपनिवेशोंकी जातीय स्वाधीनताकी पूर्णताकी ओर एक कदम और बढ़ना है। क्योंकि स्वरक्षाका भार स्वयं ले लेनेसे केवल इतना ही नहीं होता कि जातीयताके भावमें नवीन उत्तेजना आ जाती है, वरन इससे वैदेशिक सम्बन्धोंपर पूरा पूरा अधिकार भी पा जाना अत्यावश्यक है। यह बात एक तरहसे कनाडाके विषयमें मान ली गयी है और अब ऐसे मामलोंमें वा संधियोंमें जिनमें अपने हिताहितका प्रश्न हो कनाडाको अपना कार्य्यक्रम निश्चित करनेका अधिकार है। धीरे धीरे और औपनिवेशिक जातियोंको भी यह अधिकार स्वभावतः अवश्य मिलेगा। जातीय स्वरक्षामें इस प्रकार स्वराज्य हो जानेसे साम्राज्य सम्बन्ध अत्यन्त सूक्ष्म रह जाता है।*

स्वयं मिस्टर बालफोरका सुदृढ़ भाषण प्रायः इन सबसे अधिक अर्थपूर्ण है। ६ नवम्बर सन् १९११की लंडनवाली स्पीचमें आपने यों कहा—

हमारा साम्राज्य पूर्णतया स्वतंत्र पार्लिमेंटोंकी सहकारितापर निर्भर है। मैं वकीलकी रीतिपर भाषण नहीं कर रहा हूं, मैं राजनीतिज्ञकी भांति बोल रहा हूं।

*हालमें कनाडा और (United States) संयुक्तराज्योंके परस्पर-प्रतिबन्धक—कर विषयक संधिक्रम प्रत्यक्षरीतिसे ओट्टवा और वाशिंगटनमे, बिना लंडनके मध्यवर्त्ती हुए ही, सम्पादित हुआ। दक्षिणी अफ्रिकाका बर्त्ताव भी ऐसा ही है। *Volkstein*, July 10, 1911 कहता है कि "इस सिद्धान्तको अफ्रिकाका संयुक्त-राज्य पूर्णतया मानता है कि जिस युद्धमें इङ्गलैंड और साम्राज्यवर्त्ती अन्य स्वाधीन देश फँसे हों उसमें अपना समभाव रखना अनुज्ञेय है। इङ्गलैंड और दक्षिणी अफ्रिकाका पूरा हित इसमे ही है कि दक्षिणी अफ्रिका समभाव रक्खे"। (टैम्समें उद्धृत, July 11, 1911)। "साम्राज्यवर्त्ती अन्य स्वाधीन देश" वाले वाक्यको पाठकगण याद रक्खें।

कानूनकी दृष्टिसे तो मेरा विश्वास है कि ब्रिटिशपार्लिमेंट कनाडा, आस्ट्रेलिया वा अफ्रिकाके पार्लिमेंटोंपर प्रधानता रखता है, परन्तु वस्तुतः वह स्वाधीन पार्लिमेंट हैं—पूर्ण स्वतंत्र, और उनको वैसा ही मानना हमारा काम है और ब्रिटिश साम्राज्यको हमें पूरे स्वाधीन पार्लिमेंटोंकी सहकारितापर निर्मित करना चाहिए।*

इसका अभिप्राय यह है कि इंगलैंडकी स्थिति कनाडा और आस्ट्रेलियासे वही है जो किसी भी स्वतंत्र राज्यके प्रति हो सकती है, और आस्ट्रेलियापर उसी तरह उसका स्वामित्व नहीं है जिस तरह अर्जेंटिनापर नहीं हो सकता। सच तो यह है कि हालके अंग्रेजी इतिहासकी घटनाओंने इस हास्यास्पद विरोधाभासको निर्विवाद सिद्ध कर दिया है—कि अपने उपनिवेशोंकी अपेक्षा विदेशी राष्ट्रोंपर अंग्रेजी-राज्यका अधिक प्रभाव, अधिक दवाव है। अथवा, अपनी सम्मतिका दवाव डालनेकी अधिक स्वतंत्रता है। सचमुच, क्या सर सी. पी. ल्यूकसका यह कहना—कि "चाहे वह सद्व्यवहार करें वा असत्, सद्व्यवहारकी अपेक्षा प्रायः असद्व्यवहारमें और भी उनसे छेड़छाड़ करना सम्भव नहीं है—यह अपरिहार्य्य अभिप्राय नहीं रखता कि विदेशी राज्योंकी अपेक्षा अंग्रेजोंकी स्थिति उपनिवेशोंके प्रति बलहीन है? अन्तर्राष्ट्रीय भावकी वर्त्तमान दशामें हम स्वप्नमें भी यह दावा नहीं कर सकते कि जब विदेशी राष्ट्र कुपथ चलते हैं तो हम उनकी भी मान जाते हैं। हालका इतिहास इस विषयको पूर्णतया प्रकाशित कर देता है।

वह कौन से बड़े बड़े उद्देश्य थे जिनके लिए इंगलैंडने डच उपनिवेशोंसे युद्ध किया? दक्षिणी अफ्रिकामें ब्रिटिश जातिके महत्वका प्रतिपादन, बोअर आदर्शोंके मुकाबले ब्रिटिश आदर्शोंकी स्थापना, भारतीय-प्रवासियोंकी रक्षा, और प्रायः ऐसे लोगोंके हाथसे जिन्हें अंग्रेज लोग उस समय "स्वभावसे ही सभ्यताके अयोग्य बतलाते थे, उस देशका राज्य ले लेना। कुछ भी हो, इन उद्देशोंके साधनमें पौनेचार अरब रुपया लगा देनेसे फल क्या मिला? ट्रांसवालका राज्य आज बोअरोंके हाथमें है†। इंगलैंड दक्षिणी

---

* *Times*, November 7. 1911.

† साम्राज्यमुखपत्र *The World* यों लिखता है "द० अफ्रिकामें निर्वाचनरीतिसे युद्धका सारा परिणाम उलट गया। गत सप्ताहके निर्वाचनमें दोनों पार्लिमेंटोंमें मेरिमन साहबका

अफ्रिकाको एक करनेमें कृतकार्य्य हुआ परन्तु इसनें बोअरोंकी ही विशेषता रही। ब्रिटेनने भारतवर्षकी ब्रिटिश प्रजापर ट्रांसवाल और नेटालमें उन ही बोअर कानूनोंका दबाव डाला, जिनकी शिकायत ब्रिटेनको युद्धके पहले थी; और पार्लिमेंटने अभी उस (Act of Union) एकताके कानूनका समर्थन किया है जिसमें देसियोंसे बोअरोंका पूर्व अनुचित व्यवहार आईन-बद्ध और चिरस्थायी हो गया। पार्लिमेंटमें दक्षिण-अफ्रिका-बिलपर जब विवाद उठा था उस समय सर चार्ल्स डिल्कने इस विषयको स्पष्ट कर दिया था। आपने कहा "देसियोंके संग व्यवहारमें दक्षिणी अफ्रिकामें, बोअरोंके सिद्धान्तसे विभिन्न, प्राचीन ब्रिटिश सिद्धान्त यह था कि सभी सभ्य मनुष्योंका अधिकार बराबर है। दक्षिणी-अफ्रिका-युद्धके आरंभमें इंगलैंड-निवासियोंको यह समझाया गया कि युद्धका विशेष उद्देश—कोई भी संधिपत्र लिखा जाय, उसका सबसे अधिक महत्वका कारण—वस्तुतः यह होगा कि बोअर सिद्धान्तोंके मुकाबले ब्रिटिश सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया जाय। अब आज क्या देखते हैं कि सारे दक्षिणी अफ्रिकामें बोअर-सिद्धान्त राज्य कर रहा है"। ब्रिटिशराज्यके प्रतिनिधिरूप मिस्टर अस्किथने स्वीकार किया कि यही बात है और "इंगलैंडका लोकमत प्रायः एक स्वरसे संयुक्त-पार्लिमेंटके वर्ण-विभेद-नीतिका विरोध कर रहा है।" आपने यह भी कहा कि "स्वतंत्र-उपनिवेशके किसी काममें ब्रिटिश राज्य और प्रजाके मतको बाधा न डालने देना चाहिये"। फ्रांस-जर्म्मन-युद्धके अनन्तर क्षतिपूरणमें जितना रुपया फ्रांससे जर्म्मनीने लिया, उससे भी अधिक रुपया ट्रांसवाल विजयमें लगाकर, आज इगलैंडको उतना भी अधिकार नहीं है कि उनके ही ऊपर अपने मतका दबाव डाल सके जिनके विरुद्ध मत उस युद्धके मूल कारण थे!

दो बरसके लगभग हुए होंगे कि ट्रांसवालके ब्रिटिश भारतवासियोंकी ओरसे लंडनमें प्रतिनिधि आये थे। उन्होंने यह दिखाया

पक्ष बहुत बढ़ गया है। केपटौनमें (Bond) बांडकी जीत प्रिटोरियाके (Het Volk) हेट फोल्ककी जीतसे कम नहीं हुई। तीनो देश, जिनपर उस अफ्रिकाके विभागका भविष्य निर्भर है, बोअरोंके प्रभुत्वमें सम्मिलित हो गये हैं......भविष्यमें पंचायती वा एकीकृत व्यवस्था डच नियमानुसार ही होगी। यदि हमारा अभीष्ट यही था तो हम इसे—बिना पौनेचार अरब रुपये और बीस हजार जानें खोये—सहजमें, सस्तेमें ही प्राप्त कर लेते।"

कि वहांके आईनके कारण वह ब्रिटिश नागरिकके साधारण अधिकारोंसे भी वंचित रहते हैं। ब्रिटिश सरकारने उन्हें यह सूचना दी है कि ट्रांसवाल स्वतंत्र उपनिवेश है अतः साम्राज्य-सरकार उनकी कुछ सहायता नहीं कर सकती। आज यह बात भूल जानेकी नहीं है कि जिस दिन हम पालक्रूगरसे लड़ रहे थे हमारी एक बड़ी शिकायत ब्रिटिश-भारतप्रवासियोंसे उनके बुरे व्यवहारकी थी। क्रूगरको जीतकर और उसके देशपर स्वामित्व करते हुए, क्या हम स्वयं अब वैसा व्यवहार करते हैं, जैसा विदेशी शासकके भावसे क्रूगरसे हम जबरदस्ती कराना चाहते थे? नहीं, हम ऐसा नहीं करते। हम—वा वस्तुतः उस उपनिवेशकी उत्तरदात्री सरकार, जिससे हम अब छेड़छाड़ कर नहीं सकते, यद्यपि क्रूगरसे झगड़नेको हम कमर कसकर खड़े हो गये थे—सीधे, शुद्ध शुद्ध उसके ही आईनको जारी करते हैं। इसके सिवाय, आस्ट्रेलियाके उपनिवेशोंने और ब्रिटिश कोलम्बियाने भी इसी बीचमें ब्रिटिश-भारतप्रवासियोंके विषयमें वही मत स्थिर कर लिया है जो मत प्रेसिडेंट क्रूगरका था और जिसे हमने युद्धका प्रायः मूल कारण बनाया था। तिसपर भी अपने उपनिवेशोंके विषयमें हम कुछ भी नहीं करते। अतएव रीति यह ठहरी, कि विदेशी राज्य कोई ऐसा आचरण करता है जिसे हम रोकना चाहते हैं। विदेशी राज्यके इनकार करनेपर यही युद्धके प्रधान कारणमें हो जाता है। हम लड़ते और विजय पाते हैं और हमारा हस्तगत देश हमारा एक उपनिवेश बन जाता है, और उस उपनिवेशके राज्यको हम वही आचरणकरने देते हैं, जो विदेशी राष्ट्रसे लड़ जानेको प्रधान कारण ठहराया गया था। हमने फिर इस विजयी युद्धको किया ही क्यों? क्या वही पूर्वोक्त वाहियात नतीजा नहीं निकला कि अपनी रायका दबाव डालनेमें विदेशकी अपेक्षा अपने ही देशमें—अपने ही उपनिवेशमें—हमारी हीन दशा है? हमारे नागरिकोंके एक प्रतिष्ठित विभागपर यदि कोई विदेशी राज्य सदा घोर अत्याचार करता रहता, तो क्या चुपचाप हम सह लेते? कदापि नहीं। परन्तु जब वह अत्याचारी राज्य हमारे ही उपनिवेशोंका होता है, तो हम कानमें तेल डालकर बैठ रहते हैं, कुछ कर नहीं सकते। ब्रिटिश लेखकोंमें एक प्रामाणिक लेखक लिखता है, कि सद्व्यवहारकी अपेक्षा असद्-

व्यवहार करते हुए और भी हम छेड़छाड़ नहीं कर सकते; और बेजा चलती हुई भी उपनिवेशकी सरकार बलपूर्वक रोकी नहीं जा सकती। यह बात भी नहीं कही जा सकती कि राज्योपनिवेश स्वाधीनोपनिवेशोंकी अपेक्षा इस विषयमें तत्वतः भिन्न हैं। इतना ही नहीं कि उपनिवेशोंके वास्तविक अधिकारोंको प्राप्त करनेकी अनिवार्य्य प्रवृत्ति राज्योपनिवेशोंमें है, वरन् उनके विशेष विशेष स्वत्वोंका निरादर करना भी वस्तुतः असम्भव हो गया है। यह बात निश्चित रूपसे अनुभव सिद्ध है।

मेरा उद्देश्य यहां वाग्विलास दिखाना वा विरोधाभासोंका गढ़ना नहीं है। यह असंगति—यह घटना कि जिस देशपर हम स्वामित्व करते हैं, अपनी रायका उसपर बलपूर्वक दबाव डालनेका अधिकार त्याग देते हैं—ब्रिटिश औपनिवेशिक शासनमें अधिकाधिक साधारण बात होती जा रही है।

उपनिवेशोंका माली सम्बन्ध भी ऐसा ही है। जैसे राजनीतिक सम्बन्ध नाममात्रका है उसी तरह यह भी नाममात्रका सम्बन्ध है। वह सब तरहसे विदेशी राष्ट्र हैं। ब्रिटेनके ही मुकाबले आयात-प्रतिरोधक-कर लगा देते हैं, ब्रिटिश प्रजाके एक बड़े विभागको पूर्णतया अलग कर देते हैं। वस्तुतः किसी ब्रिटिश भारतवासीको आस्ट्रेलियामें पैर रखनेका अधिकार नहीं है, यद्यपि ब्रिटिश साम्राज्यमें अधिक भाग भारतवर्षका ही है। यहांतक कि खास ब्रिटेनकी प्रजाको भी निकालनेके लिए दुःखद आईन जारी किये गये हैं। इसपर यह प्रश्न उठता है, कि विदेशी राज्य इससे क्या अधिक अत्याचार कर सकता है? यदि माल-सम्बन्धी रिआयत ब्रिटेनके साथ भी की जाती है तो वह ब्रिटेनके स्वामित्वके कारण कदापि नहीं है, वरन उपनिवेशके आईन-कारोंका स्वतंत्र व्यवहार है, और कोई भी विदेश ब्रिटेनसे घनिष्ट माली सम्बन्ध रखनेकी इच्छासे उसी प्रकार कर सकता है। *

* ब्रिटेनका १९०८का कुल बाहरी व्यापार १५ अरब ७३॥ करोड़का था जिसमें ११ अरब ७६ करोड़का विदेशियोंसे और केवल ३ अरब ९७॥ करोड़ रुपयेका व्यापार उसके अधीन देशोंसे था। और यद्यपि यह सत्य है कि किसी किसी उपनिवेशका ५२ प्रतिसैकड़ा व्यापार ब्रिटेनके हाथमें था—जैसे आस्ट्रेलियाका—तथापि ऐसा भी है कि किसी किसी बिलकुल पराये देशोंने उपनिवेशोंसे भी अधिक अपना प्रतिसैकड़ा व्यापार ब्रिटेनसे किया है। अर्जेंटिनाका ३८ प्रतिसैकड़ा बाहरी व्यापार ब्रिटेनके हाथमें है, परन्तु कनाडाका केवल ३६ प्रतिसैकड़ा है, यद्यपि हालमें कनाडाने ब्रिटेनके साथ बड़ी रिआयत की है।

क्या यह कभी विचारमें आ सकता कि ब्रिटेन और उसके उपनिवेशोंके परस्पर सम्बन्धको समझकर भी, एक वाहियात और लाभरहित पदवी प्राप्त करनेके लिए, जिसमें आर्थिक लाभ रत्तीभर नहीं है, इतिहासके सबसे बड़े खर्चीले विजय-संग्रामके लिए जर्मनी असीम धन उड़ा देना स्वीकार कर लेगा ?

यह बहस की जा सकती है कि जर्म्मनी, युद्धके विहान ही, उस नीतिको जारी कर सकता है जिससे उपनिवेशोंमें उसे आर्थिक सुविधा हो जाय, जैसे स्पेन और पुर्तगालने अपने लिए करना चाहा था। परन्तु ऐसी दशामें क्या यह विचारमें आ सकता है कि जर्म्मनी, औपनिवेशिक अनुभवके न होते हुए भी, उस रीतिको चला सकेगा जिसे अनुभवी ब्रिटेनको सौ बरस हुए छोड़ देना पड़ा था ? क्या यह कल्पना की जा सकती है कि जब ब्रिटेन ऐसी नीति चलानेमें सर्वथा असमर्थ रहा है जिससे मातृभूमिको कर-के-रूपमें उपनिवेशोंसे कुछ मिला करता, तो अनुभवहीन जर्म्मनी—भाषा, परम्परा, जातीय-बन्धन आदि अनेक बड़ी बड़ी असुविधाओंके होते हुए भी—इस नीतिको सफलतापूर्वक चला सकेगा ? यह निश्चय है कि यदि इस प्रश्नका तत्वमात्र जर्म्मनीवाले तनिक भी समझ लें, तो एक क्षणके लिए भी ऐसी मूर्खताकी कल्पना ठहर नहीं सकती।

क्या कोई गभीरतापूर्वक, ऐसी भी मिथ्या कल्पना रखता है कि वर्त्तमान ब्रिटिश उपनिवेशाधिकार अंग्रेजोंकी लोकहितैषिता और चित्तौदार्य्यके कारण है ? निस्सन्देह यह हम सभी जानते हैं कि यह इसी कारण है कि अपना इजारा कायम करके चूस लेनेकी पुरानी रीति उठ गयी। आईनद्वारा निषिद्ध होनेके बहुत पहले ही सामाजिक व्यापारिक और राजनीतिक पक्षोंमें यह नीति सर्वथा निष्फल हो चुकी थी। यदि इङ्गलैंडने हठ करके बलपूर्वक उपनिवेशोंको असुविधाजनक स्थितिमें रक्खा होता, तो उसकी भी स्पेन पुर्त्तगाल और फ्रांसकी सी दशा होती। उसके उपनिवेश हाथसे निकल गये होते और उसका साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो गया होता।

इङ्गलैंडको दो तीन शताब्दियोंके लगभग सच्ची औपनिवेशिक नीतिको सीखनेमें लगे परन्तु आजकल किसी विजयीको यह

समझ लेनेमें बहुत काल नहीं लगेगा कि एक बड़ी जातिका सम्बन्ध दूसरी बड़ी जातिसे एक ही तरहका होना सम्भव है। युरोपीय इतिहासने तो हालमें ही इस बातका एक विचित्र दृष्टान्त दिया है कि जिन शक्तियोंसे लाचार हो इङ्गलैंडने अपने उपनिवेशोंकी स्वतंत्रता स्वीकार की है वह ऐसे अत्यन्त छोटे उपनिवेशोंमें भी प्रबल हैं जिन्हें हम "बड़ी जातियां" नहीं कह सकते। अभी बीस बरस भी नहीं हुए (Meline regime) मेलीन-शासनकालमें कई फ्रेंच उपनिवेशोंमें बहुत प्रबल संरक्षणवादी-नीतिको फ्रेंचराज्यने चलाया। यह रीति अंग्रेजोंकी पुरानी औपनिवेशिक इजारेकी रीतिसे मिलतीजुलती थी। इनमें एक उपनिवेश भी बड़ा नहीं था—सचमुच वे सब ही अत्यन्त छोटे थे—तथापि फ्रांसके राजनीतिक जीवनमें ऐसी शक्तियोंका प्रदर्शन उन उपनिवेशोंने किया कि जिस नीतिको उसने बीस बरस भी नहीं हुए उनके ऊपर लाद दिया था, उनका उसे एकदमसे निर्मूलन करना पड़ा। ५ एप्रिल, १९११के *Le Temps* नामक दैनिक पत्रने यों लिखा है—

हमारे उपनिवेश कलके दिनको बड़े महत्वका दिन समझ सकते हैं। चेम्बरमें, फ्रांसकी शासनसभामें, जो वादविवाद हुआ है उससे आशा होती है कि अबतक जो कठिन व्यापार-रक्षणनीति उनका गला घोंट रही थी, वह बहुत कुछ सुधर जानेवाली है। चेम्बरका संरक्षण-कमीशन इस विषयमें अंधाधुंध संरक्षणकी गढ़ी सा होता आया था। महाशय (Thierry) टिरीं इस कमीशनके सभापति हैं, तथापि उनसे ही यह बात मालूम हुई है कि बहुत शीघ्र उपनिवेशोंके लिए सौभाग्यका समय प्रारंभ होनेवाला है। यह बहुत बड़ा परिवर्त्तन है, और औपनिवेशिक साम्राज्यकी भावी उन्नतिमें इससे बड़े महत्वके परिणाम संभव हैं।

सन १८९२के महसूलके आईनने हमारे अधीन देशोंके साथ दो अन्याय किये। पहले यह कि उसने उपनिवेशोंको दबाया कि फ्रांससे आनेवाले मालपर महसूल न लगावें; साथ ही साथ उसने उपनिवेशोंसे फ्रांसमें आनेवाले मालपर महसूल लगाया। दो स्वतंत्र देशोंमें तो ऐसी संधिका संभव होना विचारसीमासे बाहर है और यदि उपनिवेशोंके विषयमें ऐसा हुआ तो इसका कारण उनकी बलहीनता थी। वह पैतृक देशसे बराबर भिड़ जानेकी क्षमता नही रखते थे।......उपनिवेशोंके मंत्रीने स्वयं नवीन और उत्तम भावोंसे उत्तेजित हो वर्त्तमान कुरीतिको उठा देनेकी प्रतिज्ञा की है। औपनिवेशिक प्रश्नोंके विचारमें ऐसे उत्तम भावोंका उदय होना बड़े सौभाग्य और आनन्दकी बात है। सन १८९२के आईनमें एक और अवगुण यह

था कि एक ही राजकर-प्रबन्धमें सबके सब उपनिवेश ग्रथित कर दिये गये थे। मानों संसारकी एक छोरसे दूसरी छोरतककी दूरीपर स्थित देशोंमें भी साम्य संभव है। सौभाग्यवश इस नीतिमें इतनी जबरदस्ती थी कि इसका पूरा प्रचार कभी न हो सका। जिस समय इस आईनका जारी होना चेम्बरमें निश्चित हुआ हमारे दक्षिण अफ्रिकाके कई उपनिवेश अंतर्राष्ट्रीय संधियोंसे बद्ध थे, अतः गवर्नमेंटको लाचार हो उन्हें इस आईनसे मुक्त करना पड़ा। परन्तु उस समय महाशय मेलीनका यह विचार था कि ज्यों ही अन्तर्राष्ट्रीय संधिकी अवधि समाप्त हो जाय त्यों ही सारे उपनिवेशोंको मातृभूमि-शासित राज-कर-प्रणालीमें लाया जाय। एक तो अपने ही तत्काल स्वार्थ-साधनके लिए मातृभूमि शासित राज-कर-नीति, दूसरे विशेषतः अपने ही स्वार्थोंकी दृष्टिसे थोड़ी बहुत उपनिवेशोंकी स्वरचित नीति—इन दो प्रणालियोंसे जो परिणाम हुए, उनका स्पष्टीकरण कुछ उपनिवेशोंको आईन-मुक्त कर देनेवाले अपवादोंके द्वारा बड़ी उपयोगिता-पूर्वक हुआ। अच्छा, तो फल क्या हुआ? यह कि जिन उपनिवेशोंको अपनी राजकरनीति चलानेका अधिकार था उनके समृद्ध होनेमें तनिक भी सन्देह नहीं है, और जिनको लाचार हो अन्य-देश-शासित-नीतिद्वारा बद्ध रहना पड़ा, उनका धीरे धीरे सर्वनाश हो रहा है—उनको इस समय घोर विपत्तिका सामना है। इससे एक ही परिणाम निकल सकता है। जैसा प्रबन्ध स्वदेशकी स्थितिके अनुकूल हो वैसा स्वमत्यनुसार करनेमें प्रत्येक उपनिवेशको स्वतंत्र रहना चाहिए। महाशय मेलीन कभी ऐसा नहीं चाहते थे; परन्तु अनुभवने उन्हें लाचार करके इसी नीतिको चलाया।......यह केवल अन्यायकी ही बात नहीं है। हमारी नीति ही वाहियात और स्वतःशीर्ण थी। फ्रांस अपने उपनिवेशोंसे कौन सी बात चाहता है? मातृभूमिके लिए धन और बलकी वृद्धि। परन्तु यदि हम उपनिवेशोंपर असुविधाजनक राजकर जबरदस्ती लगावें, जिससे वह धनहीन हो जायँ, तो मातृभूमिको धन और बल वह कैसे देंगे? जो उपनिवेश कुछ बेच नहीं सकता, कुछ ले भी नहीं सकता; इसका अर्थ यह हुआ कि फ्रांसके शिल्पका एक बड़ा गाहक हाथसे निकल गया।

ऊपर जो कथन हुआ है वह गभीर अर्थ और आशयोंसे भरा हुआ है। नीतिमें यह परिवर्त्तन इसलिए नहीं हो रहा है कि फ्रांस शक्तिके प्रयोगमें अशक्य है। वह पूर्णतया शक्य है। सच पूछिये तो उसके मुकाबले लड़नेको उपनिवेशोंके पास कोई भी बल नहीं है। किन्तु यह परिवर्त्तन इसलिए हो रहा है कि यद्यपि शक्तिका प्रयोग अमोघ और अप्रतिहत रीतिसे हो सकता है तथापि आर्थिक रीतिसे निरर्थक है। फ्रांस जिस उद्देश्यके लिए मर रहा है वह एक

ही तरहपर पूरा हो सकता है—दोनों पक्षोंके परस्पर स्वेच्छानुकूल ऐसा प्रबन्ध करना जो दोनोंके लिए सुविधाजनक हो और ऐसा सम्बन्ध निश्चित कर लेना जो राजकर-भावसे और आर्थिकरीतिसे भी उपनिवेशमें ऐसी स्थिति उत्पन्न करे जैसी पराये देशोंकी होती है। आज फ्रांस ठीक वैसा ही कर रहा है जैसा इंगलैंडने अपने उपनिवेशोंसे किया है। विजयसे जो परिणाम हुआ था उसे उलटा जा रहा है और फ्रांस थोड़ा थोड़ा करके बल-प्रयोगाधिकारको छोड़ता जाता है क्योंकि बलसे उसके उद्देश्य पूरे नहीं हो सकते।

परन्तु फ्रांसके अनुभवमें कदाचित् सबसे गभीर आशयकी बात यह होगी कि छोटे छोटे शक्तिहीन उपनिवेशोंको भी पुरानी औपनिवेशिक रीतियोंको एकदम तोड़ देनेमें बीस बरससे कम ही लगे। यदि हम मान भी लें कि जर्म्मनी ब्रिटिश उपनिवेशोंको जीतकर ले सकेगा, तो फ्रेंच उपनिवेशोंकी अपेक्षा सैकड़ों गुना बड़ी और शक्तिसम्पन्न जातियोंपर चूसनेवाली पुरानी नीतिको चलानेमें कबतक समर्थ रहेगा ? *

इतनेपर भी आधुनिक औपनिवेशिक सम्बन्धमें ऐसा भ्रम फैला हुआ है, कि एक ऐसे बड़े अंग्रेज राजनीतिज्ञको, जिसकी प्रतिष्ठाके कारण उसकी सम्मतिका बड़ा दूरगामी प्रभाव पड़ सकता है, आपसकी बातचीतमें कहते सुना है कि जर्म्मनी जिन उद्देश्योंसे युद्धके लिए प्रस्तुत हो सकता है उनमें एक यह अवश्य है कि वह दक्षिणी अफ्रिकाको छीन ले, जिसमें वह सोनेकी खानियोंको हस्तगत कर सके और उसकी आमदपर ५० प्रति सैकड़ा महसूल लगाकर अपने लिए संसारके एक विशेष उद्गम-स्थानको अधिकारमें कर ले।

---

* जो लोग शुद्ध विचारोंके प्रचारमें यथाशक्ति प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें यह सुनकर अवश्य प्रोत्साहन होगा कि जिस फ्रेंच औपनिवेशिकनीतिका वर्णन यहां हुआ है, उसमें परिवर्त्तन होनेके कारणोंमें न्यूनाधिक इस पुस्तकके पूर्व संस्करणका भी प्रभाव है। *'Le Temps'* वाले लेखद्वारा प्रकाशित सम्मतिको दृढ़ करनेके लिए फ्रेंच-औपनिवेशिक मंत्रिमंडलने दो तीन अवसरोंपर इस पुस्तकके प्रथम फ्रेंच संस्करणकी ओर विशेष ध्यान दिलाया। १९११के कलोनियल बजटकी सरकारी रिपोर्टमें अध्यायका अधिकांश पुनर्मुद्रित हुआ है। सेनेट (कौंसिल) में रिपोर्टरने (देखो *Journal Official de la Republique Francaise*, July 2, 1911.) फिर इस ग्रंथसे एक लम्बा अवतरण लिया और अपने व्याख्यानके अधिकांशमें उसने इस ग्रंथके प्रतिपादित विषयको और भी अधिक पुष्ट किया।

जब दक्षिणी अफ्रिकाका युद्ध छिड़ा तो उस समय इस बातकी बड़ी चर्चा थी कि यह युद्ध इन्हीं सोनेकी खानियोंके कारण हुआ है। इंगलैंड और युरोप दोनों जगह यह बात साधारणतः मान ली गयी थी कि ब्रिटेन उन सोनेकी खानियोंके पीछे पड़ा हुआ है। टैम्समें (Times) बड़े लम्बे लम्बे लेख निकले कि खानोंकी वास्तविक कीमत क्या होगी और मंसूबे गढ़े जाते थे कि उनको हस्तगत करनेमें ब्रिटेनको कहांतक धन लगाना उचित होगा कि उसे इस काममें घटी न आवे। अच्छा, अब तो इंगलैंड जीत भी गया, कोई बतावे कि कितनी खानें उसके हाथ आयीं? अथवा, सोनेकी खानोंमें ब्रिटिश सरकारके कितने हिस्से हैं? ब्रिटिश-विजयकी प्रतिफलरूपा कितनी खानि ब्रिटिश सरकारको पूर्व-स्वामियोंसे मिलीं? लंडनकी सरकार इस युद्धरूपी व्यापारमें पौनेचार अरब रुपया लगाकर कितना कर, कितना मुनाफ़ा, पाती है?

सच तो यह है कि उस जायदादमें ब्रिटिश सरकारकी मिलकियत एक धूर भर भी नहीं है। खानि तो हिस्सेदारोंकी है, और किसीकी नहीं और वर्त्तमान संसारकी स्थिति ऐसी है कि कोई भी राज्य कैसे भी विजयी युद्धमें ऐसी मिलकियतमेंसे एक कौड़ीभर छीन नहीं सकता।

मान लो कि जर्म्मनी वा कोई और विजयी खानिकी आमदपर ५० प्रतिसैकड़ा महसूल लगादे, तो उसे क्या मिलेगा, फल क्या होगा? मोटे हिसाबसे दक्षिणी अफ्रिकाकी खानिकी आमद आज पैंतालीस करोड़ रुपया है, तो उसे साढ़े बाईस करोड़ तो अवश्य ही मिलेगा।* जर्म्मनीकी सारी वार्षिक आमदनी पैंतालीस अरब रुपया तक आंकी जाती है, तो साढ़े बाईस करोड़ रुपया महसूलका सम्बन्ध उसकी पूरी आमदनीसे वही होगा जो चार आने रोजकी मजूरीका सम्बन्ध डेढ़ हजार रुपया महीनासे होगा। वह महसूल जर्म्मनीकी पूरी आमदनीके मुकाबले ऐसा ही होगा जैसे १५००) मासिक पानेवालेका सालभरका दियासलाईका खर्च। क्या किसीके विचारमें ऐसी बात भी आ सकती है कि १५००) की आमदनीवाला

* एक महाजनको मैंने इस अध्यायके प्रूफ दिखाये थे। उसने इस स्थलपर यह नोट दिया है—"यदि ऐसा कर लगाया जायगा तो पैदावार कुछ होगी ही नहीं।"

गृहस्थ अपने होश-हवासमें केवल दो चार आने रोजकी बचतके लिए चोरी और हत्यातक कर डालेगा? किन्तु, ठीक यही दशा उस समय जर्म्मनीकी होगी जब कि वह दक्षिण अफ्रिकाकी खानिसे साढ़ेबाईस करोड़ रुपये गला घोंटकर वसूल करनेके लिए बड़ा ख़रच लगाकर एक महायुद्ध ठानेगा। प्रत्युत जर्म्मन साम्राज्यकी स्थिति इसकी अपेक्षा भी कई गुना रद्दी हो जायगी। क्योंकि यह गृहस्थ चार आने रोजके लिए डाका मारता और हत्या करता है, अर्थात् जर्म्मन-साम्राज्य इतिहासके महाभयंकर युद्धके पीछे साढ़े बाईस करोड़ रुपया चूसता है—और अंततः परिणाम यह होता है कि चार आने रोजके लिए वह अपनी बड़ी बड़ी जमा, जिसपर उसकी आमदनीका बड़ा भाग आश्रित था, डूबती हुई पाता है। आज उसने खानिपर ५० प्रतिसैकड़ा कर लगाया और कल ही उसकी उस जमानतकी दर, जिसकी चलन संसारके सभी बड़े सर्राफ़ोंमें है, ऐसी गिर जायगी, कि मुश्किलसे कोई बड़ा कारबार युरोपमें होगा जिसपर इस घटीका प्रभाव न पड़े। हम लोग इंगलैंडमें इस बातसे परिचित हैं कि आर्थिक लाभसे नहीं किन्तु सामाज और आचारके सुधारके लिए ही हम थोड़ा सा भी कर बढ़ा दें तो आबकारी जैसे आमदनीके कारबारमें कैसी कठिनाई आ पड़ती है। संसारभरमें कैसा हल्ला मच जायगा जब दक्षिणी अफ्रिकाकी खानिके हिस्सोंका भाव एक दिनमें आधा हो जायगा और उनमें बहुतेरोंका तो भाव कुछ रह भी न जायगा? यदि ट्रांसवालकी मिलकियतपर ऐसी ऐसी विपत्ति आने लगेगी तो वहांके कारबारमें रुपया फँसानेका साहस कौन करेगा? पूंजीवाले यों कहेंगे कि आज तो खानिकी बात है, कलको और तरहकी मिलकियतकी यही दशा होगी। और दक्षिणी अफ्रिकाकी यह दशा होगी कि किसी भी कामके लिए उसे एक अठन्नी भी उधार न मिलेगी, और मिली भी तो एक दम ज्यादा व्याजपर जो मूलसे भी अधिक हो सकता है। दक्षिणी अफ्रिकाके सारे उद्योग और व्यापारपर इसका प्रभाव पड़ेगा और बाजारोंकी गिनतीमें उसकी प्रतिष्ठा तुरन्त घटने लगेगी। और जिन कारबारोंका दक्षिणी अफ्रिकाके मामलोंसे घनिष्ट सम्बन्ध है, उनमें बहुतेरे तो सत्यानाश हो जायँगे और शेष सत्यानाश न हो जायँ तो होनेकी जोखिममें अवश्य पड़ जायँगे। क्या इसी तरह चतुर

जर्म्मनी अपने नव-प्राप्त साम्राज्यकी उन्नति और वृद्धिका आरंभ करेगा ? उसे शीघ्र ही यह दिखायी पड़ेगा कि हमारे हाथोंमें तो नष्टप्राय उपनिवेश रह गये। और यदि दक्षिणी अफ्रिकामें कट्टम अंग्रेज और डचवंशने ऐसी परिस्थितिमें कोई जार्ज वाशिंगटन* न पैदा किया, तो इतिहासको निरर्थक ही समझना होगा—और पुराने जार्ज वाशिंगटनकी अपेक्षा इस नवीन वाशिंगटनको स्वतंत्रताका युद्ध करनेके लिए कहीं अधिक आर्थिक और आचारनीति सम्बन्धी दृढ़ कारण होगा। और यदि डच दक्षिणी अफ्रिकाके विजयमें अंग्रेजोंके चार अरब लगे तो अब ऐंग्लो-डच अफ्रिकाके विजयमें जर्म्मनीका कितना लगेगा ? ऐसी नीति तो छ महीनेसे अधिक चल ही नहीं सकती और जर्म्मनीको अंततः वही करना होगा जो इंगलैंडको करना पड़ा—अर्थात् सिवाय इसके कि दक्षिणी अफ्रिकाके लोगोंकी स्वतंत्र सहकारितासे जो कुछ व्यापारी सुविधा प्राप्त हो सके प्राप्त करें, कर उगाहने वा और किसी तरहकी व्यापारी सुविधा प्राप्त करनेका सारा प्रयत्न छोड़ देना पड़ेगा। अर्थात् जर्म्मनीको यह पता लग जायगा कि ब्रिटेनने जिस नीतिका अवलम्बन किया है सो लोकहितके विचारसे नहीं किन्तु उसने दुःखद अनुभवोंसे लाचार हो किया था। जर्म्मनीको यह समझमें आ जायगा कि औपनिवेशिक राजनीतिका अन्तिम निश्चित सिद्धान्त यही है कि उपनिवेशोंपर कर न लगाओ। और जहां इतिहासकी सबसे बड़ी औपनिवेशिक शक्ति किसी और नीतिका अवलम्बन करनेमें अशक्य रही, वहां उपनिवेश-शासन-कलामें नवसिखिये दखल देनेवाले अधिक सफल मनोरथ हो सकें, यह सम्भव नहीं है। और जर्म्मनीको भी यह ज्ञात हो जायगा कि उपनिवेशोंसे केवल परराज्य वा स्वाधीनराज्यका सा बर्त्ताव किया जा सकता है। तथा उनपर स्वामित्व करनेका यही एक मात्र उपाय है कि किसी प्रकार भी स्वामित्वके अधिकारोंके प्रयोगका प्रयत्न न किया जाय। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दीमें जिन कारणोंने इस सिद्धान्तको दृढ़ किया, वह कारण आजकलकी पूंजी और साखके एचपेचसे, बहुत शीघ्र

---

* संयुक्त-राज्य (अमेरिका) पहले ब्रिटिश उपनिवेश था। इंगलैंडकी जबरदस्तीपर लड़कर अलग हो गया। इस महायुद्धका अमेरिकन सेनानायक वाशिंगटन था।

(अनुवादक)

आवाजाई पत्रव्यवहार समाचारादिसे, सार्वजनिक-शासनसे, सार्वजनिक पत्र पुस्तकादि प्रकाशनसे, युद्धकी स्थितियों और व्ययसे,—निदान संसारकी आधुनिक उन्नतिके सारे बोझसे—वह कारण सौगुना बढ़ गये हैं। यहां युक्तियां गढ़ने वा लम्बे चौड़े पूर्वपक्षको खड़ा करनेकी बात नहीं है, न तो इस विषयका विवाद है कि अपने उपनिवेशोंसे हमारा सम्बन्ध कैसा होना चाहिए। साम्राज्यवादी और (Little Englander) लघु-इंगलैंडवादीके झगड़ोंसे यहां कुछ मतलब नहीं है। यहां बात है केवल उस उपदेशकी जो हमें अनुभवकी स्पष्ट वास्तविक घटनाओंसे मिलता है। साम्राज्यवादी हों वा लघु-इंगलैंडवादी हों हम सबही जानते हैं कि उपनिवेशोंसे चाहे जैसा सम्बन्ध हो, वह सम्बन्ध उनके स्वतंत्रतापूर्वक स्वीकार करनेपर निश्चित होना चाहिए—उनकी पसन्दसे, हमारी पसन्दसे नहीं। सर जे. आर. सीली (Seeley) अपनी पुस्तक "The Expansion of England"में लिखते हैं, कि पहलेके स्पेनिश उपनिवेश सचमुच "स्वत्व" थे, इसीसे हम लोगोंकी "स्वत्व" और "स्वामित्व" कहने की बान पड़ गयी, और तीन सौ वर्षोंतक इसी अशुद्ध शब्दके घातक भ्रमसे हमारे उपनिवेश सम्बन्धी नीतिके सारे विचार निकम्मे हो गये थे। क्या अब भी समय नहीं आया है कि हम उन अशुद्ध शब्दोंके प्रभावसे मुक्त हो जायँ? कनाडा, अस्ट्रेलिया, निउ-ज़ीलैंड, और दक्षिणी अफ्रिका स्वत्व, मिलकियत, उसी तरह नहीं हैं जैसे अर्जंटिना वा ब्रेज़िल। और यदि कोई राष्ट्र इंगलैंडको जीत ले, लंडन दखल कर ले; वह उसी प्रकार कनाडा वा आस्ट्रेलियापर विजयी वा विजयोन्मुख नहीं है जिस तरह रूम वा सेन्टपिटर्ज़बर्ग दखल कर लेनेसे नहीं हो सकता। फिर ऐसी बेसिरपैरकी बातें हम क्यों कहने सुनने देते हैं, जिनमें यह बात मानी हुई होती है कि जो लंडनका स्वामी है वही मन्ट्रील, वन-कूवर, केपटौन, योहनवर्ग, मेलवर्ण और सिडनी*का भी स्वामी है। क्या इस तरहकी उपद्रवी बकबक जिसमें इस मामलेकी बड़ी मोटी मोटी बातें नहीं सूझतीं काफ़ी नहीं हो चुकी? संसारके मनुष्योंमें क्या सबसे अधिक और प्रत्यक्ष

---

* क्रमशः कनाडा, दक्षिण अफ्रिका और आस्ट्रेलियाके प्रसिद्ध नगर। (अनुवादक)

लाभ हम लोगोंको इस बातमें नहीं है कि युरोपमें इन सत्य बातोंको सर्वसाधारणके हृदयंगम करावें? क्या सर्वसाधारणमें इस सत्यज्ञानकी प्राप्तिसे हमारी साम्राज्यरक्षामें बहुत बड़ी सहायता न मिल जायगी?

आठवां अध्याय

फ़ायदेकी जगहके लिए झगड़ा

वास्तवमें जर्म्मनी कैसे बढ़ रहा है—उसके सच्चे उपनिवेश कहां हैं—बिना विजयके ही वह किस प्रकार धन चूस रहा है—सेना और पुलीसमें क्या भेद है ?—संसारके लिए पुलीस-की नियुक्ति—समीपवर्त्ती प्राचीमें जर्म्मनीकी इस विषयमें कारखाई।

पिछले अध्यायमें विस्तारपूर्वक वर्णित घटनाओंसे जो स्थिति हमारी दृष्टिके सामने स्पष्ट हो गयी है उसका वास्तविक परिणाम क्या है ? क्या जर्म्मनी जैसे राष्ट्रोंको यह नतीजा निकालना पड़ेगा कि, जब कि कोरे देश-विजयके लिए वैसा व्यर्थका युद्ध नहीं करना है जैसा युरोपके देशोंमें सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दीमें हुआ करता था, जब कि ब्रिटिश उपनिवेशोंपर जर्म्मन-विजयकी चर्चा बाल-बुद्धि है, तो जर्म्मनीको अब निश्चित रूपसे राज्यवृद्धिकी सारी आशा छोड़ देनी चाहिए और पीछे ही रहना स्वीकार करना चाहिए क्योंकि संसारमें वह यथा समय नहीं पहुंच सका है ? क्या इतनी कार्य्य-क्षमता, इतनी वैज्ञानिक पूर्णताके होते हुए और अपनी दस लाख प्रतिवर्ष बढ़ती हुई प्रजाके लिए संसारमें स्थान पानेकी कठिनाइयोंको पूर्णतया जानते हुए, जर्म्मन राष्ट्रको चुपचाप जैसी परिस्थिति है वैसी ही परिस्थितिमें सन्तुष्ट रहना पड़ेगा ?

भ्रममूलक राजनीतिक कल्पनाओंसे यदि हमारे विचार छिन्न-भिन्न न हो गये होते तो कदाचित यह ख्यालमें भी न आता कि ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है।

जब कोई राष्ट्र, जैसे इंगलैंड, किसी देशपर अधिकार कर लेता है, तो क्या उसका मतलब यह है कि वह देश जर्म्मनोंके लिए खो गया, अप्राप्य हो गया ? कदापि नहीं, यह बात अत्यन्त असंगत है। जिस देशपर ऐंग्लोसक्सन राष्ट्रने अपना पूर्वाधिकार जमा रक्खा है उससे ही जर्म्मनीका अपरिमित और वर्द्धमान व्यापार चल रहा है। जर्म्मनीमें लाखों मनुष्यकी जीविका ऐंग्लोसक्सन देशोंके जर्म्मन व्यापार, जर्म्मन उद्योगपर निर्भर है—प्रत्युत, सच तो यह है कि अंग्रेज़ोंको इस बातकी बड़ी शिकायत है कि जर्म्मन

लोग उन्हें उनके ही देशोंसे निकाले देते हैं, और जहां प्राचीन कालमें अंग्रेज़ी जलव्यापार सर्वव्यापी था वहां आजकल अंग्रेजोंका नम्बर जर्म्मनी ले रहा है * और उन सब देशोंका व्यापार जो पहले सर्वथा अंग्रेजोंके ही हाथोंमें था, अब जर्म्मन छीन रहे हैं। और यह बात केवल राज्योपनिवेशोंमें नहीं जहांका कर-प्रबन्ध थोड़ा बहुत ब्रिटिश-सरकारके अधिकारमें है, किन्तु अमेरिकाके (United States) संयुक्त-राज्य सरीखे देशोंमें भी है जो पूर्वकालमें ब्रिटिश थे और अब नाममात्रको ब्रिटिश नहीं हैं, तथा आस्ट्रेलिया और कनाडा सदृश देशोंमें भी है, जो यद्यपि नाममात्रको ब्रिटिश अधिकारमें हैं किन्तु वस्तुतः स्वाधीन हैं।

इसके सिवाय, आजकलके औपनिवेशिक साम्राज्यसे जितने वास्तविक लाभ हैं उनके उपभोगके लिए इंगलैंडवाले नाममात्रके प्रभुत्वरूपी विचित्र स्थितिकी आवश्यकता जर्म्मनीको क्या है?

---

* मिश्रदेशमें जर्म्मनी जो लम्बे लम्बे कदम बढ़ा रहा है उसका भावपूर्ण और मनोहर विवरण एक लेखकने भेजा है। यह कहा जा चुका है कि अक्टोबरमें एक जर्म्मन समाचार-पत्र निकलेगा और सम्मिलित न्यायालयोंकी सरकारी सूचनाएँ प्रादेशिक फ्रेंच पत्रोंके बदले जर्म्मन *Egyptischer Nachrichten* नामक पत्रमें प्रकाशनार्थ दी जाने लगी हैं। १८९७–१९०७ वाले दशकमें जहां ब्रिटिश अधिवासी केवल ५ प्रति सैकड़ा बढ़े वहां मिश्रके जर्म्मन अधिवासी ४४ प्रति सैकड़ा बढ़ गये हैं। १९००–१९०४तकमें मिश्रमें आनेवाले मालमें जर्म्मनीका माल लगभग एक करोड़ रुपयेका था। सन् १९०९ होते होते पौने दो करोड़के लगभग हो गया। मिश्रमें सबसे हालका जर्म्मन व्यवसाय Egyptische Hypotheken बंककी स्थापना है जिसमे जर्म्मनीके सभी बड़े बड़े (Joint Stock) संयुक्त-मूल-धनवाले बंक सम्मिलित हैं। उसकी पूंजी ७५ लाखकी होगी और छहों डैरेक्टरोंमें तीन जर्म्मन, एक आस्ट्रियन और दो इटालियन हैं।

"देशत्यागियोंमें स्वदेश-वियोगार्त्तिपर" लिखते हुए (The *World*, July 19, 1911) अफलालवने कहा है कि सब राष्ट्रोंमें जर्म्मन ही ऐसे हैं जिन्हें यह पीड़ा अत्यन्त कम होती है। यद्यपि रीने-नदी-पारके निवासी पड़ोसियोंकी अपेक्षा अपनी गृहस्थीसे इन्हें कहीं अधिक अनुराग है, किन्तु देशान्तरवास इन्हें कम खलता है। इनका एकमात्र उद्देश सेनामे बरबस भरती कर लिए जानेसे बचना है। युरोप महाद्वीपियोंके लिए देशान्तरवासमे गृहवियोग-दुःखके बदले इतनी स्वतंत्रता मिल जाती है, जो अंग्रेज़ोके लिए निरर्थक है। कालिफ़ोर्नियाके अत्यन्त सुन्दर ताल "तहोयके" किनारे जर्म्मन मांझियोंका एक उपनिवेश मैंने देखा था जहां शिरा-निवादा-चलके देवदारुवृक्ष उनके स्वदेश "हर्त्सके" सौन्दर्यको विचित्र भावसे स्मरण कराते रह होंगे, किन्तु वह अपने नये देशकी स्वतंत्रतासे संतुष्ट और सुखी थे और क्षणभरके लिए भी मातृ-भूमिके लिए पछताते नही थे।"

गत अर्द्ध-शताब्दीमें अपने सारे उपनिवेशोंमें जितने ब्रिटिश न बस सके होंगे उनसे कहीं अधिक संख्यामें अमेरिकाके संयुक्तराज्योंमें ही जर्म्मन लोग बस गये हैं। अनुमान किया जाता है कि संयुक्त-राज्योंकी जनसंख्यामें एक करोड़ बीस लाख मनुष्य शुद्ध जर्म्मन-कुलके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह जर्म्मन अपनी स्वदेशी ध्वजाकी छायाका सुखोपभोग नहीं कर रहे हैं, किन्तु सच्ची बात यह है कि इस बातसे पछताते नहीं वरन् इससे प्रसन्न और सुखी ही हैं! जर्म्मन देशत्यागियोंमें अधिकांश ऐसे हैं जो यह कभी नहीं चाहते कि जिस देशको हम जायँ उसकी राजनीतिक प्रकृति त्यक्तदेशकी सी हो। संयुक्तराज्योंमें बसकर उन्होंने कुछ थोड़ा जर्म्मनपना छोड़ दिया और नया राष्ट्रीय सांचा तैयार किया, जिसमें कुछ अंग्रेजी ढंग मिला हुआ है, और इस घटनासे समा-सतः उन्हें बहुत कुछ लाभ है और प्रसंगवश हमारा भी लाभ है।

यह आग्रह अवश्य किया जाता है कि, जो कुछ हो, अपनी वर्द्धमान जनसंख्याके लिए राष्ट्रीय भाव ऐसे देशोंकी अवश्य कामना करेगा जिसमें उसी राष्ट्रकी भाषा, नीति और साहित्यका शासन हो। किन्तु यह सोचनेकी बात है कि यह कामना किस हद्तक उन शुद्ध राजनीतिक कामनाओंमेंसे है जो अबतक दृढ़तासे मनमें तो जमी हुई हैं, पर वास्तवमें पुराने विचारोंकी झोंकका फल हैं; जो उन सत्य घटनाओंसे उत्पन्न हुई हैं जो कभीकी बीत चुकीं, और ज्यों ही साधारण जन-समुदायने वास्तविक सत्योंको हृदयंगम कर लिया त्यों ही यह कामनाएं अदृश्य हो जायँगी।

जैसे, मान लीजिए कि किसी मध्य अफ्रिका वा एशियाई उप-निवेशके लिए कोई झगड़ा हो तो कोई भी जर्म्मन हो बड़े देशानुरागसे चिल्लायगा और काम पड़े तो अपने देशको उसके लिए युद्धमें फँसा देगा। परन्तु जब उसे स्वयं वा उसके कुटुम्बको ही देशत्याग करना हो तो वह बड़ी गभीरतासे सोचने लगता है और बात ही दूसरी हो जाती है। वह मध्य-अफ्रिका वा चीनको नहीं पसन्द करता। वह अमेरिकाको जाता है और यह जानता है कि (अफ्रिकाके) कामारुण और (चीनके) क्याचौकी अपेक्षा बसनेके लिए अमेरिका शततः अधिक उपयुक्त उपनिवेश है। सचमुच, अंग्रेजोंके

ही लिए उनके भावी वंशजोंके अधिवासको उनके ही अधिकृत-देशोंकी अपेक्षा क्या कतिपय पराये देश अधिक उपयुक्त नहीं हैं? अंग्रेजोंकी आगामी सन्तानको बम्बईकी अपेक्षा, जो कि पूर्णतया ब्रिटिश है, क्या पर-देश पेंसिल्वेनियामें अधिक सुखावह और अनुकूल स्थिति न मिलेगी और वह वास्तवमें उसे स्वदेश न बना लेंगे?

हां, यदि यह संभव हो कि केवल युद्धविजयसे संयुक्तराज्य वा कनाडा प्रकृत जर्म्मनी बन जाय—जर्म्मन-भाषा, जर्म्मन-नीति, जर्म्मन-साहित्य-मय हो जाय—तो अवश्य शकल कुछ और होगी। परन्तु पिछले अध्यायमें जिन बातोंका विवरण हुआ है उनसे स्पष्ट है कि उस तरहके विजयके दिन अब नहीं आनेके। उसे एकदम दूसरे उपाय करने होंगे। भावी जर्म्मन विजयी नेपोलियनके ही स्वरमें कहेगा कि "मैं अवसर बीत जानेपर आया, अब सभी राष्ट्र ऐसी दृढ़तासे संगठित हैं कि उनका तोड़ना मेरी शक्तिसे बाहर है"। संसारके सबसे बड़े परदेश-बसानेवाले अंग्रेज भी जब ट्रांसवाल और आरेंज-स्वतंत्र-राज्य जैसे देशोंको जीत लेते हैं तो जीतनेके पीछे भी उनका कोई बस नहीं चलता। उनके ही कानून, उनकी ही भाषा, उनके ही साहित्यको उसी पूर्ववत् स्वतंत्रतासे रहने देना पड़ता है, मानों पराजय कभी हुआ ही नहीं। सौ बरससे अधिक हुए यही बात कनाडाकी राजधानी क्वेबेकसे भी थी, और जर्म्मनी-को ऐसे ही नियमसे आचरण करना होगा। विजयके बिहान उसे अपने वास्तविक प्रभुत्वकी स्थापनाके लिए सैन्यबलातिरिक्त उपाय करना होगा। यदि वह चाहे तो वही उपाय स्वतंत्रता-पूर्वक आज भी कर सकता है। इस विषयके प्रतिपादनमें यह बार बार कहना अनुचित न होगा कि संसार बदल गया है; और जो बात कनआनियोंके लिए, रोमनोंके लिए, अथवा नारमनोंके ही लिए सही, सम्भव थी वह हमारे लिए कदापि संभव नहीं है। पराजित-राष्ट्र-निर्मूलनके लिए ऐसो राजाज्ञा अब नहीं फेरी जा सकती कि "प्रत्येक नवजात लड़केको मार डालो"। इस अर्थमें विजय होना असम्भव है। संसारका सबसे अद्भुत औपनिवेशिक इतिहास—ब्रिटिश औपनिवेशिक इतिहास—यह सिद्ध करता है कि इस क्षेत्रमें शारीरिक बलका किया कुछ नहीं हो सकता।

और जर्म्मन धीरे धीरे इस बातको समझ रहे हैं। डाक्टर पी. (Rohrbach) रोरबक यों लिखते हैं—

पूर्ण शुद्धता और शान्तिपूर्वक इस बातपर हमें सन्तुष्ट रहना चाहिए कि अधिवासके लिये उपयुक्त उपनिवेशोंके प्राप्त करनेकी अब कोई संभावना नहीं है।... किन्तु, यद्यपि हमको ऐसे उपनिवेश अलभ्य हैं, तथापि यह बात नहीं है कि जिन लाभोंके लिए ऐसे उपनिवेश काम्य हैं उन लाभोंको थोड़ा बहुत हम पा नहीं सकते। समुद्रपारके विस्तीर्ण देशोंमें चाहे अपनी वर्द्धमान जनसंख्याका कुछ ठिकाना भी लग सके पर उन देशोंपर अधिकार मात्रको शक्तिकी निश्चित और प्रत्यक्ष वृद्धि समझ लेना भूल है। आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिणी अफ्रिका ब्रिटिश अधिकारमें होनेसे ब्रिटिश साम्राज्यकी शक्तिको नहीं बढ़ाते, न तो पचास साठ लाख ब्रिटिश देशत्यागियों और उनकी सन्तानके अधिवाससे ही शक्तिमें वृद्धि हुई। यदि वृद्धि है तो इस कारणसे कि उनसे व्यापार करके मातृभूमिकी सम्पत्ति और साथ ही साथ स्वरक्षा-शक्ति बढ़ गयी है। जिन उपनिवेशोंसे यह फल नहीं निकलता वह किस कामके। और जिन देशोंसे किसी राष्ट्रको यही लाभ हो सकें, यद्यपि वह उसके उपनिवेश नहीं हैं, तथापि इस बातमें सामान्यतः उन्हें उपनिवेशोंके ही सदृश समझना चाहिए।*

जिस भ्रमात्मक राजनीतिक कल्पनाका निर्देश पिछले पृष्ठोंमें मैंने किया है उससे ही परदेशके राजनीतिक-अधिकार-विषयमें हमारी वस्तुत्व-बुधि और परिमाण-बुद्धि नष्टप्राय हो गयी है। सन् १९११का कूटनीतिक उपद्रव इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। उस अवसरपर मैंने इन शब्दोंमें इस विषयको दृढ़ाया था—

अभी जो कूटनीतिवाद समाप्त हुआ है उससे प्राप्त शिक्षाओंपर, और अभी

---

* हालकी एक अटकलसे ब्रेजिलमें अब जर्म्मनोंकी संख्या चार लाखके लगभग है। इनमें अधिकांश Rio Grande do Sul शूल, परणा और संता-कथरीनाकी दक्षिणी रियासतोंमें बसे हुए हैं और थोड़े से Sau Paulo शवपाल और Espirito Santo असु-प्रेतसन्तकी उत्तरी रियासतोंमें भी हैं। प्रायः यह जनसंख्या स्वाभाविक वृद्धिसे हो गयी है, क्योंकि पिछले कई बरसोंसे उधरका निर्गमन घट गया है।

पश्चिमी एशियामें भी जर्म्मन अधिवास हालका नहीं है। काकेशियाके परवर्त्ती प्रदेशमें Wurttemburg वीरतमवर्गके किसानोंद्वारा स्थापित कृषक बस्तियां हैं जिनकी तीसरी पीढ़ीकी सन्तान उनहीं गावोंमें रहती है परन्तु वीरतमवर्गकी जर्म्मन भाषा अबतक बोलती है। फिलिस्तीनमें समुद्रतटपर जर्म्मन धर्म्मवीरोंके अधिवास हैं जो ऐसे सुखी और समृद्ध हैं कि यहांके मौलिक निवासी इसी लिए उनसे चिढ़ते हैं।

जिसका सूत्रपात हुआ है उस सैनिक युद्धपर, युरोप और अमेरिकाके समाचारपत्र अपने कालम काले कर रहे हैं। इन उच्चकोटिके राजनीतिवाले लेखोंसे—फ्रेंच हों, इटालियन हों, वा ब्रिटिश हों—जो कुछ बोध पढ़नेवालेको हो सकता है वह यह है कि हम लोग एक जगद्व्यापी आन्दोलनके एक भागको देखते आये हैं और देख रहे हैं—जिसमें महती दानवी शक्तियोंका संचालन है जिनकी जड़ प्राथमिक आवश्यकताओं और आवेगोंमें दृढ़तासे जमी हुई है।"

महीनोंतक बराबर (Chancelleries) चांसेलरीयोंके, सरकारी दफ़तरोंके, रहस्य-भारी एक सांससे प्रलाप करते आये—मानों प्रलयकारी देवासुर संग्रामका स्वप्न देख रहे हैं। तीन राष्ट्रोंके युद्धविषयक कोरी वार्तोंपर ही बहुत सारे वाणिज्यलाभ संकटमें पड़ गये, सर्राफ़ोंमें सम्पत्तिकी सम्पत्ति हर गयी और जित गयी, बंकोंने देन रोक दिया, और कुछ नहीं तब भी हज़ारोंका पटरा पड़ गया। और इस घटनासे कि चौथे और पांचवें राष्ट्रोंमें वस्तुतः लड़ाई छिड़ गयी है, आगेको झगड़ा हो जानेकी भांति भांति की और भी संभावनाएं पैदा हो गयी हैं...और केवल युरोपमें नहीं प्रत्युत एशियामें भी, यहांतक कि धर्म्मविडंबना और उसके अनुगामी फलोंके रूपमें भी, इस झगड़ेके प्रकट होनेकी सम्भावना है। अन्तर्राष्ट्रीय द्वेषभाव तथा अविश्वासता प्रायः बढ़ गयी है, और सबका निश्चित परिणाम यह है कि पांच छ राष्ट्रोंको जो सैन्यबलवृद्धिके लिए भारी भारी राजदंड देना पड़ता है उनका बोझा और भी अधिक राजदंडरूपमें बढ़ जायगा। युरोपके बीस तीस करोड़ मनुष्योंके लिए जिनका जीवन महँगी मजूरीके झगड़ों और अचिकित्सित सामाजिक कठिनाइयोंके जटिल प्रश्नोंसे, सुखका जीवन नहीं है, वह और भी दुःखमय हो जायगा।

जिन आवश्यकताओंके कारण ऐसे बड़े बड़े झगड़े पैदा हो गये वह खूब ही "प्राथमिक" होंगी! वास्तवमें एक प्रामाणिक लेखक तो हमें विश्वास दिलाता है कि जो झगड़ा हम देखते रहे हैं वह मनुष्योंमें वही जीवन-प्रयासका रगड़ा है, जो समस्त जीवधारियोंमें फैला हुआ है!

अब यह बात आपके सामने दो मिनिटके विचारके लिए मैं कहना चाहता हूं, कि यह झगड़ा जीवन-प्रयासका बिलकुल नहीं है। यह झगड़ा बिलकुल असत्य और व्यर्थ बातके लिए है, जो जर्म्मन अंग्रेज फ्रेंच इटालियन और तुर्क राष्ट्रोंकी असीम जनसंख्याके ध्यान योग्य भी नहीं; क्योंकि इन पचीस करोड़ मनुष्योंको इससे रत्तीभर भी मतलब नहीं है कि मराको वा और कोई मध्यअफ्रिका-का दलदल, जर्म्मन फ्रेंच इटालियन वा तुर्क राष्ट्रके शासनाधीन है वा नहीं—बात इतनी ही है कि शासन अच्छा हो। या इससे भी अधिक,—यदि भूतकालके फ्रेंच जर्म्मन वा इटालियन अधिवासोंसे कुछ शिक्षा ग्रहण करें तो यही सिद्ध

होता है कि जिस राष्ट्रने इस तरहके देशको जीत लिया उसने मानों सम्पत्तिके अप-व्ययका बखेड़ा और भी अपने सिर मोल लिया।

प्रतिवादीके मतमें यह अवश्य ही अयुक्त और असंगत होगा और उसकी दृष्टिमें मैं राष्ट्रके भावी फैलावके लिए बन्दोबस्त करना भूल रहा हूं और यह भी भूल रहा हूं कि प्रत्येक दल अपने लिए उत्तमसे उत्तम सुविधा, और ईश्वर जाने क्या क्या चाहता है।

युरोपके समाचारपत्र उस समय इन मामलोंसे भरे हुए थे; और मैं गत तीस चालीस बरसोंके भीतर राष्ट्रीय वृद्धिके विषयमें फ्रेंच और जर्म्मन इतिहासोंका मुकाबला करके उन मामलोंके वास्तविक तात्पर्य्यको जांचनेका प्रयत्न किया।

कहते हैं कि फ्रांसको नवीन साम्राज्य मिला है; उसने बड़ा भारी विजय किया है। फ्रांस बढ़ रहा है, फैल रहा है और अब उसे वह सम्पत्ति मिल गयी है जो उसके स्पर्द्धियोंके नसीबमें नहीं थी।

हम थोड़ी देरके लिए मान लेते हैं कि फ्रांसको मराकोसे भी वही सफलता प्राप्त होगी जो ट्यूनिस जैसे अन्य अधिकृत देशोंसे उसे हुई है—और गत चालीस बरसोंके इतिहासमें अधिवासके फैलानेमें सबसे प्रसिद्ध सबसे अधिक सफलताका काम उसका यही समझा जाता है। फ्रेंच सुख समृद्धिपर उसका ठीक ठीक क्या प्रभाव पड़ा ?

तीस बरसमें कई करोड़ रुपये खर्च करके* फ्रांसने ट्यूनिसमें एक उपनिवेश-की नींव डाली है, जिसमें कर्म्मचारियों और सैनिकोंको छोड़ पचीस हजारके लगभग शुद्ध फ्रेंच अधिवासी होंगे—बस, वहां उतने ही हैं जितने कि असली फ्रांसकी जनसंख्यासे प्रतिवर्ष क्षीण होते जाते हैं! ट्यूनिसपर दखल रखने और शासन करनेमें फ्रांस जितना प्रत्यक्ष लगा देता है ट्यूनिसकी हाटसे उसे उतना भी नहीं मिलता। उसके विजयसे जो अधिक सैनिक बोझ अप्रत्यक्ष रीतिसे उसके सिर पड़ा उसका तो कोई हिसाब ही नहीं। और ट्यूनिसकी हाट जैसी अब है वैसी ही किसी न किसी रूपमें तब भी होती यदि ट्यूनिस इङ्गलैंड वा जर्म्मनीके अधीन होता।

यदि हम मातृभूमि-प्रसूता-जातिकी जनसंख्यासे ही उपनिवेशोंकी अटकल करें, तो हमको वाक्यान्तरमें यों कहना पड़ेगा, कि फ्रांस अपने घरकी उतनी ही

* फ्रांसके सफल उपनिवेश-शासनमें एक यह भी साफल्यका लक्षण है कि कभी यह प्रकट न होने पावे कि उपनिवेशोंमें कितना व्यय पड़ा।

प्रजा प्रतिवर्ष खो बैठना है जितनी कि ट्यूनिसकी अधिवासिनी प्रजा है। ट्यूनिसमें फ्रेंच अधिवासी ऐसी अस्वाभाविक रीतिसे रहते हैं जो अन्तको उनके राष्ट्रके लिए दुःख और नाशका कारण होगा। और पीढ़ीकी पीढ़ी विताकर इन्हीं पचीस हजार मनुष्योंकी ओर फ़्रांसके शासक और कूटनीतिज्ञ निर्देश करते हैं कि फ़्रांसका विस्तार यही है और फ़्रांस महाशक्तिरूपसे इसी भांति अपनी स्थिति बनाये हुए है। यदि इतिहास सत्य है, यदि आजकलकी अत्यन्त सुदृढ़ प्रवृत्तियां पूर्णतया परिवर्त्तित न हो गयीं तो थोड़े ही बरसोंमें आजकलकी फ्रेंच जातिका अस्त हो चुका रहेगा। और बिना एक फ़ैरके भी जर्म्मन बेल्जियन अंग्रेज इटालियन और यहूदी इनकी सफ़ाई करके इनके स्थानापन्न हो चुके रहेंगे। गये पचास बरसोंमें जितने उपनिवेश फ़्रांसने प्राप्त किये उन सबमें मिलाकर उतने फ्रेंच भी न होंगे, जितने जर्म्मन ख़ास फ़्रांसमें ही बस गये हैं। और जितना व्यापार जर्म्मनीका फ़्रांससे है उतना फ़्रांसका अपने सारे उपनिवेशोंके समूहसे भी नहीं है। फ़्रांसके अधीन परदेसके उपनिवेशोंकी अपेक्षा जर्म्मनोंने फ़्रांसको ही अपने अधिवासके लिए अधिक उपयुक्त उपनिवेश बना रक्खा है।

अभी हालमें फ़्रांस राष्ट्रसभाके एक प्रतिनिधिने, यह व्यंगपूर्ण बात कही कि "लोग कहतेभर हैं कि जर्म्मन लोग *अगाधिरमें हैं, किन्तु मैं तो जानता हूं कि वह *शम्प-अलीसियसमें मौजूद हैं।" और बात निस्सन्देह अधिक शोचनीय है।

दूसरे पक्षमें हमें यह मान लेना पड़ता है कि युद्धके पीछे फ्रेंच-विस्तार-कालमें जर्म्मनीका विस्तार बिल्कुल नहीं हुआ, किन्तु जर्म्मनीका गला घुट रहा है स्थानाभावसे सिकुड़ सा रहा है, उसे धूपमें जगह नहीं मिली, यही कारण है कि उसे स्थानार्थ युद्ध करना और अपने पड़ोसियोंकी जान जोखिममें डालना पड़ेगा।

मैं फिर भी आपसे यह निवेदन करूंगा कि यह सब वास्तवमें झूठ है। न तो जर्म्मनीका गला घोंटा गया और न उसे सिकुड़ना पड़ा है। सुतरां, उसके विस्तार और प्रचारको देखकर संसार चकित है; यह बात हमें तब समझमें आवेगी जब हम मानचित्ररूपी मरीचिकासे अपनी दृष्टिको हटा लेंगे। जिस कालमें फ्रेंच जनसंख्या वस्तुतः घट गयी है उस कालमें ही उसकी जनसंख्या दो करोड़, अर्थात् फ़्रांसकी आधी, बढ़ गयी। युरोपके समस्त राष्ट्रोंमें एक जर्म्मनीने ही संसारके वाणिज्य, उद्योग और प्रभावकी वृद्धिमें सबसे ऊंची पदवी

---

* अगाधिर Agadir फ्रेंचसीमापर एक स्थान है और Champs-Elysees शम्प-अलीसियस फ्रेंच राजधानी पैरिसके निकट एक स्थान है जहां जर्म्मन बसे हुए हैं।

पायी है। यद्यपि केवल राजनीतिक प्रभुत्व-वृद्धिमें उसका विस्तार नहीं हुआ है तथापि उसकी जनसंख्याका उतना भाग—जितना संख्यामें समस्त ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्यके श्वेतांग अधिवासियोंके बराबर है—जर्म्मनसीमाके बाहरके ही देशोंकी वृद्धिसे और उन देशोंकोही चूसकर अपनी पूरी जीविका अथवा अधिकांश जीविका प्राप्त करता है। यह बातें नयी नहीं हैं, क्योंकि इंगलैंडमें कुछ बरसोंसे इन बातोंके आधारपर ही हजारों राजनीतिक उपदेश दिये गये हैं। तथापि जान पड़ता है कि इन बातोंके प्रभावके एक पक्षकी ओर ध्यान नहीं दिया गया।

इन सब बातोंसे नतीजा यह निकलता है—यदि हम दृढ़ साहसी और बलवती प्रजाकी वृद्धिको राष्ट्रीयशक्ति कहें तो, एक ओर एक राष्ट्र अपने **राजनीतिक-प्रभुत्वको** तो अत्यन्त विस्तारसे फैला रहा है किन्तु उसकी **राष्ट्रीय-शक्तिका** ह्रास होता जाता है। [मुझे इस बातसे इनकार नहीं है कि फ्रांस अपने प्रतियोगीकी अपेक्षा शायद अधिक धनी और सुखी है; परन्तु यह दूसरी बात है।] दूसरी ओर बढ़ती हुई बलवती प्रजा और उसके जीविकोपाय आदि रूपोंमें दूसरा राष्ट्र बड़े **विस्तारसे फैल रहा है,** तथापि **राजनीतिक प्रभुत्व** सच पूछिये तो, बिलकुल बढ़ा ही नहीं।

यदि उच्च राजनीतिकी साधारण बड़बड़का भी कुछ अर्थ है तो यही है कि ऐसी अवस्था अयुक्त और असंगत है। "प्राथमिक आवश्यकताओं" इत्यादिके विषयमें जो कुछ सुना करते हैं वह सब प्रायः अर्थहीन ठहरता है।

वास्तविक बात यह है कि यहां हम उस बड़ी गड़बड़ी और भ्रमपर बहस कर रहे हैं जो आजकल राष्ट्रोंमें परस्पर राजनीतिक झगड़ोंका प्रायः कारण हो रहा है और पुराने विचार तथा पुराने शब्दविन्यासकी शक्तिको दरसाता है।

जिस युगमें जहाज खेये जाते थे और बोझसे लदे छकड़े धीरे धीरे बहुधा अगम मार्गोंको पार करके एक देशसे दूसरेको जाते थे उस युगमें किसी देशसे विशेष लाभ पानेको उसका राजनीतिक शासन करना भी व्यवहारदृष्टिसे आवश्यक था। परन्तु यौगिक-भाफ-अंजन रेल और तारने इस पूरे प्रश्नके तत्वोंमें दूरगामी परिवर्त्तन कर दिया है। वर्त्तमान संसारमें वाणिज्य-वृद्धिके कारणोंकी सूचीसे राजनीतिक प्रभुत्वका नाम कट चुका है; अराजनीतिक कारणोंने व्यवहार-क्षेत्रमें उसे प्रायः निरर्थक कर दिया है। वस्तुतः आजकलके प्रत्येक राष्ट्रकी यह दशा है कि जिन बाहरी देशोंको वह पूरी सफलतासे चूस सकता है उनमें ही हाथभर भूमिपर भी उसका अधिकार नहीं है। सबमें विशेष औपनिवेशिक महाब्रिटेनको ही लीजिये। उसका समुद्रपारका अधिकांश व्यापार ऐसे देशोंसे होता है

जिनके स्वत्व बनाने दबाने अधिकृत करने अथवा जिनपर प्रभुता करनेका वह तनिक भी प्रयत्न नहीं करता; प्रत्युत अपने उपनिवेशोंसे भी उसने ऐसा करना छोड़ दिया है।

प्रशा और [Westphalia] विष्टफालियाके लाखों जर्म्मन ऐसे देशोंसे जीविकोपार्जन करते वा लाभ उठाते हैं जिनपर किसी प्रकारसे उनकी राजनीतिक प्रभुता नहीं है। आजकलका जर्म्मन घर बैठे बैठे दक्षिणी अमेरिकाको चूस रहा है। जहां कहीं इस सिद्धान्तको छोड़ वह राजनीतिक शक्तिसे काम लेनेका प्रयत्न करता है वहां ही धोखा खाता है। जर्म्मन उपनिवेश यों ही किसी इक्के दुक्के अधिवासियोंके उपनिवेश हैं, उनमें जानेको जर्म्मन सर्कार रुपये देकर लोगोंको राजी करती है। उनसे उसका व्यापार भी अत्यन्त कम है। युद्धके पीछे जो दो करोड़ आदमी बढ़े यदि वह अपने देशके राजनीतिक विजयपर ही निर्भर करते तो भूखों मर जाते। उनको भोजन उन देशोंसे मिलता है जो न तो कभी जर्म्मनीके थे न उनको अपनानेकी जर्म्मनीको कभी आशा है; अर्थात् ब्रेज़िल, अर्जेंटिना, संयुक्तराज्य, भारतवर्ष, आस्ट्रेलिया, कनाडा, रूस, फ्रांस और इंगलैंड। [दक्षिणी-अमेरिका लेनेमें स्पेनने लोहूकी नदी बहायी, कुवेरकी सम्पत्ति ढायी, और जर्म्मनीने कभी एक कौड़ी न लगायी, पर आज स्पेनसे अधिक आमदनी दक्षिणी-अमेरिकासे जर्म्मनीको ही है।] यह जर्म्मनीके सच्चे उपनिवेश हैं। इतनेपर भी इन उपनिवेशोंसे जो अपरिमित लाभ है—जिसका जर्म्मनीसे सचमुच प्राथमिक सम्बन्ध है जिसके विना उसकी इतनी प्रजा अवश्य भूखों मर जायगी—कूटनीति कुशलों और सैनिकोंके लिए कुछ बात ही नहीं है। उनका जो प्रकाण्ड व्यापार है वह अगाधिरकी घटनाओं, कूटनीतिज्ञों वा लड़ाऊ जहाजोंकी सहायताका फल बिलकुल नहीं है, प्रत्युत अकेले व्यापारियों और उद्योगशीलोंके परिश्रमसे ही फैला है। यह सारा कूटनीतिक और सैनिक झगड़ा और प्रतियोगिता, यह सम्पत्तिका सत्यानाश और अकथनीय मालिन्य जो [Tripoli] त्रिपौली-द्वारा प्रकट हो रहा है—यह सब उस मूल्यपर मिलनेको संचित थे जो दोनों लड़ाके दल निछावर कर सकते हैं—सो भी बिलकुल टोटेके साथ नहीं, कुछ मुनाफ़ा लेकर। और इटलीके राजपुरुष जो प्राचीन स्वतःसिद्ध सूत्रोंके भक्त रह आये हैं, [ईश्वर इन सूत्रोंसे बचावे!], जल्द ही असलीयतका पता पा जायँगे। इटलीके पक्षपोषकोंका जो यह दुराग्रह था कि इस भीमकाय मूढ़तासे उसे वास्तविक लाभ उठा लेना सम्भव है; अब वही इस दुराग्रहसे धीरे धीरे अपने पग पीछे हटा रहे हैं।

क्या अब समय नहीं आ गया कि साधारण बाजारी मनुष्य भी—जो मेरी

समझमें सचमुच अच्छे अच्छोंकी अपेक्षा कूटनीतिक बड़बड़से कम भरमा हुआ है, और मृत-शब्दविन्यासमें कम जकड़ा हुआ है—अनुरोध पूर्वक प्रस्ताव करे कि ऊँचे पदके शास्त्रदक्ष लोग भी वस्तुत्व और परिणाम और संख्याओंका ज्ञान प्राप्त करें और उद्योगके इतिहास और मनुष्योंकी सहकारिताकी वास्तविक रीतियोंसे अभिज्ञ होनेके लिए शिक्षा ग्रहण करें ?

परन्तु क्या हमें यह मान लेना चाहिए कि किसी युरोपीय राष्ट्रके अधिकारका विस्तार समुद्रपार होना कभी सार्थक नहीं होता ? अथवा उन राष्ट्रोंमें परस्पर झगड़ेका कारण वह कभी नहीं हो सकता वा उसे कभी न होना चाहिए ? अथवा, उदाहरणके लिए, क्या इंगलैंडकी स्थिति जैसी मिश्र वा भारतवर्षमें है वह उपयोगी वा लाभकारी नहीं है ?

इस पुस्तकके दूसरे भागमें मैंने उस साधारण सिद्धान्तके उद्घाटनका प्रयत्न किया है जिसके प्रतिपादनका राजनीतिमें शोचनीय अभाव है—परन्तु जिससे यह साफ़ मालूम हो जाता है कि शक्तिका प्रयोग कब उपयोगी और कब अनुपयोगी है। इस कारणसे ही कि शक्ति निस्सन्देह मनुष्यकी वृद्धि और सहकारितामें साधक है लोग एकदम व्यापक परिणाम गढ़ लेते हैं कि दलोंमें परस्पर खैंचातानी और सैनिक बलका प्रयोग मनुष्य-समाजकी स्वाभाविक दशाके अनुकूल ही होगा।

इसपर कोई यह कह सकता है कि लंडन जैसे समाजमें भी जहाँ नागरिक भावमें हमने आपके सब आदर्शोंको प्राप्तकर लिया है। हम अबतक पुलीस शक्तिको रखते तथा उसकी बराबर वृद्धि करते ही रहते हैं। संसारकी सेनाएं भी उन्हीं कारणोंसे आवश्यक और न्याय्य हैं जिन कारणोंसे संसारमें पुलीस है। ऐसे विचारकोंको मैंने यह उत्तर दिया है—

जो कहीं यह सुननेमें आवे कि लंडनके अधिकारी अपने पुलीस-यंत्रद्वारा चोरों और शराबियोंको पकड़ बांधनेकी जगह बरमिंघमपर छापा मारनेका काम इसलिए ले रहे हैं कि उनका नागरिक-साम्राज्य, वा सर्व-लंडन-मयत्व वा म्युनिसिपल-अधिकार वा और जो कुछ उस उद्देश्यका नामकरण करें, फैले; अथवा यदि बरमिंघमके नगरभक्त ऐसी ही किसी नीतिका अवलम्बन करके लंडनपर पुलीसद्वारा छापा मारें तो लंडनवाले अपनी पुलीसद्वारा उनका मुकाबला करके इन्हें परास्त करें; यदि ऐसा हो तो बिना संकोचके पुलीसकी तुलना युरोपीय

सेनासे की जा सकेगी। परन्तु जबतक ऐसा नहीं है तबतक स्पष्ट है कि सेना और पुलीस दोनोंका धर्म्म ठीक ठीक एक दूसरेका उलटा है। पुलीस सामाजिक सहकारिताके उपकरण और यंत्रके रूपमें स्थित है और सेना इस पूर्वकालीन भ्रमका परिणाम है कि यद्यपि एक नगर दूसरेको पराजित वा अधिकृत करके अपनी सम्पत्ति नहीं बढ़ा सकता तथापि किसी अपूर्व (और अवर्णित) रीतिसे एक देश दूसरेको पराजित वा अधिकृत करके अपनी सम्पत्तिको अवश्य बढ़ा सकता है।

इंगलैंडकी वर्त्तमान दशामें इस दृष्टान्तसे ही सब काम चल जायगा। लंडनवालोंको बरमिंघम वा बरमिंघमवालोंको लंडन विजय करनेमें कोई लाभ न होगा। किन्तु मान लो कि उत्तरीय नगरोंमें ऐसी गड़बड़ और अराजकता फैल गयी कि लंडन अपना साधारण कारबार नहीं कर सकता। उस समय यदि लंडनकी चले और ऐसा संभव भी हो तो बरमिंघमको अपनी पुलीस अवश्य भेजना चाहेगा। उत्तर प्रदेशमें शान्ति और व्यवस्था रखनेमें लंडन-वालोंका भी मतलब होगा, इसले उनको आर्थिक लाभ होगा।

जर्म्मन विजयके पहले अलसासे-लोरेनमें वैसी ही सुव्यवस्था थी जैसी अब विजयके पीछे है। यही बात है कि जर्म्मनीको विजयसे कोई लाभ नहीं हुआ। किन्तु कालिफ़ोर्नियामें सुव्यवस्था नहीं थी और मेक्सिको-शासनमें उतनी अच्छी व्यवस्था न होती जितनी अमेरिकन-शासनमें, इससे ही कालिफ़ोर्निया-विजयसे अमेरिकाको लाभ हुआ। फ़्रांसने अलगीरिया और इंगलैंडने भारतवर्षके विजयसे इसीलिए लाभ उठाया कि सैनिकबलका विजयके लिए प्रयोग नहीं हुआ था किन्तु उसका प्रयोग पुलीसकी भांति व्यवस्थाकी स्थापना और रक्षाके लिए हुआ था और जहांतक उसने इस भावसे वर्त्ता है वहांतक उसने उपयोगिताका ही काम किया है।

अब हमारे विवादास्पद व्यवहारिक प्रश्नपर इस विभेदका क्या प्रभाव पड़ता है? बड़े महत्त्वका, अत्यन्त आवश्यक। न तो जर्म्मनी-को इंगलैंडमें और न इंगलैंडको जर्म्मनीमें सुव्यवस्था स्थापित करना है, अतः इन दो देशोंमें परस्पर अप्रकाश्य खैंचातानी निरर्थक है। दोनोंकी प्रजाकी आन्तरिक आवश्यकताओंसे यह बात पैदा नहीं हुई है। इसका कारण वही शोचनीय गड़बड़ी हुई है जो आजकी राजनीतिशास्त्रपर शासन कर रही है और ज्यों ही यह गड़बड़ी

साफ़ हुई त्यों ही यह दशा भी दूर हो जायगी। जब किसी देशकी विशेष परिस्थितिके कारण उससे और अन्य देशोंसे सामाजिक और आर्थिक सहकारिता असम्भव हो जाय तो उस देशको मिला लेने-वाले भ्रममूलक कुविचारसे नहीं वरन् वास्तविक सामाजिक शक्तियोंसे प्रेरित होकर वहां सुव्यवस्थाकी स्थापना एवं रक्षाके लिए सैनिक शक्तिका बीचमें आ पड़ना उचित और संभाव्य है। मिश्रमें तथा भारतवर्षमें इङ्गलैंडके अधिकारकी कथा यही है। किन्तु परराष्ट्रोंको ब्रिटिश उपनिवेशों वा संयुक्त राज्योंमें सुव्यवस्था करानेका कोई काम ही नहीं है। और आज वनोज्वला (Venezuela) जैसे देशोंमें ऐसी आवश्यकता हो तब भी गत कई वर्षोंसे हमें यह शिक्षा मिली है कि ऐसे देशोंको संसारकी बड़ी बड़ी आर्थिक धारा-प्रवाहोंमें लाकर वहांके निवासियोंको सुव्यवस्था पक्षमें पूरा शौक दिलाकर और उद्दिष्ट लाभ दिखाकर हम बलपूर्वक विजय करनेकी अपेक्षा कुछ अधिक उपयोगी काम कर सकते हैं। कभी कभी ब्रेज़िल और दूसरे देशोंमें जर्म्मनोंकी गुप्त चालोंके उड़ते पुड़ते समाचार सुननेमें आते हैं परन्तु उस थोड़ी सी शिक्षासे भी, जो किसी साधारण युरोपीय राजपुरुषने अवश्य पायी होगी यह स्पष्ट हो जायगा कि औरोंकी भांति यह लोग भी ऐसे चीमड़े हो गये हैं कि कोई परराष्ट्र इन्हें पराजित नहीं कर सकता और न इन-पर सैनिक अधिकार जमा सकता है।

सारे ऐंग्लो-जर्म्मन झगड़ोंमें यह एक बड़ी दिल्लगी है कि इस विषयकी मिथ्या कल्पनाओं और असत्य बातोंमें सर्वथा फँसकर ब्रिटिश लोकमतने वस्तुत्त्व और सत्यकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। पागलसे पागल सार्व-जर्म्मनने कभी कनाडाकी ओर निगाह उठाकर नहीं देखा, किन्तु एशिया-मैनरपर उसकी निगाह है और अवश्य है। सैनिक विजय और पुलीस-व्यवस्थामें मैंने जो भेद दिखाया है, उस भेद-जनित कारणोंसे ही संभव है कि समस्त जर्म्मन राजनीतिक व्यवसाय इस देशकी ही ओर जुट जाय। समीपवर्त्ती प्राचीमें जर्म्मन उद्योग धीरे धीरे अपना अधिकार जमा रहा है और ज्यों ज्यों वहां उसका स्वार्थ—उसकी हाट और उसका धनविनियोग—बढ़ता जाता है, त्यों त्यों ऐसे देशोंकी सुव्यवस्थाकी आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। जर्म्मनीको एशिया-मैनरमें पुलीसोपम-व्यवस्थाका काम पड़ सकता है।

उसे इस काममें रोकनेसे हमें क्या मतलब है? यह कहा जा सकता है कि वह उन देशोंमें हमारा व्यापार रोक देगा। पहले तो इस बातकी कोई आशंका ही नहीं दिखती, फिर यदि जर्म्मनी ऐसा करे भी तो अंग्रेजोंकी व्यापार दृष्टिसे तुर्कोंद्वारा व्यवस्थिता मुक्त-द्वार-व्यापारी एशिया-मैनरकी अपेक्षा संरक्षित-व्यापारी एशिया-मैनर जर्म्मन कौशलसे सुव्यवस्थित होकर अधिक लाभका कारण होगा। युरोपमें संरक्षित जर्म्मनी से भी अच्छे बाज़ार कम होंगे। यदि समीपवर्त्ती-प्राचीमें दूसरा जर्म्मनी बन जाय, अथवा यदि जर्म्मन क्रयशक्ति और जर्म्मन संरक्षण रूम देशकी प्रजामें होता तो डेढ़ दो करोड़की जगह छ सात करोड़की हाट होती। फिर हमारे ही व्यापारको बढ़ाते हुए जर्म्मनीको हम ही रोकेनेका प्रयत्न क्यों करें?

यह सच है कि यहां असंवृद्ध देशोंमें मुक्तद्वार-व्यापारके झगड़ेका सारा प्रश्न आ पड़ता है। किन्तु इसमें वास्तविक कठिनाई मुक्तद्वारकी है ही नहीं, वरन् सारी बात यह है कि जहां प्रतिबद्ध-व्यापारका कर जितना जर्म्मनको देना है उतना ही वा उससे कम ही अंग्रेजोंको देना पड़ता है, वहां भी जर्म्मनी अंग्रेजी व्यापारको हरा रहा है वा हराता जान पड़ता है। यहांतक कि वह अंग्रेजोंके ही अधिकृत प्राच्य उपनिवेशोंमें और भारतवर्षमें ही उन्हें हरा रहा है। फिर यदि हमने सैन्यबलसे जर्म्मनीको अन्ततः ध्वस्त भी कर दिया तो क्या परिवर्त्तन हो जायगा? मान लो कि अंग्रेजोंने उसे ऐसा ध्वस्त किया कि एशिया-मैनर और ईरानपर भी भारतवर्ष वा हांगकांगका सा उनका स्वत्वाधिकार हो गया, तो क्या जैसे जर्म्मनी अब उनके ही पूर्वाधिकृत देशोंमें व्यापारमें उन्हें नीचा दिखा रहा है क्या वहां भी नीचा न दिखा सकेगा? फिर जर्म्मन नौसेनाके ध्वस्त होनेपर ही इस प्रश्नके पक्ष वा विपक्षपर क्या प्रभाव पड़ेगा?

इसके सिवा असंवृद्ध देशोंमें मुक्तद्वार-व्यापारके इस प्रकरणमें, हम परिमाणवुद्धिको काममें लाते नहीं दिखते। आपेक्षिक महत्त्वकी दृष्टिसे हमारा व्यापार सबसे प्रथम तो संयुक्त-राज्य, फ्रांस, जर्म्मनी अर्जेंटाइन, दक्षिण अमेरिकासे साधारणतः है, फिर श्वेतांग उपनिवेशोंसे, फिर सुव्यवस्थित प्राच्य देशोंसे और सबसे अन्तमें एवं अत्यन्त कम उन देशोंसे है जो इस मुक्तद्वारके झगड़ोंसे सम्बन्ध रखते हैं, जिनमें वस्तुतः व्यापार इतना कम है कि

दस बारह लड़ाऊ जहाज़ भी बनाने और रखनेको पर्य्याप्त नहीं हो सकता।

जब कोई-साधारण व्यक्ति, वा अखबारी पंडित ही, व्यापारी कूटनीतिकी चर्चा करता है, तो जान पड़ता है कि हिसाब किताबमें भूल कर रहा है। कुछ बरस हुए इन बुद्धिमानोंके दिमाग़में* समोआमें तीनों शक्तियोंकी आपेक्षिक स्थितिका प्रश्न ऐसा घुस गया कि वह इंगलैंड और संयुक्तराज्य दोनोंमें ही भयंकर रीतिसे लड़नेको खड़े हो गये यद्यपि उस टापूभरका व्यापार किसी छोटे गावँ जितना भी न होगा। और इसपर यह विचार कि—हमारी "स्थिति रक्षाके" लिए नाविक बजट बढ़ना चाहिए, वा यह कि इस प्रश्नसे सम्बन्ध रखनेवाला कोई भी देश सचमुच एक भी लड़ाऊ जहाज़ निर्माण करनेकी सोचे—चूहेके लिए पहाड़ खोदना और फिर चूहेको भी न पाना है। क्योंकि यदि अंग्रेजोंका स्वत्वाधिकार हो भी जाय और उनके पास एक क्या बारह अधिक लड़ाऊ जहाज़ हो जायँ, तब भी जो राष्ट्र व्यापारपक्षमें सबसे अधिक कौशलसे सुव्यवस्थित होगा वही व्यापारको अपनी मुट्ठीमें रक्खेगा। और जबतक अंग्रेज लोग देशोंके निःसत्त्व व्यापारपर उद्विग्न होते रहेंगे, तबतक उनके स्पर्धी—जिसमें जर्म्मनी भी होगा—चुपचाप सत्त्व-पूर्ण व्यापारको हर ले जायँगे और संयुक्तराज्य, अर्जेंटिना, दक्षिणी-अमेरिका और छोटे छोटे युरोपीय राज्योंकी हाटपर अपना अपना अधिकार बढ़ाते रहेंगे।

यदि हम इन प्रश्नोंपर पुराने निरर्थक पक्षपातोंको छोड़कर विचार करें तो हमें यह जान पड़ेगा कि अयंत्रित और अव्यवस्थित स्वतंत्र एशिया-मैनरकी अपेक्षा जर्म्मनीके अधीन भी सुव्यवस्थित और सुगठित एशिया-मैनर हमारे लिए अधिक लाभका कारण होगा। शायद सबसे उत्तम तो यह होता कि व्यवस्था वा संगठन ब्रिटेन स्वयं वा जर्म्मनीकी सहकारितामें करता—यद्यपि इंगलैंडका हाथ खाली नहीं है, मिश्र और भारतवर्षके ही प्रश्न क्या कम हैं। और जिस बातको हमने बहुत बड़े अंशमें किया है, उसे थोड़ेसे

* समोआ दक्षिण शान्त-महासागरमें चौदह ज्वालामुखी द्वीपोंका समूह है। ब्रिटेन, जर्म्मनी और संयुक्तराज्योंने इस द्वीप-समूहका झगड़ा परस्पर-विभाग-संधि-द्वारा सन १८९९—१९००में निबटाया। (अनुवादक)

अंशमें करनेसे जर्म्मनीको क्यों रोकें? जहांतक मुझे मालूम है, एंग्लो-जर्म्मन झगड़ेके विषयमें जितने लोगोंने लिखा है उनमें दिसम्बर १९१०की Nineteenth Centuryमें सर हरि जान्स्टनका ही लेख उस प्रश्नके सच्चे रहस्यतक सबसे अधिक पहुंचता है जिसमें जर्म्मनी पहलेसे उलझा हुआ है। विचार पूर्वक अन्वेषणके बाद लेखक इस बातको स्वीकार करता है कि ठीक बात यही है कि जर्म्मनीका वास्तविक उद्देश्य इंगलैंड वा उसके उपनिवेशोंको लेनेका नहीं है प्रत्युत बालकन-प्रायद्वीप, एशिया-मैनर, इराक,—निदान फ़ुरात नदीके मुखतकके भी—असंवृद्ध भागोंको हस्तगत करनेका उसका विचार है। लेखक यह भी कहता है कि जो जर्म्मन इस विषयसे पूर्णतया अभिज्ञ हैं वह इस प्रकार उससे कहते हैं—

लंडनमें एक बड़े सार्वजनिक व्याख्यानमें भूतपूर्व राष्ट्रपति रूसवल्टने एक बात ऐसी कही थी जिसे किसी कारणसे लंडनके समाचारपत्रोंने प्रकाशित नहीं किया, किन्तु इंगलैंडके विषयमें हम उक्त बातकी फिर याद दिलाएंगे। रूसवल्टने कहा कि नीलनदीके तटपर (मिश्रमें) ब्रिटेनकी रक्षा इसमें ही है कि फ़ुरातके किनारे (इराकमें) जर्म्मनी भी उपस्थित रहे। *टिउटोनिक जातियोंके सामान्य दम्भको छोड़कर सच पूछिए तो आपलोग इस बातकी सत्यतासे अभिज्ञ हैं। आप जानते हैं कि संसारकी पिछड़ी हुई जातियोंसे बर्त्ताव करनेमें हम सबको एकमत और समानोद्देश होना चाहिए। समीपवर्त्ती-प्राचीके विषयमें यदि एक बार भी ब्रिटेन और जर्म्मनी परस्पर राजी हो जायँ, तो संसारके किसी भागमें ऐसे किसी बड़े युद्धकी अशान्ति नहीं उपस्थित हो सकती, जिसमें दोनों साम्राज्योंमें एकका भी कल्याण नहीं है।

सर हरि जांस्टनकी घोषणानुसार जर्म्मनोंकी सर्ववादी सम्मति यही है। जहांतक साढ़े छ करोड़ मनुष्योंकी सम्मतिकी एकता कही जा सकती है—और अनुमानसे भी यही दिखता है। संभव है कि यह कथन पूर्णतया सत्य हो।

इस विषयमें झगड़ोंका भय वास्तविकमें इस कारणसे है कि पिछड़ी वा अव्यवस्थित जातियोंके लिए पुलीसोपम शासनपर राज्यमें मिलालेनेवाले भ्रमका अध्यारोप किया जाता है। भारत-

* **टिउटोनिक**, युरोपीय "आर्य्य" जातिके उस महा-विभागका नाम है जिसमे अंग्रेज, जर्म्मन, डेन आदि पश्चिमोत्तर-युरोपकी जातियां सम्मिलित हैं।

वर्षमें पुलीसापम शासन करके इंगलैंड संसारमात्रके लिए एक वास्तविक और उपयोगी काम कर रहा है, इस सत्य-घटनासे उसके कामसे किसी राष्ट्रको ईर्षा नहीं है। ईर्षा इस भ्रमसे उत्पन्न होती है कि इंगलैंड किसी न किसी प्रकारसे भारतवर्षपर "स्वत्वाधिकार" रखता है और उससे राजकर लेना और अकेला लाभ उठाता है। जब युरोप इन विषयोंमें कुछ और शिक्षित हो जायगा तो युरोपीय राष्ट्र इस बातको भली भांति समझ जायँगे कि पुलीस-व्यवस्था करनेमें वह अपनी कोई प्राथमिक आवश्यकता नहीं पूरी कर रहे हैं। जर्म्मन प्रजा भी इस बातको समझ जायगी कि यदि भारतवर्षमें जर्म्मनीको इंगलैंडका स्थान ले लेना संभव भी हो, तब भी ऐसा करनेसे जर्म्मन प्रजाको कोई लाभ न होगा; विशेषतः इस कारणसे ही कि समीपवर्त्ती और दूरवर्त्ती प्राच्य-देशोंमें युरोपके शासनका अन्तिम फल यही होगा कि एशिया-मैनर जैसे देशोंकी प्रजाको अन्ततः अपना पुलीसोपम शासन स्वयं करना पड़ेगा। यदि पुलीसका कार्य्य सम्पादन करनेवाली कोई शक्ति इतिहासकी शिक्षाओंको भूलकर, फिर उसी परीक्षामें लग जायगी जो स्पेनने दक्षिण और तत्पश्चात् ब्रिटेनने उत्तर अमेरिकामें की थी—यदि वह अकेले लाभ उठाने वा अपना इजारा बना लेनेका प्रयत्न करेगी—तो अन्य राष्ट्रोंको भी सेनातिरिक्त उपायोंकी कमी नहीं है; आर्थिक और माली अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंद्वारा ही असंख्य उपाय हो सकते हैं।

नवां अध्याय

हालके इतिहासकी साक्षी

[जो कुछ गत अध्यायोंमें वर्णित हुआ एक छोटी पुस्तिकामें सन १९०९में अधिकांश प्रकाशित हो चुका है। उसके ऊपर जो टीकाएं हुईं उनमें बहुतेरोंका यही अभिप्राय था कि बातें सत्य हों वा असत्य किन्तु वैसे विचारका प्रभाव युरोपकी कूटनीतिपर विशेषरूपसे नहीं पड़ा, और न विशेष प्रभाव पड़नेकी भावीमें कोई आशा है। कुछ भी हो, सन् १९११की घटनाएं इस मामलेको स्पष्ट कर देती हैं। सन् १९१२के लगते ही लेखकसे यह इच्छा प्रकट की गयी कि गत बीस तीस बरसोंके धनसम्बन्धी विस्तारका लेखककी रायमें अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंपर जो कुछ प्रभाव पड़ा है, उस विषयपर ब्रिटेनके Institute of Bankers साहूकार-समाजमें व्याख्यान हो। लेखकने इस निमन्त्रणको हर्षपूर्वक स्वीकार किया और १७ जनवरीको यह व्याख्यान दिया गया। उस व्याख्यानपर जो वादानुवाद हुआ, (देखो *Journal of the Institute of Bankers*, February, 1912), उससे प्रकट होता है कि जिस विषयका प्रतिपादन यहां किया गया है साधारणतः साहूकारोंके मनमें इससे पूरी सहानुभूति और सम्मति है। सभापतिने कहा कि सबकी इच्छा यही है कि नार्मन एंजेलके यह विचार केवल समस्त साहूकारेमें नहीं—क्योंकि साहूकारोंको ही मिलालेनेसे काम नहीं चलेगा—बल्कि समस्त जातियोंमें फैल जाय। इस अध्यायमें जो कुछ दिया गया है, उक्त व्याख्यानका ही बहुत सा आशय है।]

वर्तमान आर्थिक व्यवस्थामें साहूकारीका काम ज्ञान-तन्तुओंका सा है—प्राचीन और अर्वाचीन आर्थिक संसारमे इसमें क्या विभेद उत्पन्न हुआ?—लोक-संग्रह बुद्धि और अन्तर्राष्ट्रीय शासन-नीतिका अभ्युदय—स्पेन और अमेरिका—पुरानी स्पेनी नीतिका बीसवी शताब्दीमें क्या फल होता—अंग्रेजी नीतिका अभ्युदय—फ्रेंच और जर्मन नीतिका भी—मराको संकटसे वास्तविक शिक्षा—वर्तमान जर्मनी और युरोपीय साख।

साहूकारों वा साहूकार-संस्थाओंका जो व्यक्तिगत दबाव शासननीतिपर पड़ता है उसपर बहुत कुछ अनाप शनाप लिखा गया है। किन्तु इस दबावमें उस प्रभावका पता नहीं लग सकता

जो धन-सम्बन्धी अभ्युदयका, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें, हालके इतिहास-पर पड़ता है। उस प्रभावका पता उन अदृष्ट अकर्तृक शक्तियोंमें लगेगा जो नित्यके साधारण नीरस लेनदेनके कामसे उत्पन्न हो गयी हैं, जिनका प्रादुर्भाव उन नित्यके असंख्य कार्य्योंसे मिलजुलकर हुआ है जो सरकार वा साहूकारोंके अधिकारसे प्रायः पूर्णतया बाहर हैं, जो प्रायः उन्हें अविदित हैं और अधिकांश उनकी इच्छाके प्रतिकूल ही हो जाते हैं। और इन कार्य्योंके आन्तरिक मूलमें वह शक्तियां हैं जो ऐसी बलवती और निर्गमनशीला हैं कि अधिकृत नहीं हो सकतीं। संसारके सामान्य जीवनके तानेबानेमें ऐसा प्रवेश कर गयी हैं कि बड़ी शीघ्रतासे और निश्चयपूर्वक समाजको अविभज्य और पूर्णांग रूपसे बुनती जाती हैं। यह शक्तियां उन कार्य्योंसे आविर्भूत हुई हैं जो उसी तरह प्राणवत् अविज्ञात और अदमनीय हैं जैसे किसी सजीव शरीरमें सांस लेना वा भोजनका पचना।

मैंने यहां शारीरिक दृष्टान्त इसलिए दिया है कि यह स्पष्ट हो जाय कि हालके इतिहासपर साहूकारीने कैसे प्रभाव डाला, और उस रीतिका पता चल जाय जो घटनाओंका प्राण है और जिससे वह घटनाएं समझमें आ जाती हैं।

और दृष्टान्तोंकी भांति इसका भी दुरुपयोग हो सकता है। इसलिए पाठकोंको मैं एक भ्रमसे पहलेसे सावधान कर देना आवश्यक समझता हूं। यह बहस हो सकती है कि "यदि यह ऐसी बलवती शक्तियां हैं कि राजनीतिक जोड़तोड़वाली शक्तिकी भी दाल नहीं गलती, तो हम इस ढकोसलेमें पड़ें ही क्यों? राजनीतिवाले जितना चाहें उतना अनिष्ट कर लें, करने दो।" ऐसा परिणाम निकालना न्याय-संगत न होगा। यद्यपि शरीरका प्राणभूत कार्य्यक्रम—श्वसन् पाचन, रक्तप्रवाह आदि—अविज्ञात तथा अदमनीय हैं, तथापि सारे शरीरका एक जीवन इस बातपर निर्भर कर सकता है—कि विज्ञात-संकल्पशक्तिका प्रयोग ऐसा हो रहा है कि वह कार्य्यक्रम सुखपूर्वक चलेंगे, वा नहीं। और जितना ही वाह्यावरणोंके सदुपयोगसे शरीरकी जीवन-शक्ति बढ़ेगी, उतना ही विज्ञात-संकल्प-शक्तिकी—अर्थात् बुद्धिकी—उपयोगिता बढ़ जायगी। मनुष्य श्वासको अपने अधिकारमें न लासके किन्तु आत्महत्या करके उसे तुरन्त बन्द कर सकता है, वा ठंढी नम हवा में बैठकर श्वासकास उत्पन्नकरके

श्वासको हानि पहुँचा सकता है। अपने पाचनपर कोई अधिकार न रख सके किन्तु वह विषैले भोजनोंसे बचकर मंदाग्निसे अपनी रक्षा कर सकता है। सरदी हो जाय वा कोई विष खा ले तब भी निश्चयपूर्वक वह नहीं कह सकता कि मरूंगा वा नहीं; उसकी संकल्प-शक्तिका कोई दबाव नहीं पड़ सकता—यदि वह योगी न हो; और सौभाग्य वा दुर्भाग्यवश साहूकारीको अबतक योगसाधनमें दखल हुआ भी नहीं है। किन्तु इतना अधिकार तो सबको है कि हवामें बैठे वा न बैठे, अनिष्टकर पदार्थको खाय वा न खाय; और इस अधिकारके लिए हमारे ज्ञान-तन्तु ही धन्यवादके पात्र हैं*।

---

* मानव-शरीर-विज्ञानसे यह सिद्ध है कि मनुष्यके शरीरमें मस्तिष्कसे लेकर अंग प्रत्यंगमें सर्वत्र असंख्य रगें फैली हुई हैं। इनसे कोई अंग बचा नहीं है। इन रगोंसे प्रधानतः दो क्रियाएं होती हैं। एक तो मस्तिष्कतक—जो रगोंका शक्ति-केन्द्र और संचालक है—अंग प्रत्यंगकी खबर पहुंचाना, दूसरी मस्तिष्कके आदेशानुसार हिलना डोलना। इस तरह दो प्रकारकी रगें वा तन्तु हुए; एक तो ज्ञान-तन्तु जो तारबरकीका काम दे दूसरा संचालक तन्तु जो हिलावे डुलावे। इन दोनोंका कार्य्य इतनी शीघ्रतासे होता है कि दोनोंमें साधारणतः भेद जानना कठिन है। किसीकी पीठपर आगकी एक चिनगारी पड़ जाय तो तुरन्त उसका हाथ वहां उस दुःखके कारणको दूर करनेको पहुँच जाता है। इसमें दो क्रियाएं हुईं। एक तो ज्ञानतन्तुद्वारा अनिष्ट पदार्थके स्पर्शका समाचार मस्तिष्कको पहुँचा, जिसे उचित रीतिसे हम "वेदना" वा "पीड़ा" कहते हैं, और समाचार पहुँचते ही संचालक तन्तुओंद्वारा हाथको मस्तिष्कने पीठपर पहुँचाया कि उस अनिष्टको दूर करे। यह सब क्रिया शरीरमें विना हमारे जाने ही होती है। इसे „अविज्ञात कर्म्म" कहते हैं। रक्तस्रोतका सर्व्वांगमें बड़े वेगसे बहना, भोजनका पचना, मांसादिका नष्ट होते और फिर बनते रहना, सांस लेना आदि सारे काम "अविज्ञात कर्म्म" हैं। शरीरके जिस भागमें यह तन्तु निरुद्यम हो जाते हैं, वह शून्य और मृतवत् हो जाता है। स्वस्थ शरीरमें किसी भागमें भी पीड़ा उत्पन्न हो अंग अंग उससे दुःखी होता है और पीड़ाके कारणको दूर करनेमें लग जाता है। ग्रन्थकारने इसी क्रियाकी उपमा वर्त्तमान संसारसे दी है। सौ बरस पहले दस दस कोसपर लोगोंको एक दूसरेकी खबर नहीं होती थी। आज मेक्सिकोमें—जो भारतके ठीक ठीक नीचे पृथिवीके दूसरे गोलार्द्धमें है—जो राजनीतिक घटनाएं हो रही हैं उनकी भी हमें नित्य खबर होती है। तदनुसार जिन बंकोंसे वहांके बंकोंका सम्बन्ध है उनपर इन खबरोंका तुरन्त प्रभाव पड़ता है। साहूकारी

बिना उनके शरीरका नाश अनिवार्य्य है। कोई प्राणी हम ऐसा मान लें जो जाड़ा-गर्म्मी, भूख-प्यास, विषका स्वाद आदिके परिज्ञानसे शून्य हो तो उसका शीघ्र ही मिट जाना भी मान लेना पड़ेगा क्योंकि अपने वाह्यावरणोंके सदुपयोगकी जानकारीका उसके पास कोई भी उपाय नहीं है। परमोपयोगिताकी उत्तम दशामें लानेवाली तीव्र प्रेरणाएं भी उसमें नहीं हैं जिनसे उसके अविज्ञात और अदमनीय आन्तरिक कार्य्यक्रमोंके भली भांति चलनेमें सहायता मिलती। इसी तरह साख भी, और और कार्य्योंके सिवा, आर्थिक और सामाजिक देहकी यह अपरिमित सेवा कर रही है—अर्थात् उसे ज्ञानतन्तु दे रही है जिनके द्वारा किसी अंग, किसी अंशको तनिक भी हानि पहुँचे तो तुरन्त पता लग जाय; तुरन्त अंग-प्रत्यंगमें वेदना उत्पन्न हो जाय; और इसी संवेदनाकी, इसी ज्ञानकी, कृपासे उस हानिसे रक्षा हो सके।

राजनीतिमें इस प्रकार सर्वांगव्यापी चेतना वा सर्वांगव्यापी संवेदनाका भान साधारणतः कम लोगोंको होता है। जबतक इस संवेदनाकी व्यापकता बढ़ न जायगी सत्य बातोंका प्रभाव नीतिपर पड़ना अनिवार्य्य न होगा। संसारकी घटनाओंका जो जो प्रभाव हम-पर पड़ता है सबसे हम अपने आचरणको निश्चित नहीं करते। उन घटनाओंमें केवल उनसे ही हम अपने आचरणको निश्चित करते हैं जिन्हें हम पूर्णतया समझ जाते हैं, जिनके कार्य्यकारणका सम्बन्ध हमको विदित हो जाता है। एक दार्शनिकका कथन है कि "सत्य बातोंका प्रभाव नहीं, किन्तु सत्यबातोंके विषयमें लोगोंका जैसा विचार होता है उसका प्रभाव पड़ता है।" अन्योन्याश्रयकी वास्तविक दशा होते हुए भी, यदि यह कारण न हो तो राज्योंकी लाग-डाट और सैन्यबलवृद्धि बेरोकटोक जारी रहे—और मेरे विचार-परीक्षकोंकी रायमें जारी अवश्य रहेगी। वह कहते हैं कि प्राचीन संसारमें भी एक हदतक राज्योंमें परस्पर अन्योन्याश्रय था, और रोममें बड़े एचपेचकी साहूकारी चलती थी। नेपोलियनके

आजकल समस्त संसारमें परस्पर गुथी हुई है। अतः तार, रेल, जहाज, डाक, अखबार और लेन-देन, वाणिज्य, व्यापार, शिल्प आदि ज्ञानतन्तुकी नाईं हैं। वर्त्तमान उन्नतिमें समस्त सभ्य संसार एक व्यक्तिकी नाईं हो गया है, और उसमें विश्वात्मः एकता-बुद्धि आ गयी है। (अनुवादक)

हुई किताब किसीने देखी भी नहीं थी। अतएव राजपुरुषोंके कार्य्यक्रमका निश्चय प्रायः प्राग्ज्ञान वा पूर्ववत् अनुमानसे ही होता था। उसे यह दिखता था कि मेरी जेबमें सोना रहेगा तो जो चाहूंगा मोल ले लूंगा अतः उसने यों निश्चय किया कि हमलोग यथाशक्ति खूब सोना इकट्ठा करें और उसे देशके बाहर न जाने दें। बस इसमें ही हमारा कल्याण है। उन तीन शताब्दियोंमें जिस नीतिका अवलम्बन किया गया वह केवल सोनेका खींच लेना था—वही बनियईका पुराना अशुद्ध सिद्धान्त—जिसका फल सबको विदित है। जितनी ही दृढ़तासे यह नीति चलायी गयी, स्पेन उतना ही धनहीन होता गया। और अन्योन्याश्रयकी वास्तविक स्थितिको तथा इस विचारको कि एक देशका सम्बन्ध जब दूसरेसे हो तो कैसी नीतिसे आचरण होना चाहिए—शासकगण बिलकुल भूल गये।

अब कल्पना कीजिए कि आजकलके औद्योगिक और माली रीतिसे विवृद्ध और उन्नतिशील दक्षिण अमेरिकाकी नीतिका वर्त्तमान स्पेन अधिकारी हो जाय। यदि हम यह भी मान लें कि अमेरिकन विप्लव नहीं हुआ है और हमारे अर्थहीन राजनीतिक शब्दोंमें अबतक उत्तर अमेरिकापर अंगरेजोंका "स्वत्व" बना हुआ है—तो शायद् यह सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा। मान लो कि आज इंगलैंड उसी नीतिको जारी करना चाहता है जिसे तीन सौ बरसोंतक स्पेनने जारी कर रक्खा था। मान लो कि पार्लिमेंटने यह आईन पास कर दिया कि लंडनके अमुक अमुक इजारेवालोंको संयुक्तराज्यकी प्रत्येक खानि और तैलकूप ८०) रुपया सैकड़ा कर दिया करे। मान लो कि जितनी रुई (Louisiana) लूइसिआनासे (Lancashire) लंकशहरके लिए आवे उसे पहले विन्निपेग ले जाकर एक विशेष प्रकारकी चुंगी देना चाहिए, फिर अमुक अमुक कम्पनियां उसे लेकर अमुक अमुक जहाजोंपर अमुक किरायेपर ही लादें और डील-बन्दर में ले जायँ जो किसी इजारेदारका स्थान है, फिर देशमें आकर पहले सरकारसे सम्बन्ध रखनेवाली कम्पनीके पास डार्बीमें जाय, तब अन्ततः डार्बीसे मंचेस्टर आवे। इस तरहका आईन ठीक वैसा ही होगा जैसा दक्षिण अमेरिकामें स्पेनने तीन सौ बरसतक जारी रक्खा था, किन्तु इस जमानेमें आज ही यह आईन पास हो और कल ही पहले तो अमेरिकामें माली संकट उपस्थित हो

जायगा, फिर तुरन्त ही इंगलैंडमें भी वही होगा और लंडनके हजारों हजार व्यापारी, जिनसे देखनेमें इस रोजगारसे तनिक भी सम्बन्ध नहीं है, फँस जायँगे और लंकशहरमें तो व्यवहारतः एक ऐसा बड़ा राष्ट्रीय कारबार एकदम चौपट हो जायगा, जिसपर हजारों अंग्रेजोंकी जीविका निर्भर है। दूसरे ही दिन हज़ारों बंक बन्द हो जायँगे, सैकड़ोंका टाट उलट जायगा।

और यही बात है—इस आईनके प्रभावको जाननेमें सत्रहवीं शताब्दीवाले स्पेनी आईनकी भांति बीस तीस वा पचास बरस न लगेंगे। जिस समय इस नीतिकी घोषणा होगी उसके बीस मिनिटके भीतर ही भीतर सारे सभ्य संसारमें इसका प्रभाव विदित हो जायगा। थोड़ी देरके लिए इसपर ही विचार कर लीजिए कि व्यापारमें फँसा हुआ कितना रुपया डूब जायगा, किस भयंकर हलचलसे उन रुपयोंके हिस्से सर्राफ़ेमें कौड़ियोंके मोल बिकने लगेंगे, और आनकी आनमें बड़ी भयानक गड़बड़ी मच जायगी और स्पष्ट है कि लंडन और लंकशहरके कारबारियोंका जो कुछ ज़ोर ब्रिटिश-सरकारपर चल सकेगा, अपनी जान लड़ाकर सरकारको दबावेंगे और ऐसे असम्भव आईनको बन्द कराकर छोड़ेंगे। और यह सद्यःप्राप्त फल उन रीतियोंसे उत्पन्न होगा जो आजकलकी साहूकारीने गढ़ रक्खी हैं, अर्थात् तार समाचारोंके द्वारा पहले परिणाम समझकर व्यापारी काररवाई करनेमें साहूकार शक्य ही नहीं प्रत्युत्त बाध्य होंगे। यह सब आईनके वस्तुतः जारी हो जानेके पहले ही हो जायगा!

शीघ्र-संवेदना शक्ति, सर्वांगैकचेतनता वा लोक-संग्रहसे मेरा यही अभिप्राय है। सर्राफ़ा और बंक-दरसे व्यापारी-दुनियारूपी शरीर उन बातोंको तुरन्त जान सकता है जिन्हें भद्दे और कम बढ़े हुए शरीर नहीं संवेदन कर सकते थे और उसका सीधा सादा कारण यही था कि वह ज्ञानतन्तुओंसे हीन थे। अब इस सभ्य-संसारशरीरके लिए साहूकारी—अर्थात् लेनदेनका सार्वभौम प्रचार और सम्बन्ध—ज्ञान तन्तुओंका काम देता है, जिसका निस्संदेह यही फल है कि अपने सारे कामोंको सम्बद्ध और एक दूसरेपर निर्भर वा एक दूसरेसे संयुक्त करनेकी, और उनके अन्तिम परिणामको पूर्णरीतिसे समझकर उन्हें करनेकी, शक्ति हो जाती है। यह ज्ञानतन्तु पहलेके नहीं हैं, हमलोगोंके समयमें ही बन गये हैं।

इससे ही मैं समझता हूं कि जो जो विरुद्ध टीकाएं मेरी उक्तियों-पर की गयी हैं, वह सब युक्तिसंगत नहीं हैं। लोग कहते हैं कि राष्ट्रोंका अन्योन्याश्रय पुरानी कथा है, यह कारण पहले भी उपस्थित थे किन्तु इनसे सैन्यबलके लाभोंका ह्रास नहीं हुआ, और यदि हुआ भी तो इससे एक राज्यका दूसरेसे जैसे व्यवहार था उसमें परिवर्त्तन नहीं हुआ। किन्तु मेरा यह कहना है कि वह निर्णायक कारण, जिसके सद्यःजात प्रतिक्रियाको मैंने दरसाना चाहा है, जिसका ही प्रभाव वस्तुतः राजनीतिपर पड़ सकता है, वह उस समयमें न था और न हो सकता था। इन सत्योंका शास्त्रीय विचार पुराना भले ही हो, परन्तु इस तरहपर सिद्ध हो जाना कि उनका प्रभाव राष्ट्र-नीति-संचालक लोकमतपर पड़े, यह बात अवश्य नयी है और इसका ऐतिहासिक प्रमाण बहुत सीधा सा है।

साम्प्रत संसारमें पहले पहल सन १७५२में ह्यूमने राष्ट्रोंके अन्योन्याश्रय-सिद्धान्तको विधिपूर्वक छेड़ा था। तीस बरस पीछे अपने बहुत विस्तृत विषयके ग्रन्थमें आदम स्मिथने उसका समर्थन किया। इतनेपर भी अठारहवीं शताब्दीके अन्ततक उसके सिद्धान्तों-का साधारण नीतिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था—जैसा कि अमेरिकन विप्लवके समयके इंगलैंडके, और नेपोलियनी युद्धोंके समयके युरोप महाद्वीपभरके, विवादोंसे स्पष्ट अवगत होता है। सच तो यह है कि राज्योंका व्यवहारिक और अत्यन्त आवश्यक अन्योन्याश्रय बहुत थोड़ा था, जैसा कि नेपोलियनकी युरोपीय रीतियोंसे ही स्पष्ट है। यहांतक कि उद्योगमें सबका अग्रणी इंग-लैंड ही, कभी कभी बड़े दुर्भिक्षके समयको छोड़, परदेसियोंपर केवल मसाले, शराब, रेशम आदि शौकीनीकी चीजोंके लिए ही निर्भर करता था। इन चीज़ोंका व्यापार यद्यपि बढ़ा हुआ था तथापि उनका प्रभाव जनसंख्याके थोड़े से गिने चुने शौकीनोंपर ही पड़ता था और जिनकी बिक्रीपर निकटवर्त्ती देशोंके सुखी वा दुःखी होनेका प्रभाव बहुत नहीं पड़ता था। उस समयतक इंगलैंडका राष्ट्रीय उद्योग इतना नहीं बढ़ा था जो अपने पड़ोसके देशोंका आसरा देखे—अर्थात् जिस समय इंगलैंड अपने शिल्प, उद्योगमें प्रवृत्त हो उस समय पड़ोसी देश उसे भोजन और तैयार करने-को कच्चा माल बराबर देते जायँ। अनिवार्य्य अन्योन्याश्रयकी यही कसौटी है। उन्नीसवीं शताब्दीके आरम्भमें संसारके किसी

देशमें भी ऐसा अन्योन्याश्रय न था। इंगलैंड और देशोंकी अपेक्षा इस सत्यको ग्रहण करनेको पचास बरस आगे बढ़ा हुआ था। वस्तुतः हम यह भी कह सकते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दीकी चतुर्थ पचीसीमें संसारमें ऐसे अनिवार्य अन्योन्याश्रयका पूरा उदाहरण ब्रिटेन ही था जहांकी अत्यन्त बड़ी लोक-संख्या अपनी प्रतिदिनकी आवश्यकताओंके लिए अपने पड़ोसियोंपर निर्भर करती थी, जैसे लंकशहर रुईके लिए अमेरिकापर अथवा इंगलैंड-की करोड़ों प्रजा पराये देशोंके अन्नपर निर्भर करती थी। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दीमें भी बहुत वर्षोंतक (Physio-crats) प्रकृतिवादियोंके सारे ज्ञान-व्यवसायको निरर्थक करते हुए, वह पुराना विचार—कि हरेक राष्ट्रके लिए दूसरे राष्ट्रके उद्योगको नष्ट कर देना लाभकारी है—भरपूर अधिकार जमाये हुए था। किन्तु उस शताब्दीके तीसरे वा चौथे दशकमें ही सच्चा श्रम-विभाग आरम्भ हो गया। भाफकी शक्ति हमारे उद्योगोंमें बड़े बड़े काम करने लगी। अपने देशके सस्ते पत्थरके कोयलेसे जब उस भाफ-की शक्तिके प्रयोगमें अंग्रेजोंको बड़ी सुविधा हो गयी, और इंगलैंड-की भौगोलिक स्थितिसे जब अमेरिका आदिसे उसका व्यापार वैसा ही असपत्न सा हो गया, जैसा कई सौ बरस पहले वीनिसके प्रजा-तंत्रोंका भूमध्यसमुद्रसे-ही-परिचित संसारसे था; और ऐसी परिस्थितिमें जब अंग्रेजोंके उद्योगका अभ्युदय हुआ, तो विदेशी व्यापारसे इंगलैंडकी प्रजाको सस्ता अन्न मिलना अत्यन्त आव-श्यक हो गया। कई बार दुर्भिक्ष पड़ जानेपर, और जिस सालकी वर्षामें अनाजका आईन तोड़ दिया गया, उन बरसोंमें स्पष्ट हो गया कि विदेशी अनाजपर प्रजाका जीवन कितना आश्रित है। उसी आश्रयके कारण अंग्रेजोंको धनसम्बन्धी नीतिमें विप्लव सा हो गया। विचारकी जिस कायापलटके लिए सौ बरससे प्रकृतिवादी बड़े बड़े शास्त्रार्थ करके जान दे रहे थे, पराये अनाजकी अनिवार्य्य आव-श्यकताने उसे पांच बरसमें कर दिखाया।

इस परिवर्त्तनके प्रायः साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय विचारमें भी परिवर्त्तन हो गया—अर्थात् मातृभूमिका अपने उपनिवेशोंको चूसनेका सम्बन्ध अपने मनसे तोड़ दिया गया और समुद्रपारके स्वत्वोंके स्वराज्यकी बात भरपूर मान ली गयी। थोड़ी देरके विचार-से यह बात सिद्ध हो जाती है कि बड़ी बड़ी पुत्री-जातियोंसे

माता जातिके सम्बन्धकी ऐसी कल्पना, सम्बन्ध-विषयक विचारके उसी परिवर्त्तनसे उत्पन्न हुई है जिसकी शिक्षा प्रकृतिवादी देते रहे हैं, और जिसे वास्तविक घटनाओंने बोधगम्य कर दिया है।

परन्तु राष्ट्र कोई एक व्यक्ति नहीं है। यह हमारी बेसोची समझी बातचीत है जिसमें हम यह कह बैठते हैं कि इंगलैंड अमुकके पक्षमें है और जर्म्मनी अमुकके। चार छ करोड़ प्राणी एकमतके कभी नहीं हो सकते। और जब (Cobden) कावडेनने अपना काम पूरा कर लिया उस समय यद्यपि स्पष्ट प्रतीत होता था कि पुराने राजनीतिक विचारका भरपूर पराजय हो गया है, तथापि बहुतेरे देशवासियोंका दृढ़ विश्वास था कि दूसरे राष्ट्रोंकी शक्ति और समृद्धिकी वृद्धि इंगलैंडके लिए सबसे अधिक भयका कारण था। जब उत्तरी और दक्षिणी युद्ध अमेरिकामें छिड़ा उस समय इसका एक विचित्र उदाहरण मिला। अमेरिकाकी एकता बढ़ते देख बहुतेरे राजपुरुषोंको नींद नहीं आती थी और जब लड़ाई छिड़नेपर जान पड़ा कि एकता टूट जाया चाहती है, तो इस समाचारपर जो उन्हें सन्तोष और सुख हुआ उसे बहुतेरे अंग्रेज छिपा न सके। विदेशी राज्यमें परस्पर बिगाड़ होनेको ही था कि पहला फल यह हुआ कि एक बड़े उद्योगका प्रायः नाश ही हो गया और इंगलैंडमें ही हजारों मजूर भूखों मरने लगे। राष्ट्रोंके अनिवार्य्य अन्योन्याश्रयका और एक आर्थिक उदाहरण मिल गया जिसने पुराने विचारके जलते हुए शवको और भी भस्म कर दिया। राजनीतिक विचारोंका जैसे धीरे धीरे अभ्युदय हुआ उसपर पाठक विचार तो करें। सन् १८६०तक संयुक्तराज्यकी वृद्धिको रोकना ब्रिटेनकी कूटनीतिका एक अंग था—इंगलैंडके राजपुरुषोंका यह एक विचार था—उस कूटनीतिका अब कौन सा अंग बच गया है? अब कौन ऐसा विचार करता है कि संयुक्त-राज्यके धनवान होनेमें इंगलैंडको किसी प्रकारका भय है?

इस ऐतिहासिक उल्लेखके साथ ही साथ अब युरोप महाद्वीपपर फिर विचार कीजिए। जब कि इंगलैंडके सुख समृद्धिका अटूट सम्बन्ध बीस तीस बरससे दूसरे राष्ट्रोंके व्यवसायसे हो चुका था और जब वह अपना अन्न और भोज्य अमेरिकासे पा रहा था और ऊन (वस्त्र) आस्ट्रेलियासे—उस समय भी, यद्यपि युरोपके

कई राष्ट्रोंका शराब और रेशम आदि व्यसन-वस्तुओंका निर्य्यात (रफ़्नी) व्यापार बड़ी धूमसे चल रहा था तथापि वहांके सबके सब राष्ट्र प्रायः अपने अन्नवस्त्रके लिए अपने देशमें ही व्यवस्था कर लेते थे, और यही उनकी नीतिसे भी प्रकट होता है।

सन १८७०में फ्रांसके लूई नेपोलियनने जब जर्म्मनराज्योंमें मेल होते देखा तो उन्हें उस समय वैसा ही विस्मय, वैसा ही भय हुआ और प्रायः उनपर वैसा ही प्रभाव पड़ा जैसा कि सन १८६०में अमेरिकनोंके मेलवाले भूतका भय अंग्रेज राज्य-शासकोंको हुआ था। वह उसी पुराने विचारपर चलता था कि हमारा पड़ोसी शक्तिमान होकर हमारा अनिष्ट करेगा और धनसम्पन्न होकर हमसे विरोध करेगा। एक तरहसे यह विचार ठीक भी था, क्योंकि हालके ही पाठ ग्रहण करनेवाले इंगलैंडके सिवा सब देश ठीक इस साध्यसे ही संचालित हो रहे थे। अतः उसने अपनी कूटनीतिको उस शक्तिको ध्वस्त करने और उस समृद्धिको नष्टप्राय कर देनेमें लगाया, अर्थात् नीतिका ऐसा मार्ग निकाला जिससे जर्म्मन राज्योंकी घनिष्ट एकता कठिन और अपूर्ण हो जाय। बिस्मार्कने इस हस्तक्षेपका सफलतापूर्वक मुकाबला किया और अपनी शक्तिको भी केवल राजनीतिक नहीं किन्तु आर्थिक दृष्टिसे, फ्रांसको बलपूर्वक ध्वस्त करनेमें लगाया। बिस्मार्ककी दृढ़ प्रतिज्ञा थी कि ऐसा करूं कि युरोपमें फ्रांसकी गिनती आर्थिक शक्तियोंमें अब कभी न होने पावे। वह इस विषयमें जो अकड़कर खड़ा हो गया उसका कारण यह था कि इन दो राष्ट्रोंमें कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं था। जर्म्मनीमें कोई लंकशहर नहीं था जो जर्म्मन सैनिकोंद्वारा फ्रांसके रूईके खेतोंके नष्ट होनेसे उजड़ जाता। जर्म्मन उद्योग फ्रांसके गेहूं वा रुपयोंके सहारे नहीं चलता था। अब देखिये, आगे क्या हुआ। जर्म्मनीने राजनीतिक और आर्थिक स्थितिको पुष्ट करनेकी ठानी, कठिन उद्योग और व्यापारवृद्धिमें तन-मन-धनसे लग गया जिसका ढंग प्रायः वही था जो एक पीढ़ी पहले इंगलैंडके व्यापारका था। इस आर्थिक अभिवृद्धिके चालीस बरस बाद दूसरा फ्रेंच-जर्म्मन झगड़ा छिड़ा; फिर सेनाएं मुकाबलेमें खड़ी की गयीं और एक जर्म्मन सचिव खुले मैदान बिस्मार्कके सिद्धान्तोंका अनुसरण करते हुए बिस्मार्कके स्थानमें खड़ा हुआ। किन्तु बिस्मार्ककी अपेक्षा उसको यह बड़ी सुविधाएं थीं, कि जहां बिस्मार्कने चार करोड़

जर्म्मनोंका मुकाबला उतने ही फ्रेंचसे कराया था और वह भी जब जर्म्मनी राजनीतिक दृष्टिसे संयुक्त नहीं था, वहां (Herr von Kiderlen Waechter) फ़न् किडरलेन वीक्टर साहबको साढ़े छः करोड़ जर्म्मनोंका केवल तीन करोड़ आठलाख फ्रेंचोंसे मुकाबला कराना था, और जर्म्मनीमें चालीस बरससे राजनीतिक एकता थी और जकड़ा हुआ शासन था। और जहां फ्रांस एक अंग भी आगे नहीं बढ़ा था, वहां जर्म्मनी कल्पनातीत उन्नत अवस्थामें था। किन्तु कोई युद्ध हुआ नहीं। जहां विस्मार्क अपने देशकी बिना कोई सद्यो-भावी हानि किए हुए और मनः सन्तोषके साथ फ्रांसका रक्त चूसकर निर्जीव कर देता, वहां सुनते हैं कि फ़न्किडरलेन वीक्टर साहबको यह बड़ा विचित्र अनुभव हुआ कि इस १९११के अपेक्षा-कृत दुर्बल फ्रांसका रक्त चूसकर निर्जीव करनेसे अपना शक्तिसम्पन्न जर्म्मनी ही अत्यन्त घोर आर्थिक आपत्तिमें पड़ जायगा। १८६५में अमेरिकाकी रुई जो लंकशहरके लिए थी वही १९११में फ्रांसका रुपया, जिस किसी रूपमें हो, जर्म्मनीके लिए था। यह भी बड़ी अद्भुत बात उन्हें सीखनेमें आयी कि १८७०से जर्म्मनीकी जनसंख्या जो दो करोड़ बढ़ गयी वह सबही प्रायः परदेसी अन्नपर जीती है और उनकी जीविका ऐसे उद्योगोंपर निर्भर है जिसकी पूंजी पराए देशोंकी है, बहुधा फ्रांस और इंगलैंडकी है। यदि किसी जादूके बलसे, विस्मार्ककी आर्थिकरीतिसे, फ्रांसका नाम युरोपसे मिटा देनेकी कल्पना सिद्ध हो जाती, तो भी फ्रांसकी भलाईके विचारसे नहीं किन्तु जर्म्मन उद्योगोंकी कठिन आवश्यकताओंसे और जर्म्मन साहूकारों और कारबारियोंके प्रत्यक्ष दबावसे उसे रुकना पड़ता, और सचमुच उसे रुकना ही पड़ा। इस बातकी धमकी ही बहुत थी। जो कहीं यह बात खुल जाती कि जर्म्मनीके रुपयेकी मांगको विदेशी लोग स्वीकार नहीं करते, तो तुरन्त जर्म्मन सर्राफ़ा दलदलमें फँस जाता और कोई न कोई जर्म्मन औद्योगिक बंक बन्द हो जाता। जहां जर्म्मन आततायियोंने लड़ाईके छिड़नेकी चर्चा छेड़ी, वहीं बंकका भाव चढ़ा और किसी न किसी बड़े जर्म्मन कारबारका दिवाला निकला। यदि मुझे अवकाश होता तो वस्तुतः एक बड़ी दिल्लगीका नक़शा खींचकर पाठकोंके सामने रख देता जिससे जर्म्मन व्यापारी दिवालेकी

संख्या और जर्म्मन विदेशी नीतिके ज्वारभाटेका परस्पर सम्बन्ध अत्यक्षरूपसे दिखाई पड़ता।

यह दशा तो जर्म्मनी-स्थित अंग्रेजोंके ही कांसल-जेनरल सर फ्रांसिस (Oppenheimer) ओप्पेनहैमरने बहुत अच्छी तरह वर्णन की है। अपने अन्तिम रिपोर्टमें कहते हैं कि जर्म्मनीमें बंकों और उद्योगोंके घनिष्ट सम्बन्धसे ऐसी स्थिति हो गयी है कि "अन्तर्राष्ट्रीय संकट पड़नेपर एक दम सबका पटरा हो जायगा।" इसी तरहकी असंख्य टीकाओंमें मैं बर्लिनके सर्राफ़ा-गज़टसे यह उद्धृत करता हूं—

"पहली जुलाईसे जिस पालिसी, जिस नीतिका अनुसरण जर्म्मन सरकार करती रही है उससे हमारे वाणिज्य और हमारे उद्योगकी प्रायः वैसी ही बड़ी बड़ी हानियां हुई हैं जैसी कि असफल युद्धसे सहनी पड़तीं।"

ऐसे कथनमें अत्युक्ति भी हो सकती है, किन्तु बात यह नहीं है। बात यह है कि नीतिके इस प्रभावको धनव्यापार भी अनुभव कर रहा है। मेरा कहना यह है कि जिन ज्ञानतन्तुओंकी मैंने चर्चा की है उनका काम इस सभ्य-संसार-शरीरमें हो ही रहा था। सार्वजनिक मतपर इनका प्रभाव पड़ने लगा था, जिसका उलटकर कभी न कभी सर्कारपर अपना प्रभाव डालना अनिवार्य्य था। हमको इस बातकी पूरी परीक्षा भी मिल चुकी कि इन धनसम्बन्धी ज्ञान तन्तुओंसे स्फुरित होकर इस मतने बड़ी शीघ्रतासे सरकारकी नीतिपर अपना प्रभाव डाला। उदाहरणके लिए बर्लिनसे टैम्स समाचारपत्रके पास आए हुए तार-समाचारसे एक घटना उद्धृत करता हूं। इसी तरहकी घटनाएं उस समय अनेकों हो रही थीं जिनका यह एक नमूना है।

हम लोगोंके लिए वह समय अत्यन्त अशुभ और नैराश्यका दिखता था और जर्म्मन-सर्कार स्पष्टतः जान बूझकर सर्वाशुभवादिनी विज्ञप्तियां निकाल रही थी। टैम्सवाला तारसमाचार यह थाः—

"अशान्तिकारक नीम-सरकारी विज्ञप्तियोंका एक परिणाम यह हुआ कि सर्राफ़ेके खुलनेके बहुत पहले ही हिस्सों और कागजोंके बेचनेकी अगणित सूचनाएँ आने लगीं और भावके बहुत ज्यादा उतर जानेके पूरे लक्षण फिर दिखाई

देने लगे। साहूकारीकी बहुत बड़ी बड़ी संस्थाओंने पर-राष्ट्र दफ़्तरसे तुरन्त मंत्रणा प्रारंभ की और बड़े सवेरे ही बड़े बड़े बंकोंके कई प्रतिनिधि, जर्म्मनबंक और बर्लिन-साहूकार-सभाके डैरेक्टर और राष्ट्रीयबंक और ब्लइक्रोइडर-बंकके प्रतिनिधिने पर-राष्ट्र उपमंत्री महाशय सिम्मरमानसे भेंट की और उन्होंने जो जो प्रश्न किये उनके उत्तरमें सिम्मरमानने उस अवस्थाके विषयमें पूर्ण दृढ़तासे विश्वास दिलाया कि कोई अशान्ति न होने पावेगी। इन्हीं आश्वासनोंकी दृढ़तापर बंकोंने सहायता देना स्वीकार किया और तब इसका यह फल हुआ कि दिनभर भाव सन्तोषजनक सीमाके भीतर ही भीतर रहा, बहुत उतरने नहीं पाया।"

इससे बढ़कर अब और क्या स्पष्ट प्रमाण होगा कि जर्म्मनीके अब वह दिन आये कि नयी आर्थिक अड़चनोंके कारण उसे पड़ोसियोंकी सुरक्षित धनव्यवस्थाके सहारे रहना पड़ा और इन्हीं कारणोंसे अब उसकी सरकारको अपनी चढ़ाई करनेवाली नीतिको बदलना पड़ा।

अब वे सौभाग्यके दिन किधर गये, जब बिस्मार्क बड़ी चपलतासे यों हांकते थे कि हम फ्रांसका रक्त चूसकर उसे बेदम कर देंगे और हमको दृढ़ विश्वास है कि इससे किसी जर्म्मनकी तनिक भी हानि न होगी, वरन जर्म्मन राज्यको उससे अपरिमित लाभ होगा? जिस सामाजिक वृद्धिके नियमका मैंने स्थानान्तरमें समझानेका प्रयत्न किया है पाठकगण उसके उदाहरणरूपमें यह भी सोच लें, कि जो अट्टिला कि बिस्मार्कके पन्द्रह सौ बरस पहले हो चुका था, उसकी ही रीतियोंका अनुसरण करनेमें बिस्मार्कको उतनी कठिनाई नहीं थी—प्रत्युत कहीं अधिक सुविधा थी—किन्तु चालीस ही बरस पहलेके बिस्मार्ककी रीतियोंके अनुसरणमें हमें कहीं अधिक कठिनाई है!

मैं जानता हूं कि पाठकगण कहेंगे कि युद्धमें रुकावट डालनेवाले यह विचार नहीं थे, प्रत्युत यह बात उसका कारण थी कि जर्म्मनीको फ्रेंच स्थलसेनाके सिवा ब्रिटिश जल-सेनाका सामना भी करना था। किन्तु पाठकगण कृपापूर्वक यह भी याद रक्खें कि गत दस बरसके भीतर ही मोराको-सम्बन्धी दो घटनाएं हो चुकी हैं और पहली बार किसी विशेषरूपसे अंग्रेजी जलसेना फ्रांसकी सहायतामें नहीं थी और उस समयके जर्म्मन माली समाचारपत्रोंको यदि देखा जाय तो विदित हो जायगा कि सन १९०५की

जर्म्मन-पालिसीपर—यद्यपि उतना स्पष्ट रूपसे नहीं, तथापि प्रधानरूपसे—ठीक ठीक उसी तरहके आर्थिक और व्यापारी विचारोंने पूरा प्रभाव डाला था, जैसे विचारोंका प्रभाव और गौरव सन १९११की साधारण नीतिपर ऐसी प्रधानतासे पड़ा। एक विश्वसनीय फ्रेंच राजनीतिज्ञका कथन है कि "इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय साखपर ही जर्म्मन उद्योगोंका आश्रय होनेके कारण युद्ध रुक गया।" और यह सारगर्भित टीका भी उन्हींकी लेखनीसे है "हम चाहें या न चाहें, इस अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक घनिष्टताका प्रभाव बढ़ता ही जाता है। हममेंसे किसीके विज्ञात उद्योगका फल यह नहीं है और न तो यह हमारे किसी विज्ञात प्रयत्नसे रोका जा सकता है।"

मैं यह नहीं कहता कि राजनीतिक और सैनिक कारण, जलसेना इत्यादिकी, कोई गिनती ही नहीं है। सर्कारकी अमुक कारर-वाईका कौन सा कारण सबसे महत्त्वका है, इस विषयपर यदि पचास समान बहुज्ञोंसे राय ली जाय तो पचास राएं होंगी। एक महाशयने अपना जीवन जर्म्मनीमें इन सब घटनाओंके केन्द्रपर ही बिताया है और उनका सम्बन्ध केवल व्यापारी, माली और अखबारी दुनियासे ही नहीं रहा है प्रत्युत सरकार दरबार और राजनीतिक विषयोंसे भी रहा है। आपने मुझे यों लिखा है—

मैंने बहुतेरे राजनीतिक अभ्युदयों और गुटोंको विचारपूर्वक देखा है और बहुतोंमें काम भी किया है। मुझे विश्वास है कि जर्म्मननीतिका अन्तरंग मैंने उतना ही देखा है जितना किसी व्यक्तिके लिए सम्भव है; और आप मुझसे अब जो यह पूछते हैं कि भविष्यत्में युद्ध होगा या शान्ति रहेगी, तो मैं यही कहूंगा कि मैं नहीं जानता। आप पूछते हैं कि जर्म्मनी शान्तिके पक्षमें है वा नहीं, तो भी मेरा उत्तर यही होगा कि मैं नहीं जानता। सम्राटको भी यह नहीं मालूम कि जर्म्मनी शान्तिपक्षमें है वा युद्धपक्षमें, यद्यपि वह स्वयं निस्सन्देह शान्ति ही चाहते हैं। किन्तु उन्हें इस बातका निश्चय नहीं है कि उनके प्रयत्न ठिकाने लगेंगे।

इतनेपर भी जब लोग किसी देशकी—यथा जर्म्मनीकी—चर्चा करते हैं तो ऐसी बातें कहते हैं मानों उस देशके काम एक ठहरायी हुई रायपर उसी तरह होते हैं जैसे कि कोई

पुरुष अपना काम निश्चय कर लिया करता है। यह नहीं सोचते कि किसी देशकी राय बहुसंख्यक प्रजाकी भिन्न भिन्न मतियोंका एक समूहमात्र है जिसपर तरह तरहकी शक्तियोंका प्रभाव पड़ता रहता है और जो बराबर घटता बढ़ता रहता है। युरोपमें एक भी ऐसा राज्य नहीं है जिसने गत दस बरसोंमें अपनी नीतिके रुखको बिलकुल बदल न दिया हो। १६००में फ्रांस इंगलैंडका घोर शत्रु था। अंग्रेजी लोकमत जर्म्मनीके एक भी अनिष्ट और फ्रांसकी तनिक भी भलाईको सुनकर सह नहीं सकता था। पन्द्रह ही बरस हुए कि अमेरिकन पर-राष्ट्रनीतिमें अंग्रेज-वृद्धि-भयवाली नीतिका बड़ा जोर शोर था; आजके जर्मनीमें जो अंग्रेज-वृद्धि-भयपर घोरसे घोर उद्गार हों उनका ठीक नमूना मैं उस समयके अमेरिकन उद्गारोंमें दिखला सकता हूं जो बड़े बड़े अमेरिकनोंके मुखसे निकले हैं। यह भी कहा जाता है कि जर्म्मन सरकार रत्तीभर भी इस बातकी परवाह नहीं करती कि माली दुनिया और बंकवाले क्या समझेंगे और इस नीतिसे उनकी क्या हानि होगी। इसके उत्तरमें मैं इस बातको भी छोड़ देता हूं कि सत्य घटनाएँ इस कथनका विरोध ही करती हैं और जिस इतिहासका वर्णन अभी मैंने किया है वह प्रत्यक्षरीतिसे इसका खंडन करता है। किन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं है और सभी इस बातको जानते हैं कि अन्ततः सर्कार भी तो दुनियाका ही कारबार है, उसकी नीतिका रुख कभी न कभी उसी प्रजासमुदायके लाभ और आवश्यकताओंके अनुसार होगा जिसके बलपर और जिसके धनसे उसका काम ठीक ठीक और निश्चय-पूर्वक होता जाता है। और कुछ न सही, तो आजकलका युद्ध तो अवश्य उसी शक्तिपर निर्भर करता है जो अपनी प्रजा और अपने युगके आर्थिक और आचारसम्बन्धी विचारस्रोतोंके अनु-सार बहुत कालतक आचरण करनेसे सरकारको प्राप्त होती है। किसी बड़े राज्यके लिए जो संसारके जीवन-व्यवसायमें अच्छी तरह लगा हुआ हो कोई और उपाय संभव ही नहीं है। अकेला राज्य इन स्रोतोंके सामने अत्यन्त बलहीन है। जर्म्मन प्रजाके व्यव-हारसे, बिना चाहे ही, बड़े बड़े राज्यधुरंधरोंके गभीर विचारसे सोचे हुए उपाय केवल व्यर्थ नहीं हुए, प्रत्युत यदि व्यर्थ न हो जाते तो साम्प्रत जर्म्मनीका राष्ट्रजीवन असंभव हो जाता। बिस्मार्ककी यह प्रसिद्ध नीति आदिसे अन्ततक थी कि जहांतक

हो सके फ्रांसकी आर्थिक वृद्धिको रोका जाय, युरोपके आर्थिक मानचित्रसे उसका नाम ही मिटा दिया जाय। जो कुछ हो, यदि फ्रांसकी ऐसी दशा हुई होती तो गत बीस बरसोंमें जर्म्मन व्यापार-का यह अद्भुत अभ्युदय असम्भव होता।

वह व्यापार अधिकांश दक्षिण अमेरिका, समीपवर्त्ती प्राची और रूस आदि देशोंसे हैं और इन देशोंकी हालकी उन्नति जिससे जर्म्मनीका वृहत् व्यापार सम्भव है विशेषतः फ्रेंचों और अंग्रेज़ोंकी पूंजीसे हुई है। यदि जर्म्मन राज्यधुरंधर सचमुच जर्म्मनीके स्पर्द्धियों और प्रतियोगियोंका मलियामेट करनेमें कृतकार्य्य हो जाते, तो जर्म्मन व्यापारकी यह उन्नति भी असंभव हो जाती।

फ्रेंच राजपुरुषोंके लिए भी अपनी ओरसे इन स्रोतोंमें रुकावट डालनेके सारे प्रयत्न उसी तरह व्यर्थ हुए। फ्रेंच नीतिका उद्देश्य यह था कि जर्म्मनीके मुकाबलेके लिए रूसको बलवान करें और इसी इच्छासे रूससे मैत्री की गयी और इस मैत्रीसे यह बात भी समझी हुई थी कि फ्रांसकी जो बहुत बड़ी पूंजी बेरोजगार पड़ी हुई है उसका एक अंश रूसके व्यापारमें लग सकेगा। वह पूंजी रूसको मिली और रूसके व्यापारकी अधिकांश वृद्धि भी इससे ही हुई जिसका फल फ्रांसकी ही कृपासे जर्म्मनीके लिए लाभदायक हुआ और रूससे उसका व्यापार १५से ४५ प्रति सैकड़ा हो गया। यहांतक कि आज यह कहा जा सकता है कि व्यापारकी दृष्टिसे जर्म्मनीका ही प्रभुत्व रूसपर है। उस नीतिकी कृपासे जो जर्म्मनी-के विरुद्ध जारी की गयी थी, आज जर्म्मनीके दिनपर दिन बढ़ते हुए उद्योग और व्यापारकी बहुत सी निकासी रूसमें ही होती है।

इस बातपर भी पाठक विचार करें कि आजकल संसारमें जो परस्पर व्यवहारके उपाय इतने सरल हो गये हैं उसका फल यह हुआ कि किसी न किसी रूपमें फ्रेंच रुपया जर्म्मन व्यापारकी सहायता करता ही है और उसे रोकना असंभव हो गया है। जब-तक फ्रांस अपनी स्थायी जनसंख्या और पड़ी हुई असीम पूंजी रखता है और अपने रुपयेपर व्याज चाहता है, जबतक फ्रेंच-पिता अपनी बेटीको दायज देना चाहता है—निदान, जबतक उन उद्देश्योंको फ्रांस थोड़ा बहुत पूरा करता रहेगा जिनके लिए फ्रेंच-राज्यकी स्थिति है तबतक उसका रुपया जर्म्मन व्यापारकी सहायतामें अवश्यही लगेगा।

यह भी याद रहे कि, जैसा मैं पहले समझा चुका हूं, जिस श्रम-विभागसे राष्ट्रोंका अन्योन्याश्रय है, साखके बलसे वह श्रमविभाग केवल घनिष्ट ही नहीं हो जाता किन्तु जहां न हो वहां पैदा भी हो जाता है। यह सब जानता है कि कोयला निकालनेमें एक पैसे मनके फरक या गेहूंकी बिक्रीमें दो एक आना मनके फरकसे ही किसी देशमें कोयलेके व्यापारको और किसीमें गेहूंकी खेतीको ही लाभकी दृष्टिसे प्रधानता मिल जाती है, और वह पैसे दो पैसे, आने दो आनेका फरक व्यापारी संसारमें आजकलकी साखकी ही कृपासे संभव है। किन्तु जिस परिस्थितिपर हम विचार कर रहे हैं उसमें जिस तरहके श्रम-विभागका महत्व है वह प्रत्यक्ष रीतिसे साहूकारीकी ही चालोंसे निकला है। सन् १८७०के पहले फ्रांसकी जनसंख्या जितनी अब है उससे कुछ अधिक थी और युरोपमें और देशोंकी अपेक्षा फ्रांस धनाढ्य भी था और रुपया बचता ही जाता था। इतनेपर भी, जितना रुपया आज उसकी घटी हुई जनसंख्या विदेशी रोजगारमें प्रतिवर्ष लगा देती है,* उस समय सारे साम्राज्यकी जनसंख्या मिलकर इसका दसवां हिस्सा भी नहीं लगाती थी। यह घटना इस बातको प्रत्यक्ष दिखलाती है कि संसारके कामोंमें सम्पत्तिकी शक्ति कितनी बढ़ती जाती है और इसका बढ़ना लोकसंख्याके हिसाबसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता, प्रत्युत स्वतंत्र है। युद्धके बाद अनेक कारणोंसे—जिनमें साहसी और वीर लोगोंका युद्धमें नाश हो जाना भी एक कारण था—फ्रांस छोटे छोटे कुटुम्बोंका राष्ट्र बन गया है, जो आगेके लिए यत्नपूर्वक रुपया बचाते और अपने इकलौते पुत्र वा कन्याओंको एकबड़ी जायदाद वा दहेज छोड़कर मरते हैं, और इस तरहपर असंख्य धन विदेशी रोजगारके लिए सुलभ हो जाता है। जर्म्मनीकी ओर देखिए तो उसे दो करोड़ नयी प्रजाकी जीविकाका उपाय करना था और जितना कुछ रुपया उसके पास था वह बहुत शीघ्र ही समाप्त हो गया। किन्तु साहूकारीमें ऐसी हिकमत है कि उसने दोनो देशोंके श्रमको उन देशोंके स्वभावके अनुकूल विभक्त कर दिया। एक तो

---

* See the very striking figure given in this connection in "Le Role des Etablissement de Credit en France" (*published by La Revue Politique et Parliamentaire, Paris*).

पूंजी खड़ी करता है और दूसरा उसे काममें लाता है। और जिस तरह साहूकारीका फलस्वरूप यह श्रमविभाग बन गया है उसी तरह अन्योन्याश्रयकी वह स्थिति बन गयी है जिसे समझानेका प्रयत्न मैंने इस अध्यायके प्रारंभमें ही किया है। फ्रांसकी उसी निश्चेष्ट अवस्थाके कारण, जिसने इतनी पूंजी खड़ी की, जर्म्मनीके लिए उसे ध्वस्त करना असंभव हो गया।

अब पाठक फिर थोड़ी देरके लिए उस सिद्धान्तको स्मरण करें जिसपर मैंने यह बात उठायी है—कि बड़ी शीघ्रतासे बदलती हुई दशाओंके कारण राज्योंके परस्पर सम्बन्धमें परिवर्त्तन होता जाता है। शीघ्र-व्यवहारके सुगम हो जानेसे श्रमविभाग अधिकाधिक बढ़ता जाता है। ऐसा घनिष्ट श्रमविभाग, श्रम-भागियोंमें अन्योन्याश्रयको अत्यन्त आवश्यक कर देता है। इस अन्योन्याश्रयकी स्थितिसे परस्पर बलप्रयोग लाचार होकर दब जाता है। बलप्रयोगके इस भांति दब जानेसे राजनीतिक शासनका कार्य्य केवल अनावश्यक ही नहीं हो जाता, वरन् श्रमविभागके घनिष्ट एचपेचसे ही सहकारिताके ऐसे समाज उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे राजनीतिक सीमाएं एक दम टूट जाती हैं। इसका फल यह होता है कि राजनीतिक मामले आर्थिक मामलोंकी सीमामें नहीं रह जाते और न राजनीतिक और आर्थिककी एकता ही रह जाती है। और अन्ततः कुछ तो इन सब कारणोंका समष्टिफलरूपसे और कुछ इन कारणोंके आवश्यक सम्बन्धसे उपजी हुई हिकमतोंसे, वह धनसम्बन्धी लोक-व्यापी स्फुरण उत्पन्न होता है जिसकी मैं समाचारवाले तारोंसे वा ज्ञानतन्तुओंसे उपमा देता हूं। वह ऐसी चेतना है जिसके बलसे यह जगद्रूपी शरीर किसी अंगमें किसी तरहकी हानि पहुंचनेपर सचेत हो जाता है और एक स्थानकी पीड़ासे सारे शरीरको दुःख पहुँचता है। इन सब बातोंको संक्षेपमें यों कहा जा सकता है कि सैनिक बलका प्रभाव दिनपर दिन घटता ही जाता है और अन्तको आर्थिक दृष्टिसे निरा निरर्थक ही हो जायगा—बल्कि मेरी समझमें तो हो ही गया है। इन सिद्धान्तोंको पाठक याद करें और साथ ही साथ उस ऐतिहासिक उल्लेखपर भी ध्यान रक्खें जो अभी किया गया है; तब अपने जीसे ही पूछें कि इतिहास उन सिद्धान्तोंको पद-पदपर पुष्ट करता है, वा नहीं।

उस इतिहासके आरंभमें हम देखते क्या हैं कि एक लुटेरा राज है

जो अपने बलभर औरोंको हानि पहुँचाता है किन्तु स्वयं उसका बाल भी बांका नहीं होता। कथाके अन्तमें हम देखते हैं कि ऐसी स्थिति हो गयी है जिसमें एक राज्य दूसरे राज्यको कोई ऐसी बड़ी हानि नहीं पहुँचा सकता जिसका शोकजनक परिणाम उलटकर हानिकारक राज्यपर ही न पड़ जाय। आदिमें हमने एक ऐसे इंगलैंडका दृश्य देखा जो विना अपनी हानि किये सारे राजनीतिक स्पर्द्धियोंका नाम संसारसे मिटा सकता था; अन्तमें हम इंगलैंडकी ऐसी दशा पाते हैं कि यदि वह अपने स्पर्द्धियोंका नाश करे तो उसकी प्रजा भूखों मर जाय। पहले यह देखा गया कि स्पेन जैसी महाशक्ति अपने मिथ्या लाभके लिए दूसरोंका रक्त चूसनेको अपने झकमें सैनिक शक्तिका मनमाना प्रयोग करती थी। अब यह देखा जाता है कि सैनिक बलका ऐसा कोई प्रयोग प्रयोगकर्त्ताके ही सुखका कुठार हो जाता है। पहले तो ऐसा अन्योन्याश्रय इतना कम कम बढ़ा कि दो हजार बरसमें उसमें कोई वृद्धि भी दिखायी न पड़ी। अन्तको आनकी आनमें अत्यन्त बढ़ गया और समर्थ और शीघ्रबोध हो गया। उन्नीसवीं शताब्दीकी अन्तिम पचीसीमें जो युरोपके एक बड़े राज्यकी नीतिपर उसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा था, आज बीसवीं शताब्दीके पहले ही दशकमें उसी नीतिपर उसका सोलह आना अधिकार हो गया है। इन साधारण सिद्धान्तोंको मैंने मनुष्यकी उन्नतिके इतिहाससे निकालकर पाठकोंके सामने रक्खा है। इनकी कैसी ही परीक्षा की जाय ये बिलकुल खरे ठहरेंगे।

उनके खरे ठहरनेका कारण यह है कि जिस स्थितिको दरसानेका प्रयत्न मैंने किया है वह केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति नहीं है। वह स्थिति समस्त मनुष्योंके परस्पर व्यक्तिगत सम्बन्धकी है। जिन शक्तियोंके दृष्टान्त देनेका उद्योग किया गया है, संगठित और सुव्यवस्थित समाजका होना उन्हीं शक्तियोंसे संभव हुआ है।

दूसरा भाग

मानवी-प्रकृति और आचारनीतिक पक्ष

पहला अध्याय

युद्धपक्षमें मनोवैज्ञानिक विचार

युद्धके अर्थातिरिक्त उद्देश्य—आचारनीति तथा मनोविज्ञान सम्बन्धी—इन दलीलोंका महत्व—अंग्रेज, जर्म्मन और अमेरिकन टीकाकार—जीव-वैज्ञानिक वाद।

इस पुस्तकके प्रथम भागमें जो मामला पाठकोंके सामने पेश किया गया है उसपर प्रायः वही आपत्ति लायी जाती है कि राष्ट्रोंमें परस्पर युद्ध वस्तुतः आर्थिक उद्देश्योंसे होता ही नहीं—वरन् उसके कारण "मानसिक" हैं—[इस सम्बन्धमें 'मानसिक' शब्दको वहुत व्यापक अर्थमें प्रयोग किया जाता है]—और अधिकारोंके विषयमें मतविरोध होनेसे इनका प्रादुर्भाव हुआ है। अथवा यह कारण केवल अर्थातिरिक्त ही नहीं किन्तु बुद्ध्यतिरिक्त कारणोंसे उत्पन्न हुए हैं—जैसे अहंकार; स्पर्द्धा वा प्रतियोगिता; देशाभिमान; अग्रणी होने, संसारमें ऊँचे पदपर होने, शक्तिमान होने वा रोब रखनेकी महत्वाकांक्षा; हानि वा अपमानपर तुरन्त क्रुद्ध हो जाना; क्रोधी स्वभाव, झगड़े वा विरोधसे उपजी हुई किसी न किसी रीतिसे अपने स्पर्द्धीको दमन करनेकी अनुचित इच्छा; स्पर्द्धी राष्ट्रोंमें परस्पर स्वाभाविक विरोध; आवेगके आते ही द्वेषियोंमें परस्पर अन्ध-विरोध; और साधारणतः यह कि मनुष्य और राष्ट्र परस्पर लड़ते रहे और लड़ते रहेंगे और किसी कविकी उक्त्यनुसार उनका तो "पशुओंकी भांति लड़ाका स्वभाव" ही है।

इस पुस्तकके पहले संस्करणपर जो समालोचना हुई थी उसमें इन सबमें पहली बातका कुछ प्रकाश हो जाता है। समालोचक कहता है कि—

युद्धका कारण आध्यात्मिक है, आर्थिक नहीं है।.........बड़े बड़े संग्राम अधिकारविषयक विरोधोंसे हुए और धर्म्म और अधिकारके विरोधी विचार युद्धके भयंकर कारण हैं।......नीतिके भावोंपर ही लोग सबसे अधिक स्वार्थ-त्यागपर उद्यत रहते हैं। *

ऐसी ही टीका अमीराल महानकी भी है। †

इस पुस्तकके प्रथम भागमें जिन सिद्धान्तोंका आकार खड़ा किया गया है उनकी सत्यताको मानते हुए *The Spectator* (दर्शक) पत्र भी इसी तरह यह समझता है कि युद्धके मूल कारण-पर इन घटनाओंका गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ता—

"जैसे आदमी आदमी आपसमें झगड़ते हैं और पुलीस तथा न्यायालयकी हस्तक्षेपसीमाके भीतर ही भीतर पूरी लड़ाई लड़ जाते हैं, इसलिए नहीं कि इससे वह धनलाभ करेंगे किन्तु इसलिए कि क्रोध आया हुआ है, रुधिर उबल रहा है और अपने समझे हुए अधिकारकी रक्षाके लिए सामना करनेको खड़े हैं। अथवा जिन लोगोंने उनके विचारानुसार बुराई की है, उनसे बदला लेना चाहते हैं। उसी तरह राष्ट्र भी अवश्य लड़ेंगे चाहे यह बात कितनी ही प्रमाणित हो कि लड़नेवालोंको कुछ भी लाभ न होगा।......कभी वह स्वतंत्रता चाहते हैं और कभी बल, और कभी फैलने और राज्य करनेकी उत्कट कामनाएँ उन्हें धर दबाती हैं। उनके नायकों और कवियोंके कथनानुसार जब भावी प्रबल हो जाती है तब कभी कभी वह युद्धकी इच्छासे ही लड़नेको विवश हो जाते हैं। मनुष्योंको कभी तो बड़ी शुद्ध और महत्वकी बातोंपर और कभी कभी बुरे उद्देश्यों और निकम्मी बातोंपर भी लड़ते देखा गया है। किन्तु बही और नफ़े टोटेके हिसाबपर उन्हें कभी राजनीतिक युद्ध करते नहीं देखा गया।"

मैं इस उत्तरका यथाशक्ति पूरा आदर करूँगा और इसमेंसे एक बातको भी बिना विचार किये छोड़ न दूंगा और मैं यह भी समझता हूं कि आगेके पृष्ठोंमें उपर्युक्त प्रत्येक बातपर विचार किया गया है। किन्तु *The Spectator* पत्रसे भी कहीं बढ़ा चढ़ा पूरा शास्त्र ही पड़ा हुआ है। अभी जिस वादको उद्धृत किया गया है उसका भाव यह है कि यद्यपि यह सच है कि लोग अपने मतभेदका निबटारा बल और क्रोधद्वारा करते हैं और समझ बूझसे काम

---

* *Morning Post*, February 1, 1912.

† *North American Review*, March, 1912. देखो अक्तरण पृष्ठ ११।

नहीं लेते तथापि यह खेदका ही विषय है। किन्तु जिस शास्त्रकी ओर मेरा निर्देश है उसका तो हठवाद यह है कि मनुष्योंको लड़नेको उत्तेजित करना चाहिए और युद्ध ही झगड़ा निवटानेका उत्तम उपाय है। इन दार्शनिकोंका दावा है कि युद्ध राष्ट्रोंके लिए यम-नियमकी शिक्षाका अमूल्य उपाय है और शारीरिक बलप्रयोगके क्षेत्रसे मानवी युद्धको निकाल बाहर करना उचित नहीं है। उनकी यह धारणा है, और उनमें एकने कहा भी है, कि जिस समय मनुष्योंमें परस्परके बड़े बड़े युद्ध-व्यवसायोंका परिवर्त्तन धन-व्यवसायकी कोरी हुज्जतोंमें हो जायगा, उस समय मानवजाति सदाके लिए हीन हो जायगी।

इस वादविवादके बीचमें यह कह देना उचित जान पड़ता है कि यह मामला विद्वन्मंडलीमें परस्पर शास्त्रार्थतक समाप्त नहीं हो जाता किन्तु सर्वसाधारणका भी इससे सम्बन्ध है। युरोपमें भावी शुद्ध और वांछनीय दशा उत्पन्न करनेके लिए वहांकी राजनीतिक परम्पराको सुधारनेका प्रश्न जब कभी उपस्थित होता है, तभी यह बात आड़े आती है। जिस समय सीमाके दोनों ओरकी प्रजाके हृदयमें युद्ध-प्रेमसे ही युद्ध करनेका भाव वा उसकी सत्यताका विश्वास उत्पन्न हो जाता है, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय अवस्था अत्यन्त भयानक हो जाती है। इतना ही नहीं, वरन् इस विश्वाससे मनमें तुरन्त ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, कि जिन सद्गुणोंकी व्यक्तियोंकी अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारोंमें अत्यन्त आवश्यकता है, उन सद्गुणोंका—अर्थात् क्षमा और सहन-शीलता का—लोग निरादर करने लगते हैं। और यह भी प्रवृत्ति हो जाती है कि युद्धसे बचनेवाले राजनीतिक उपायोंके विरुद्ध लोग युद्ध करानेवाले उपायोंको ही शुद्ध सिद्ध करने लग जाते हैं। युरोपमें-अन्तर्राष्ट्रीय मेलके विपक्षमें और युद्धके पक्षमें जो हवा फैली हुई है उसके बलवान कारण—जीव-विज्ञान सम्बन्धी हों वा अन्य सम्बन्धके हों—यही वाद हैं। क्योंकि ध्यान रहे कि यह विचार विशेषतः एकदेशीय नहीं है। इंगलैंड, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी सब जगह इस विचारकी धूम है। यह युरोपीय मत है। किसीने इसी मतके विषयमें कहा है कि यह "युरोपका मनोदेव" है और अन्य कारणोंमें एक यह भी है जिससे यह निर्णीत होता है कि युरोपीय सभ्यता कैसी होनी चाहिए। अपने हालके एक ग्रंथ "Deutschland und

der nachste Krieg"में, एक प्रसिद्ध अश्वारोही सेनानायक तथा प्रचलित युक्तिकौशल और युद्धपाटवके प्रश्नोंपर प्रायः सबसे अधिक प्रतिष्ठित जर्म्मन लेखक, जेनरल (Bernhardi) वर्णहार्डीने एप्रिल १६१२में ही इस मतविशेषकी प्रसिद्ध पुनरावृत्तिकी है। उसमें उन्होंने खुल्लमखुल्ला कह डाला है कि जर्म्मनीको दूसरे राष्ट्रोंके स्वार्थ और अधिकारका विचार छोड़कर अपने प्रभुत्वको स्थापन करनेके लिए लड़ना अत्यन्तावश्यक है। एक अध्यायका तो नाम ही "युद्ध करना कर्त्तव्य है" रक्खा गया है। आप जर्म्मनीके शान्त्यान्दोलनको "विषमय" कहते हैं और इस मतका उपदेश करते हैं कि जर्म्मन राष्ट्रके धर्म्मकर्म्म बिना तलवारके पूरे नहीं हो सकते। "वैरीके आक्रमणका उत्तर दे देनेसे ही आत्मप्रतिपादनका कर्त्तव्य पूरा नहीं हो जाता। राज्यके अन्तर्गत जितने लोग हैं उनकी जीविका और उनका अभ्युदय जिन उपायोंसे सम्भव हो उन उपायोंको सुलभ कर देना भी उसमें समाविष्ट है।" ग्रन्थकर्त्ताका कहना है कि शान्तिपूर्वक नहीं किन्तु युद्धसे ही विजय करना उचित है। प्रशाके लिए शैलेशिया देश वैसा ही आदरणीय न होता यदि महायशस्क फ्रेड्रिकने उसे राष्ट्रोंकी पंचायतसे पाया होता। युद्धको बन्द कर देनेका प्रयत्न मनुष्यजातिके लिए केवल अयोग्य और अनीतिकर ही नहीं, वरन् मनुष्यके सबसे ऊँचे दरजेके स्वत्वको —अपने आदर्शरूप उद्देश्योंके लिए सांसारिक जीवनको निछावर कर देनेके अधिकारको—छीन लेना है। जर्म्मन राष्ट्रको यह समझना होगा कि "कूटनीतिका अन्तिम उद्देश्य शान्तिरक्षा न हो सकता है और न कभी होना चाहिए।"

इंगलैंडमें भी बल-वादको स्वीकृत करानेका प्रयत्न अंग्रेज लेखक कर रहे हैं। अमीराल महान और अध्यापक स्पेंसर विल्किंसन* जैसे एँग्लो-सक्सन ग्रन्थकारोंके लेखोंमें बहुत से ऐसे वाक्य पाये जाते हैं जिनमें या तो वर्णहार्डीके वाक्योंका पुनरुल्लेख है या बल-वादके साधारण मतकी लम्बी चौड़ी प्रशंसा है।

---

* See, notably, the article from Admiral Mahan, 'The Place of Power in International Relations," in the *North American Review* for January, 1912; and such books of Professor Wilkinson's as "The Great Alternative," 'Britain at Bay," "War and Policy."

जीवविज्ञान और विकासके नियमोंकी दुहाई देकर विल्किंसन जैसे ग्रन्थकारोंने बल-वादपर वैज्ञानिक रंग भी चढ़ा दिया है।

यह बहस की जाती है कि प्राचीन कालमें युद्ध और प्रयासद्वारा सबसे योग्यका बच जाना ही मनुष्यकी वृद्धिका एकमात्र नियम था और यह कि ऐसे प्रयासमें ठीक ठीक वही बच गये हैं जिनमें युद्धकी शक्ति थी और उसके लिए उद्यत रहते थे। इस तरह मनुष्यमें लड़नेकी प्रवृत्ति निरा मानवी दोष नहीं है प्रत्युत आत्म-रक्षा-बुद्धिका अंश है जिसका उद्भव जीव-विज्ञानके गभीर नियमों-से, राष्ट्रोंके जीवन-प्रयाससे हुआ है।

एस. आर. स्टैनमेट्सने अपने ग्रन्थ (Philosophie des Krieges) "युद्धशास्त्रमें" इस पक्षपर लिखा है। आपका कहना है कि परमात्मा राष्ट्रोंको जांचता है और युद्धको ही उसने परीक्षा-का उपाय बनाया है। राज्यका यह अत्यन्त आवश्यक रूप है और यही एक काम है जिसमें सारी प्रजा अपनी सारी शक्तियोंको एक साथ ही एक ही उद्देश्यपर लगा सकती है। सारे सद्गुणोंके समूहरूपी शक्तिसे ही विजय संभव है। ऐसी कोई हार ही नहीं जिसका कारण कोई अवगुण, कोई पाप वा मनोदौर्बल्य न हो। निश्छलता, मेल, चीमड़ापन, वीरता, हृदयकी शुद्धता, विद्या, आविष्कार, मितव्ययता, सम्पत्ति, स्वास्थ्य और बल, निदान कोई भी आचार वा बुद्धि-सम्बन्धी सद्गुण ऐसा नहीं है जो यह सूचना न दे कि परमात्मा कब "अपने न्यायासनपर बैठ एक राष्ट्रको दूसरे-से लड़ाता है"। डाक्टर स्टैनमेट्स इस बातपर विश्वास नहीं करते कि कालचक्रमें पड़कर परिणामका रूप खड़ा करनेमें दैवयोग भी सहायक होता है।

यह बहस की जाती है कि अन्तर्राष्ट्रीय विद्वेष युयुत्सा और स्पर्द्धाके आवश्यक तत्वको उत्तेजनामात्र देता है और यद्यपि क्षुधा-दिक अन्य नैसर्गिक स्वभावोंकी भांति इसका कोई कोई रूप बहुत भद्दा होता है तथापि जहांतक यह जीवन-रक्षाका उपाय है वहांतक यह प्रकृति-यंत्रका एक अंश है। दूसरे राष्ट्रोंके मित्रभावसे विश्वास दिलानेपर झटसे मान लेनेका स्वभाव और अविश्वा-सका अत्यन्त अभाव, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंमें—एक तरहसे

*ग्रेशम-सूत्रानुसार—दयाशील और हितैषी राष्ट्रोंका क्रमशः निर्मूलन और निष्ठुर और पशुवत् राष्ट्रोंकी दृढ़ताका कारण होगा। यदि दूसरे राष्ट्रोंके साथ मैत्री और सद्भावसे हम आत्मरक्षाके उपायोंमें ढीले पड़ जायँ, तो इस ढिलाईमें युद्ध-प्रिय जातियोंको हमपर चढ़ाई करनेका अवसर मिलेगा; अतः अत्यन्त सभ्य जातियोंको मिटा देनेकी प्रवृत्ति हो जायगी। अतएव राष्ट्रोंमें परस्पर विद्वेष और वैर इस मनोदौर्बल्यका शोधक है और इस हदतक यह कैसा ही कुरूप जचे इसका काम उपयोगिताका है—जिस प्रकार झाड़ू देनेवाला कुरूप तो दिखता है किन्तु बड़ा उपयोगी है। लड़ जानेके लिए मनोभव उत्तेजना ऐसी गभीर है कि यदि उसकानेवाले आर्थिक और भौतिक उद्देश्योंकी न चले तो झगड़नेके लिए आर्थिकके सिवाय और भी कारण उठ खड़े होंगे।

एक अमेरिकन सैनिक जेनरल होमर लीने† अपने हालके छपे ग्रन्थमें कुछ ऐसा ही मत प्रकाशित किया है। ग्रन्थकारका यह दावा है कि इतना ही नहीं कि युद्ध अनिवार्य्य है किन्तु इसे रोकने-का कोई विधिपूर्वक प्रयत्न प्रकृतिके एक सर्वव्यापी नियममें मूर्खता-पूर्वक छेड़छाड़ करना है।

राष्ट्रीय सत्ताएं अपने जन्म, कर्म, मरण, सबमें उन्हीं जीवन-प्रयास वा जीवि-तावशेषवाले नियमोंके वशीभूत हैं, जो—वनस्पति हो पशु हो वा मनुष्य हो—प्राणिमात्रपर शासन करते हैं; जहांतक जीवन वा समयका सम्बन्ध है यह नियम व्यापक हैं। कारणरूप होने वा पूर्णताको पहुँचानेमें दृढ़ तथा परिवर्त्तन-रहित हैं। किन्तु जहांतक किसी राष्ट्रविशेषमें इन नियमोंका ज्ञान और इनका पालन यथा-वत् वा अयथावत् होता है वहांतक उसे दीर्घजीवी वा अल्पजीवी करनेको नियम बदलते जाने पड़ते हैं। इन्हें ध्वस्त करने, कम करने, घुमादेने, धोखादेने, अस्वीकार करने, वा इनकी हँसी उड़ाने और इन्हें तोड़ देनेकी मूर्खता घमंड की बात है। आजतक ऐसा नहीं हुआ कि ऐसे घमंडके प्रयत्न किये जायँ और उसका परिणाम

---

* पाश्चात्य अर्थशास्त्रमें ग्रेशमका एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि "जब हाटमें खोटे सिक्के चलने लगते हैं तो खरे सिक्कोंका प्रचार घटने लगता है और शीघ्र ही खरे सिक्के हाट बाहर हो जाते हैं।" (अनुवादक)

† "The Valour of Ignorance"; Harpers.

दुःखद और घातक न हुआ हो। तिसपर भी मनुष्य इसी प्रयत्नमें सदैव लगा रहता है।

सिद्धान्तपक्षमें अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत प्राकृतिक नियमोंकी अदम्यताको नहीं मानती और उनकी जगह बाज़ीगरों वा खिलाड़ियोंके मंत्रोंको स्थान देना चाहती है अथवा कनूटके* घमंडका अनुकरण करती हुई जीवन-समुद्रके किनारे बैठकर उसके ज्वारभाटेको रुक जानेकी आज्ञा दे रही है।

राजनीतिक सत्ताओंकी स्थिति जिन नैसर्गिक नियमोंपर निर्भर है उनकी जगह अन्तर्राष्ट्रीय पंचायतकी कल्पना उन नियमोंकी अवज्ञासे और उनके उचित प्रयोगकी अनभिज्ञतासे ही उत्पन्न नहीं हुई है किन्तु युद्ध, उसके कारणों और उसके वास्तविक अभिप्रायके प्रति पूरा भ्रम भी उस कल्पनाका कारण है।"

एक और अमेरिकन सैनिक जेनरल जान जे. पी. स्टोरीने इस ग्रन्थकी प्रस्तावनामें जेनरल लीके पक्षका यों समर्थन किया है—

कुछ काल्पनिकोंको यह स्वप्न दिख रहा होगा कि सभ्यताके बढ़ते बढ़ते अन्ततः युद्ध और उसकी प्रचंडता मिट जायगी। सभ्यताने मनुष्यके स्वभावको नहीं बदला है। मनुष्यका स्वभाव युद्धको अनिवार्य्य बना रहा है। जबतक मनुष्यका स्वभाव न बदलेगा, तबतक शस्त्रास्त्र युद्धका संसारसे लोप न होगा।

हेगकी पहली शान्तिसभामें जर्म्मनीके एक प्रतिनिधि, धर्म्म-शास्त्री अध्यापक फ़न स्टेंगेलकी पुस्तक Weltstadt und Friedensproblem **में एक अध्याय "मनुष्य जातिकी उन्नतिमें युद्धका महत्व" भी है। उसमें अध्यापक महाशय यों लिखते हैं—**

उन्नतिको रोकनेके बदले युद्धने बहुधा उसके मार्गको प्रशस्त कर दिया है। अपने अनेक युद्धोंके होते हुए नहीं किन्तु उनके होनेसे ही एथंस और रोमने अपनेको

---

* ग्यारहवीं शताब्दीके आरंभमें जब इंगलैंडपर डेनोंका राज था उस समय कनूट एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ। एक दिन समुद्रतटपर बैठे बैठे खुशामदियोंकी बातोंपर कुढ़कर पूछा "क्या समुद्र भी मेरी आज्ञा मानेगा?" खुशामदियोंने कहा "धर्म्मावतार, अवश्य मानेगा"। इसपर राजाने समुद्रसे कहा कि "अपनी लहरोंको हमारे पास न आने दे।" लहरोंके आनेका समय था किन्तु राजा दरबारियों सहित डटा रहा। जब सब भींग गये तब राजाने उपदेश दिया कि झूठ खुशामद नहीं करनी चाहिए, राजा भी मनुष्य ही है। सब राजाओंका राजा परमात्मा ही सबको आज्ञा कर सकता है और उसके ही सब वशवर्त्ती हैं। (अनुवादक)

सभ्यताके शिखरपर पहुँचाया था। जर्म्मनी और इटली सरीखे बड़े बड़े राज्य अपने अपने लोहेसे और अपने अपने रुधिर बहाकर ही राष्ट्रसूत्रमें बँध गये।

आंधीसे हवा शुद्ध हो जाती है और शक्तिहीन पेड़ गिर जाते हैं और दृढ़मूल-वाले बलवान पेड़ बच रहते हैं। युद्धसे राष्ट्रकी राजनीतिक, शारीरिक और मानसिक योग्यताकी परीक्षा हो जाती है। जिस राज्यमें सड़ा और घुना बहुत है कुछ दिनतक उसका शान्तिपूर्वक फैलना संभव है, किन्तु युद्धमें उसका दौर्बल्य खुल जाता है।

जर्म्मनीने जो युद्धके लिए तैयारियां की हैं उनसे कोई आर्थिक संकट नहीं हुआ, प्रत्युत अपूर्व आर्थिक वृद्धि हुई जिसका निस्सन्देह कारण फ्रांससे हमारी स्पष्ट आपेक्षिक उत्तमता है। ऐश आराम, मोटरकार आदि व्यर्थ व्यसनमें अपव्यय करनेकी अपेक्षा सैन्यबल बढ़ाने और लड़ाऊ जहाज बनानेमें धन लगाना अधिक उपयोगी है।

सेनानी मोल्टकेने ब्लंश्लीके नाम जो प्रसिद्ध पत्र लिखा था उसमें भी ऐसा ही मत प्रकट किया है। आपका कहना है कि "सदैवके लिए शान्ति स्वप्नमात्र है और वह स्वप्न भी कुछ बढ़िया नहीं है। ईश्वरने युद्धको संसारकी सुव्यवस्थाका एक तत्व बनाया है। युद्धमें मनुष्यके उत्तमोत्तम सद्गुण बढ़ते हैं। बिना युद्धके संसारका अधःपतन हो जायगा और नास्तिकताके दलदलमें फँसकर उसका लोप हो जायगा।*

जिस समय मोल्टके इस भावको प्रकट कर रहे थे, उसी समय ठीक ऐसे ही भावोंका प्रकाश अरनेस्ट रेनन जैसे विख्यात फ्रेंच लेखक भी कर रहे थे। आप अपने ग्रंथ "La Reforme Intellectuelle et Morale" में यों लिखते हैं—

यदि राज्योंकी दुर्बुद्धि, असावधानी, आलस्य और अदूर-दर्शितासे बहुधा परस्पर संघर्षण न हो जाया करता, तो मनुष्य जातिकी कल्पनातीत अवनति हो जाती। युद्ध उन्नतिका एक आवश्यक कारण है। युद्ध वह डंक है जो देशको आलस्य-निद्रामें नहीं पड़ने देता और सन्तुष्ट माध्यमिक लोगोंको उदासीनतासे जागृत रखता है। व्यवसाय और रगड़ेसे ही मनुष्यकी स्थिति है जिस घड़ी

* इसी तरहके स्पष्टवादके लिए देखो Ratzenhofer's "Die Sociologische Erkenntniss," pp. 233, 234. Leipzig: Brockhaus, 1898.

† Paris: Levy, 1871, p. 111.

रोमन सरीखा शान्तिसम्पन्न साम्राज्य मनुष्यको मिल जायगा और उसके कोई बाहरी वैरी न रह जायँगे, उस घड़ी मनुष्यके सदाचार और व्यवसायात्मिका बुद्धिको बड़ी जोखिममें जानो।"

हमलोगोंके ही समयमें भूतपूर्व-राष्ट्रपति रूसवल्टकी सार्वजनिक वक्तृताओंमें जिस नीतिदर्शनका प्रकाश हुआ, वह उपर्युक्त बातोंसे कुछ बहुत विभिन्न नहीं है। मैं यों ही कहीं कहींसे उनके व्याख्यान और लेखोंसे कुछ वाक्य उद्धृत करता हूं—

"जिस तरहसे हम अपमान सह जानेवाले पुरुषसे घृणा करते हैं उसी तरह हम अपमान सहनेवाले राष्ट्रसे भी घृणा करते हैं। जो बात एक मनुष्यपर लग जाती है, वह राष्ट्रपर भी लागू होनी चाहिए।" *

संसारमें हमें बड़े उच्च पात्रका नाट्य करना चाहिए और विशेषतः......... ऐसे शौर्य और वीरताके कर्म्म करने चाहिएं जो और लाभोंके अतिरिक्त राष्ट्रीय प्रसिद्धि और प्रतिष्ठाका कारण हो।"

"हम कातर शान्तिके चाहनेवाले मनुष्यको आदरकी दृष्टिसे नहीं देखते।"

"युद्धसे ही वीरताके वह गुण आते हैं जो वास्तविक जीवनके कठिन झगड़ोंमें विजय पानेके लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।"

"इस संसारमें जिस जातिको सबसे अलग, झगड़ोंसे रहित, आरामसे रहनेका स्वभाव पड़ जाता है अन्तमें उसे उन जातियोंसे जिनकी वीरता साहस और पौरुषका नाश नहीं हुआ है नीचा देखना पड़ता है। †

अध्यापक विलियम जेम्स इन सब बातोंको समष्टिरूपसे इन वाक्योंमें वर्णन करते हैं—

युद्धपक्षका यह कहना अवश्य ठीक है कि समरोचित सद्गुण यद्यपि पहले पहल युद्धसे ही प्राप्त हुए, तब भी मनुष्य जातिके लिए परमोत्तम और चिरस्थायी सम्पत्ति हैं। देशाभिमान और उच्चाभिलाषा जो सैनिक रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं, अन्ततः अधिक व्यापक और स्थायी प्रतियोगितावाली उत्कट इच्छाके रूप-विशेष हैं।......शान्तिपक्ष सैनिक पक्षके लोगोंमेंसे एकको भी अपनी ओर मिलानेमें सफल-मनोरथ नहीं होता। सैनिकपक्ष स्वीकार करता है कि युद्धमें

* व्याख्यान Stationers' Hall, June 6, 1910.

† The Strenuous Life". Century Press.

पाशववृत्ति क्रूरता अपव्यय आदि अवश्य हैं, किन्तु यह केवल सत्यका आधा ही रूप हुआ। उसका यही कहना है कि युद्ध इस योग्य है कि उसके लिए मनुष्य इतनी हानि और उठावे। सम्पूर्ण मानव प्रकृतिपर विचार करके, उसके अधिक दुर्बल और कापुरुष आत्मासे उसे ही बचानेको युद्ध ही सबसे उत्तम उपाय है और शान्ति व्यवस्थासे मनुष्यका काम चल नहीं सकता।......सेनापक्ष साहसिकता और शौर्यके आदर्शोंका रक्षक है और बिना बल-वीर्य्यका मनुष्यजीवन घृणास्पद होता है।......मेरे विचारमें सैनिक लेखोंका प्राण यही सहज भाव है। सेना-पक्षके ग्रन्थकार, जहांतक मुझे मालूम है निरपवाद सबके सब, अपने विषयपर ऊँचे दरजेके अपरोक्ष ज्ञानका रंग चढ़ाते हैं और युद्धको समाज और जीव-विज्ञानकी दृष्टिसे अत्यन्तावश्यक समझते हैं।......युद्धप्रेमको हमारे पूर्व पुरुषोंने हमारे रग रगमें पैदा कर दिया है और हजारों बरसकी शान्ति भी उसे हमारे स्वभावसे दूर नहीं कर सकती।" *McClure's Magazine*, August, 1910.

प्रसिद्ध अंग्रेज पादरियोंतकने यही मत प्रकट किया है। उप-द्रवी और अत्याचारी शासकोंके विरुद्ध होनेसे क्रीमियन युद्धको समुचित कहकर उसका पक्ष समर्थन करते हुए, चार्ल्स किंग्स्लेने यों लिखा था कि "प्रभु यीशु खीष्ट शान्तिके ही राजा नहीं, किन्तु युद्धके भी राजा हैं, जनसमुदायके स्वामी, सेनाओंके ईश्वर हैं, और जो कोई उपद्रवियों और अत्याचारियोंके विरुद्ध न्याय्य युद्धमें लड़ता है वह खीष्टपक्षमें लड़ता है और खीष्ट उसकी ओरसे लड़ता है। खीष्ट उसका कप्तान, उसका नायक है और उसको इससे उत्तम कोई नौकरी नहीं मिल सकती। यह निश्चय रक्खो क्योंकि बैबिल इसके लिए प्रमाण है।" *

पादरी निउवोल्ट, पादरी फर्रार और अर्मघके महन्त खीष्ट-धर्म्माध्यक्षने भी जो कुछ लिखा है उपर्य्युक्तसे बहुत भिन्न नहीं है।

सम्पूर्ण विषयक सारका यों संग्रह किया जा सकता है—

---

* "The Bigelow Papers" के पहले अंग्रेजी संस्करणकी भूमिकामें टामस ह्यूज (Thomas Hughes) क्रीमियन युद्धके विरोधियोंको "अभिमानी और हानिकारक गुटवाले" कहते हैं। उनका कथन है कि "इन्होंने अंग्रेजोंमें शान्तिके लिए हुल्लड़ मचा रक्खा है।" इस सम्बन्धमें (Hobson) हाबसनकी "Psychology of Jingoism" (Grant Richards), p. 52 भी देखने योग्य है।

(१) अधिकारके विरुद्ध विचारोंपर जातियां लड़ जाती हैं; यह मनुष्योंकी आचारनीतिका झगड़ा है।

(२) लोग नीच श्रेणीके बुद्धयतिरिक्त कारणोंसे लड़ जाते हैं; अहंकार, स्पर्द्धा, देशाभिमान, संसारमें उच्चपदकी अभिलाषा या अपनेसे भिन्न लोगोंसे द्वेषमात्र, या परस्पर द्वेषी मनुष्योंकी भेड़ियाधसान लड़ाई आदि कारणोंसे लड़ जाते हैं।

(३) ये कारण युद्धको न्याय्य सिद्ध करते हैं, या अनिवार्य्य कर देते हैं। पहली बात तो स्वयं सराहनीय है और दूसरी इससे अनिवार्य्य है कि जो लोग लड़नेको उद्यत रहते हैं और लड़नेमें सबसे अधिक व्यवसाय दिखाते हैं वे शान्त प्रवृत्तिवालोंको निकाल बाहर करते हैं और इस तरह युयुत्सु जाति ही स्थायी-रूपसे बच रहती है। "लड़ाकी जातियां पृथिवीकी उत्तराधिका-रिणी होती हैं।"

या, अनुमानकी रीतिसे यों कहना चाहिए—जब कि परस्परका रगड़ा वा प्रयास ही जीवनका नियम है और जैसे शरीरधारियोंका वैसे ही राष्ट्रोंका जीवन उसपर निर्भर है तब रगड़ेमें पूरी शक्ति लगानेकी प्रवृत्ति अर्थात् युयुत्सा, और रगड़ेको अत्यन्त घोररूपमें स्वीकार कर लेनेकी मुस्तैदी—उन व्यक्तियोंका अवश्यम्भावी विशेष गुण होना चाहिए जो गहरी लड़ाइयोंमें सफल-मनोरथ होते हैं। यही गहिरा जीववैज्ञानिक नियम है जिससे यह बात असम्भव हो जाती है कि मनुष्यजाति मारनेवालेके सामने दूसरा गालभी फेर देने-वाले उपदेशको ग्रहण कर सके या मनुष्यका स्वभाव इस उपदेशके आदर्शपर कभी चल सके क्योंकि यदि ऐसा हो तो उत्तम मनुष्य और राष्ट्र—जो सबसे अधिक दयालु और हितैषी स्वभावके हों —अत्यन्त क्रूर पशुवृत्तिवालोंके हाथ सहज ही पड़ जायँ, और सबसे कम क्रूर और निर्दय मनुष्यों और राष्ट्रोंका मलियामेट हो जाय और बच रहनेवालोंमें सबसे घोर स्वभावके रह जायँ, और हर तरहपर अन्तमें लड़ाकेपनके ही गुण बच रहें। इस कारणसे ही लड़नेकी मुस्तैदी—जिसका आश्रय लागडाट, घमंड, लड़ाका-पन, कट्टरपन, चीमड़ापन, साहस आदि गुण हैं, और जिन्हें हम पुरुषोचित गुण समझते हैं—हर तरहपर मनुष्यजातिके साथ ही साथ बच रहनी चाहिए। और जब कि शुद्ध पाशव वृत्तिद्वारा

दबाये जानेसे ये गुण मनुष्यको बचाते हैं, तो सबसे उच्च श्रेणीकी आचारनीतिके ये आवश्यक अंश हैं।

ये सिद्धान्त यद्यपि देखनेमें बड़े दृढ़ प्रतीत होते हैं तथापि कुछ सत्य बातोंकी बड़ी भद्दी नासमझीसे और विशेषतः एक जीववैज्ञानिक दृष्टान्तके बड़े भद्दे दुष्प्रयोगसे उत्पन्न हुए हैं।

दूसरा अध्याय

शान्तिपक्षमें मनोवैज्ञानिक विचार

युद्ध-पक्षमें प्रतिज्ञान्तर—आधिभौतिक और आध्यात्मिक आदर्शोंमें भेदका घटता जाना—युद्धके युद्धयतिरिक्त कारण—जीववैज्ञानिक समानताकी मिथ्या कल्पना—मनुष्यकी रगड़ा-रगड़ीका वास्तविक नियम; रगड़ा-रगड़ी प्रकृतिसे है, मनुष्योंमें परस्पर नहीं हैं—मनुष्यकी उन्नतिका स्थूल वर्णन और उसमें सबसे प्रधान कारण—शारीरिक-बल-प्रयोगको मिटा देनेमें क्रमशः उन्नति—सीमाके दोनों ओरके अधिवासियोंमें परस्पर सहकारिता और उसका मानसिक प्रभाव—जातियोंको सीमाबद्ध करना असंभव है—ऐसी सीमाएं अनिवार्य्यरूपसे बढ़ती रहती हैं—राज्यकी एककल्पनाका टूट जाना—मनुष्योंमें वास्तविक झगड़े राज्यसीमाके अनुसार नहीं होते।

गत कई वरसोंसे जिन लोगोंने शान्तिपक्षकी वहसपर कुछ भी ध्यान दिया है उनके देखनेमें यह बात भी आयी होगी कि उसके प्रतिपक्षी अद्भुत रीतिसे अपनी वाद-स्थितिको, प्रतिज्ञाको, बदलते रहे हैं। अभी हालकी ही बात है कि शान्तिवादको बहुधा आधिभौतिक हेतुओंको छोड़—आचारनीतिपर ही निर्भर करके यों समालोचना की जाती थी कि शान्तिवादी एकदम भावप्रधान, एवं रसप्रधान हैं और इस रगड़ा-रगड़ीके कठिन संसारकी प्रबल आवश्यकताओंके प्रति अन्धे हो रहे हैं और केवल भावविशिष्ट हठधर्म्मीसे मनुष्य-स्वभावसे अनहोनी बात, अर्थात् पारमार्थिक स्वार्थत्याग, चाहते हैं। हमें यह समझाया जाता था कि शान्ति मनुष्यके लिए आचारनीतिका बड़ा ऊंचा आदर्श भले ही हो किन्तु मनुष्यके लाभ और नीच प्रवृत्तियोंसे उस आदर्शकी प्राप्तिमें रुकावट सर्वदा बनी ही रहेगी। इस पुस्तकके प्रथम भागके दूसरे अध्यायमें जो अवतरण दिये गये हैं, मेरी समझमें उनसे यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि जो लोग युद्धको मनुष्यके जीवन-प्रयासका अनिवार्य्य अंग बताकर उसका पक्ष लेते थे हालमें ही उन सब लोगोंका अधिकतासे यही विचार था।

अब दो चार बरससे युद्धका पक्ष सम्पूर्ण भिन्न युक्तियोंसे सिद्ध किया जाने लगा है। अब शान्त्यान्दोलनके प्रतिपक्षी कहते हैं

कि शान्तिमें मनुष्यके भौतिक स्वार्थ भले ही सम्मिलित हों किन्तु मनुष्यजातिका आध्यात्मिक स्वभाव उसकी प्राप्तिमें सदैव बाधक रहेगा ! शान्तिवादपर अत्यन्त भावात्मक और रसप्रधान होनेकी लांछना तो दूर रही, अब उलटे उसे अत्यन्त आधिभौतिक और पदार्थवादित्वका दोष दिया जाने लगा !

केवल हँसी उड़ानेके लिए मैं इस ओर पाठकोंका ध्यान नहीं दिलाता । किन्तु जो लोग यह युक्ति निकालते हैं कि आचारनीतिक उद्देश्यसे युद्ध होता है, मैं उनके प्रत्येक भावपर पूरा विचार करना चाहता हूँ, वास्तवमें मैंने कभी यह पक्ष नहीं लिया है कि शान्तिवादीकी अपेक्षा युद्ध-वादी आचारनीतिमें कुछ कम है अथवा यह कि शान्तिवाले आदर्शके आचारनीतिक महत्वको बढ़ानेसे बहुत कुछ लाभ होगा। शान्तिपक्षके पोषणमें इस बातको सैकड़ों बार मान लिया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें अनेक कठिनाइयोंको दूर करनेके लिए जिस बातकी आवश्यकता है वह आचारनीतिक शुद्धतर भाव, अधिक दया आदि है, किन्तु इसके मान लेनेमें लोग सत्यको भूल जाते हैं कि देशभक्तिके सम्बन्धमें जो सदाचारपक्षसे युद्ध करनेका भाव है वह मनुष्यके रणसे-घृणावाले भावके समान ही दृढ़ होता है। देशभक्त मानता है कि युद्धसे कष्ट होगा किन्तु उसका यह आग्रह है कि देशहितके लिए मनुष्यको दुःख उठानेको तैयार रहना चाहिए। जैसा कि इस पुस्तकके पहले अध्यायमें दरसाया गया है। शान्तिवादीका मनुष्यजातिसे दयाकी दुहाई देना इसलिए निष्फल हो जाता है कि बल-वादी भी दुहाई देता है कि मैं भी मनुष्यजातिके हितके लिए सेवामें निरत हूँ और कष्ट उठा रहा हूँ।

युद्ध-वादीने अपनी युक्तियोंको जो कदाचित् बेजाने ही बदल दिया है उसपर मैं जो ध्यान दिलाता हूँ इससे मैं पाठकोंको यह सुझा देना चाहता हूँ कि गत बीस तीस बरसोंमें जो दशा-परिवर्त्तन होता रहा है उससे युद्धपक्षमें अर्थवाद प्रायः असंगत हो गया, इससे ही युद्धवादियोंको लाचार हो अपनी युक्तियोंमें परिवर्त्तन करना पड़ा। और मैं यह भी नहीं कहता कि युद्धपक्षमें भावात्मक युक्तियोंका प्रयोग नयी बात है—गत अध्यायके

अवतरणोंसे ही वह स्पष्ट है—किन्तु मेरा कहना केवल यह है कि अब सदाचारपक्षपर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा है।

इसका एक उदाहरण यह है कि इस ग्रन्थपर विचार करते हुए अमीराल महान *North American Review*, March, 1912में यों लिखते हैं—

जो लोग रणसामग्री रखने वा बढ़ानेके पक्षमें हैं उनके मनमें यह बात नहीं है कि उसका मूल आर्थिक लाभ इसीमें है कि पड़ोसी राज्यकी रणसामग्री हम छीन सकें अथवा हमारी छीननेको वैरी चढ़ आवे तो उसका सामना कर सकें।...... इस पुस्तककी मूल प्रतिज्ञा ही भ्रममूलक है। युद्धकी स्वयं लाभ-हीनताके विषयमें राष्ट्रोंको कोई भ्रम नहीं है।......इस ग्रन्थका सम्पूर्ण विचार स्वयं एक भ्रम है जो मनुष्यकी प्रकृतिको ठीक ठीक न समझनेसे उत्पन्न हुआ है। संसारको अकेले स्वार्थसे ही शासित समझना अस्तित्वहीन संसारमें रहना है—ऐसे संसारमें, जो कल्पनामात्र है, बल्कि ऐसी कल्पनाके वशीभूत है जिसे मनुष्यजातिकी निरन्तर लुभानेवाली अन्य कल्पनाओंकी अपेक्षा अत्यन्त क्षुद्र कहना अनुचित न होगा।

तथापि, अभी चार बरस भी न हुए होंगे कि अमीराल महानने स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिके सामान्य तत्त्वोंका स्थूलरूपसे यों वर्णन किया था—

"वाशिंगटनने जिस समय यह शब्द लिखे थे तब जैसे सत्य थे वैसे ही अब भी सत्य बने हैं और आगे भी सदैव बने रहेंगे कि स्वार्थके सिवाय और किसी उद्देश्यपर राष्ट्रोंके निरन्तर दृढ़तापूर्वक आचरण करनेकी आशा व्यर्थ है। (Realism) 'वस्तुस्वातंत्र्यवादके' नामसे यही सिद्धान्त जर्म्मन शासननीतिका प्रसिद्ध और मान्य उद्देश है। इससे यह बात प्रत्यक्ष है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वार्थका अनुशीलन ही राजपुरुषोंकी गंभीर और दूरदर्शी नीतिका एकमात्र आधार है।...

"'जेहि बल होइ, सो लेइ' वाला लूटमारका भाव बना रहता है और शारीरिक बलके अभावमें केवल शुद्ध आचारनीतिका बल काम चलानेको पर्य्याप्त नहीं है। गवर्नमेंट संस्थामात्र है और संस्थामें धर्म्माधर्म्म विचार करनेवाली आत्मा नहीं है,......गवर्नमेंटोंको अपने ही आश्रितों, अपनी ही प्रजाओंके प्रतिस्पर्द्धी स्वार्थोंको सबसे आगे रखना चाहिए। प्रभुता राष्ट्रको नयी हाटें खोजनेको बाध्य कर देती है, और जहां संभव होता है अपने लाभके लिए अधिक बलद्वारा उनपर शासन करनेको बाध्य करती है, जिसका अभिप्राय अन्ततः स्वत्वाधिकार ही है,......जो

तर्क-शृङ्खलामें एक अत्यावश्यक ग्रन्थि है—यथा, उद्योग, हाट, अधिकार और नौ-सेना-व्यवस्था।" *

इसमें सन्देह नहीं कि अमीराल महान इस छिद्रान्वेषणके डरसे पहलेसे ही मनुष्य-स्वभावकी जटिलताकी दुहाई देते हैं जिससे किसीको इनकार नहीं है। कहते हैं कि "पीतल तांवा है, और पीतल जस्ता है" किन्तु इस बातको बिलकुल भूल जाते हैं कि यदि तांबा ही अलग कर लें वा जस्ता ही न मिलने दें तो पीतल होगा ही नहीं। मेरा यह कथन कभी नहीं है कि एकमात्र संकीर्ण उद्देश्से ही सारे अन्तर्राष्ट्रीय कामोंकी व्याख्या हो सकती है, वरन् मेरा कथन यह अवश्य है कि यदि एक अंगके प्रभावमें गभीर परिवर्त्तन करना संभव है—और वह अंग भी ऐसा आवश्यक कि स्वयं अमीराल महानने अपने ग्रन्थमें उसपर बड़ा ज़ोर दिया है—तो अन्तर्राष्ट्रीयताकी प्रकृति और रचनामें गभीर परिवर्त्तन संभव है। इस तरह, यदि इस ग्रन्थके सिद्धान्त सचमुच उपर्युद्धृत समालोचनानुसार संकीर्ण आर्थिक ही मान लिये जायँ, तब भी अमीराल महानके ही कथनानुसार अन्तर्राष्ट्रीय शासननीतिके प्रश्नोंपर उनका एक गभीर प्रभाव पड़ना आवश्यक है।

जिन सिद्धान्तोंकी व्याख्या इस पुस्तकमें की गयी है उनमें मानव प्रवृत्तियोंकी ऐसी कोई संकीर्ण पूर्व-कल्पना नहीं की गयी। केवल इतना ही नहीं, प्रत्युत यह समझ लेना आवश्यक है कि जैसे अमीराल महान स्वार्थके प्रश्नको एकदम सदाचारनीति और अधिकारके प्रश्नसे अलग कर देना चाहते हैं वैसा संभव नहीं है, क्योंकि अधिकार और सदाचारसे ही साधारण स्वार्थकी वृद्धि तथा रक्षा होती है।

साधारणतः यह समझा जाता है कि सम्पूर्ण जाति कोरे धन वा स्वार्थसे ही किसी काममें प्रवृत्त नहीं होती। उसके प्रवर्त्तक धन वा स्वार्थसे भी ऊँचे उद्देश्य होते हैं। जब हम किसी राष्ट्रके धनकी वा किसी जातिके स्वार्थकी चर्चा करते हैं तब हमारा आशय क्या होता है? हमारा अभिप्राय यह होता है—और ऐसे वादानुवादमें और कोई अभिप्राय हो नहीं सकता—कि सर्वसाधारणके

---

* The Interests of America in International Conditions." London: Sampson Low, 1908.

लिए दशा अच्छी हो जाय, पूर्णतम सुखमय जीवन हो, दरिद्र और तंगी कम हो जाय या एकदम दूर हो जाय, समस्त प्रजा अच्छे घरोंमें रहे, अच्छा पहने, अच्छा खाय, और रोग और बुढ़ापेके लिए भी बन्दोवस्त कर सके, दीर्घजीवी हो सुखसे काटे—और इतना ही नहीं वरन् शिक्षा भी अच्छी हो, अनवरत श्रम और अवकाशके सदुपयोगसे चरित्र भी सुनियमित हो जाय, और साधारण सामाजिक परिस्थिति ऐसी हो जाय जिसमें—कुछ थोड़े से ही लोगोंमें नहीं वरन् बहुत से लोगोंमें—कुटुम्बप्रेम, व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, मान, शिष्टाचार और जीवनके अन्य शिष्ट-सौख्य संभव हो जायं।

अब प्रश्न यह है कि राष्ट्रीयनीतिके रूपमें यह सब प्रोत्साहक उद्देश्य हैं या नहीं? तब भी जातियोंके सम्बन्धमें यह शुद्ध "स्वार्थ" ही कहावेंगे—क्योंकि इन सबका सम्बन्ध आर्थिक प्रश्नोंसे है, धनसे है। क्या अमीराल महान हमें अपना यही अभिप्राय समझाना चाहते हैं कि जिस तरह स्वार्थी व्यक्तिकी चर्चामें उसकी निन्दा की जाती है उसी तरह इन उद्योगोंकी राष्ट्र-सम्बन्धी चर्चामें भी वही निन्दा की जायगी? क्या हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि वर्त्तमानकालके बड़े बड़े आन्दोलनोंके नमूने—जैसे (Socialism) समष्टिवाद, (Trades Unionism) व्यापार-गोष्ठीवाद, (Syndicalism) मूलधन-व्यवसायवाद, बीमा-नियम, भूमि सम्बन्धी आईन, बुढ़ापेकी वृत्ति, दान-व्यवस्था, शिक्षा-सुधार आदि—जिन सबका आर्थिक प्रश्नोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध है—यह सब ऐसे काम नहीं हैं जिनमें खिष्टीय संसारकी सारी कर्म्मण्यता व्यय होती जा रही है?

आगेके पृष्ठोंमें मैंने यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि जो जो कर्म्म इन विषयोंसे बाहर हैं—जैसे धर्म्मसम्बन्धी युद्ध, उसके उत्तेजक आन्दोलन, या द्वन्द्वयुद्धका परम्परागत* सिद्धान्त (जो ऐंग्लो-सक्सन समाजसे कबका उठ चुका है)—वे अब बहुत

* जब कोई किसीका अत्यन्त अपमान करता है वा व्यक्तिगत हानि पहुँचाता है तो अपमानित पुरुष अपने वैरीको द्वन्द्वयुद्धके लिए निमंत्रण देता है। समय और स्थान नियत होनपर दोनोंमें सशस्त्र युद्ध होता है और बहुधा दोमे एककी मृत्यु हो जाती है। युरोपमें अबतक यह प्रथा जारी है। लोग ऐसे मामलोंमे मुक़दमेबाजी पसन्द नहीं करते।

कालतक चलनेवाले युरोपीय युद्धोंके कारण न तो हैं और न हो सकते हैं। मैंने स्थूलरीतिसे कुछ रीतियोंका कार्य्यक्रम दरसानेका प्रयत्न किया है। यह भी दिखाया है कि ज्यों ज्यों मनुष्योंके आदर्शका रूप बदलता जा रहा है त्यों त्यों आर्थिक और आचारनीतिक उद्देशोंका परस्पर भेद भी घटता जा रहा है। अगले समयमें राजनीतिक वा धार्म्मिक आदर्श साधारण योगक्षेमके उद्देश्योंसे प्रायः अलग ही समझे जाते थे। पहलेकी राजनीतिमें आदर्शोंका सम्बन्ध केवल राजा, महाराजाओंकी व्यक्तिगत भक्तिसे था। जातिकी भलाईसे कोई सरोकार नहीं था। इसके पीछे विचार यों सुधरा कि सभ्य प्रजाको भक्त बनानेके लिए राजाको योगक्षेमकी मूर्त्ति हो जाना चाहिए। इसके पीछे यों परिवर्त्तन हुआ कि प्रजाका योग-क्षेम स्वतः उद्देश्य बन गया, वंशानुगत शासक उसकी मूर्त्ति हो वा न हो। फल यह हुआ कि प्रजा समझ जाती है कि किसी राजाके व्यक्तिगत स्वार्थकी रक्षामें लगानेके बदले हमारे सारे उद्योग हमारे ही स्वार्थकी रक्षामें लग रहे हैं और परमार्थ ही स्वार्थ बन गया है; क्योंकि किसी जातिका अपने ही स्वार्थके लिए स्वार्थत्याग करना उलटी बात है, वाक्य-विरोध है। धर्म्मसम्बन्धमें भी ऐसा ही अभ्युदय दिखाई दे रहा है। पहलेके धार्म्मिक आदर्शोंका मनुष्य-जातिके आर्थिक योगक्षेमसे कोई सम्बन्ध न था। जिस तरह आज भी हिन्दू तपसी कीलोंकी शय्यापर व्यर्थ जीवन खोना बड़ा अमूल्य साधन समझता है उसी तरह अगले ईसाई भी खंभेके ऊपर बैठे बैठे अपने शरीरको कीड़ोंको खिला डालना पुण्यका काम समझते थे। परन्तु ज्यों ज्यों पुराने ईसाई आदर्शोंका सुधार हुआ त्यों त्यों पाश्चात्योंमें उन सब तपस्याओं और स्वार्थत्यागोंका मूल्य घट गया जिनसे मनुष्यजातिका कोई उपकार नहीं होता था। अब हम उस एकान्तवासीकी कोई प्रशंसा नहीं करते जिससे संसारको कोई लाभ नहीं है, वरन् उस धार्मिककी अधिक सराहना करते हैं जो कुष्ठाश्रमके अधिवासियोंको सुख देनेके लिए अपने प्राण निछावर करनेको तय्यार रहता है। कोई ईसाई तपसी यदि अपनी बँधी मुट्ठीमें नखोंको इतना बढ़ने दे कि उसकी हथेलीके आरपार होकर निकल आवें, तो देखनेवालोंके मनमें श्रद्धाकी जगह घृणा होगी। धार्म्मिक कामोंकी इस ढंगकी परीक्षा दिनपर दिन बढ़ती जा रही है, कि अमुक अमुक धार्म्मिक कामसे समाजको क्या लाभ

पहुँचता है। यदि कोई लाभ नहीं पहुंचता तो वह धार्म्मिक काम निन्द्य एवं व्यर्थ समझा जाता है। राजनीतिक आदर्शोंको भी लाचार हो ऐसी ही अभिवृद्धिका अनुकरण करना पड़ेगा और दिन-पर दिन उनको ऐसी ही परीक्षा बढ़ती जायगी। *

मैं जानता हूं कि आजकल राजनीतिक आदर्शोंकी ऐसी परीक्षा बहुधा नहीं होती। हमारे राजनीतिक विचारपर रोमन और परम्परा-गत राज्योंकी कल्पनाका प्रभाव इतना पड़ा हुआ है—सुव्यवस्थित समाजकी अनिवार्य्य वृद्धिसे जिन उपमाओं और दृष्टान्तोंके वास्तविक अर्थका पूरा लोप हो गया है; हम अवतक उनके भ्रममें इतने पड़े हुए हैं—कि प्रजासत्ताक आदर्श शुद्ध कल्पनामात्र प्रतीत होते हैं और संसारकी आर्थिक वा नीतिक भलाई और वृद्धिके उद्देशों और उपायोंसे वे विचार विलग दिखते हैं। किसी देशको हस्तगत कर लेनेकी झक, अपने शासित क्षेत्रको बढ़ा लेनेकी धुन, अबतक इस योग्य समझी जाती है कि उसके लिए अपरि-मित और असीम स्वार्थत्याग करना उचित समझा जाता है।

यद्यपि ये आदर्श हमारी भाषा और परम्पराप्राप्त शब्दविन्याससे बेतरह जकड़े हुए हैं, तब भी घटनाचक्रकी प्रबल शक्तिसे अत्यन्त शीघ्र ढीले पड़ते जा रहे हैं। बीस तीस बरस पहले यह बात कल्प-नामें न आ सकती कि किसी देशका प्रान्त अलग होकर स्वतंत्र राज-नीतिक व्यवस्था कर ले और समस्त राष्ट्र वा राजा, सैन्यबलसे उसे रोकनेके बदले, शान्तिपूर्वक यह तमाशा चुपचाप देखता रह जाय।

---

* दक्षिण अमेरिकाके प्रजातंत्र राज्योंपर जो क्रिचफ़ील्डने ग्रन्थ लिखा है, उसमें वर्णन है कि उन देशोंमें जब एक शताब्दीतक घोर रक्तपात होता रहा था और अराजकता फैली हुई थी उस कालमें सामान्यतः रोमन कथलिक पादरियोंने अपने चरित्र और अपने जीवनको अकलुषित, पवित्र और ऊँचे आदर्शका रक्खा था और सब तरहके विरोधपर भी बराबर शान्ति और सुव्यवस्थाका उपदेश देते रहे। इस दृश्यका किसी व्यक्तिपर कैसा ही उत्तम प्रभाव पड़े और वह इन साधुओंकी कितनी ही सराहना करे, किन्तु निश्चय यही होता है कि इनके ऐसे उच्चादर्शके उपदेशोंका दक्षिण अमेरिकाके सामाजिक अभ्युदयपर बहुत कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु आज जो परिवर्त्तन हमारे दृष्टिगोचर है, कैसे हुआ? यों, कि वह संसारके आर्थिक स्रोतमें पड़ गये; बंकों, कारखानों और रेलोंने पादरियोंद्वारा उपदिष्ट कारणोंसे अत्यन्त भिन्न कारण और उद्देश्य उत्पन्न कर दिये जो अब देशको सैनिक लूटमारसे छुड़ाकर उसी ईमानकी कमाईमें लगा रहे हैं जिनके लिए उच्च आदर्शवाले उपदेश करते करते हार गये थे।

किन्तु अभी बरस दो बरस हुए कि यही घटना (Scandinavian) स्कंदनवी द्वीपप्रायमें हो गयी। अपने राज्यसंधिमें विजित अलसासे और लोरेन प्रान्तोंको एकांगी कर लेनेके प्रयत्नमें चालीस बरस-तक जर्म्मनी स्वयं अपनी कठिनाइयां और युरोपीय परिस्थितिकी कठिनाइयां बढ़ाती रही, किन्तु वहां भी जगद्व्यापिनी प्रवृत्तिके सामने सिर झुकाकर एक वैध और स्वाधीन राज्यकी रचनाका प्रयत्न किया गया है। ब्रिटिश साम्राज्यके गत पचास बरसोंका इतिहास साक्षी है कि उसमें भी विजयका जितना कुछ काम हुआ था उसका बराबर निराकरण हुआ है। अब उपनिवेश न तो उपनिवेश रहे और न स्वत्व वा जायदाद ही रहे। वे अब स्वतंत्र राज्य हैं। अयर्लैंडको रखनेके लिए जिस इंगलैंडने सदियोंसे इतने स्वार्थत्याग किए हैं, वही अब उसके स्वातंत्र्यको टिकाऊ करनेके लिए बड़े बड़े स्वार्थत्याग कर रहा है। सारी राजनीतिक व्यवस्थाएं, सारे राजनीतिक आदर्श, अब अन्ततः इसी कसौटीपर परखे जायँगे कि जिन जातियोंका सम्बन्ध है उनके सबसे प्रशस्त स्वार्थ-साधनके हेतु ये आदर्श, यह व्यवस्थाएं, हैं वा नहीं।

यह सच है कि जो लोग युद्धके मनोवैज्ञानिक पक्षपर ज़ोर देते हैं, दूसरी बात लेकर इसका प्रतिवाद कर सकते हैं। वह यह कह सकते हैं कि "यद्यपि राष्ट्रोंमें झगड़ा उठानेवाले प्रश्नोंका उद्भव न्यूनाधिक आर्थिक प्रश्नोंसे हुआ है, तब भी आर्थिक प्रश्न स्वयं आचारनीतिका तथा स्वत्वाधिकारका प्रश्न हो जाता है। हैम्पडेन जो जहाजके विषयमें प्रत्यक्ष दो चार आने महसूल पर ही लड़ गया था वह दो चार आनेका प्रश्न नहीं था किन्तु उस करके चुकानेमें जो अधिकार सम्मिलित था, प्रश्न उस अधिकारका था। यही बात राष्ट्रोंके लिए भी है। यद्यपि युद्ध किसी आर्थिक उद्देशकी प्राप्तिमें असमर्थ है, और इस अर्थमें अलाभकर भी है कि जिस आर्थिक लाभकी रक्षाके लिए युद्ध किया जाता है उसके मूल्यसे कहीं अधिक युद्धमें व्यय हो जाता है, तथापि युद्ध इसलिए अवश्य ही होगा कि जिस उद्देशका झगड़ा होगा वह आर्थिक दृष्टिसे बहुत क्षुद्र होनेपर भी अधिकार दृष्टिसे बड़े महत्वका होगा। और यद्यपि राष्ट्रोंके स्वार्थमें वास्तविक भेद नहीं है, यद्यपि ये स्वार्थ वस्तुतः अन्योन्याश्रित हैं, तथापि तनिक तनिकसे झगड़ोंसे एकाएकी क्रोधकी ज्वाला ऐसी भभक उठती है कि उसका दमन नहीं हो

सकता और युद्ध होना अनिवार्य्य हो जाता है। युद्ध मनुष्योंके क्रोधावेशका फल है, उनके हृदयमें बैठे हुए पिशाचकी करतूत है"।

युद्धवादका साहित्य, इस विषयपर और ऐसे ही बहुतेरे विषयोंपर, स्पष्ट व्याहतोक्तियोंसे भरा पड़ा है; सो भी इस मतका विरोधी है कि युद्ध राष्ट्रोंके क्रोधाग्निके एकाएकी भड़क उठनेका फल है। लोकप्रिय लेखकोंमें अधिकांश और वैज्ञानिक युद्धवादियोंमें सभी इस मतके विरोधी हैं। मिस्टर ब्लचफ़ोर्ड और उनका पक्ष वैसी ही युद्धनीतिका ठीक ठीक अनुयायी समझा जाता है, जैसी जर्म्मनीकी है। यह नीति भावके अनुचित और वेढव वेगसे यथाशक्ति सर्वथा विरोध करती है। अवसर देखकर चलनेवाली, रस-भाव-विहीन शान्त और गंभीर मखवल्लीय बुद्धिसे ही इस नीतिकी उत्पत्ति है। इसी नीतिसे नीत ब्लचफ़ोर्ड महाशय यों लिखते हैं—

क्लवजीवीच्छुकी शिक्षाओंकी फलरूपा जर्म्मननीति दो प्रश्नोंद्वारा प्रकट की जा सकती है—वह भी क्लवजीवीच्छुके ही हैं। "ऐसा करना क्या उपयोगी होगा? क्या हममें यह करनेकी शक्ति है?" यदि ब्रिटिश साम्राज्यके तोड़ देनेमें पैतृक देशकी भलाई है, तो उसे तोड़ देना उपयोगी है। क्लवजीवीच्छुने जर्म्मनीको यह शिक्षा दी है कि 'युद्ध नीतिका एक अंग है'। उनकी शिक्षा थी कि नीति साम वा शासनचातुर्य्यकी एक पद्धति है जिसकी रक्षा सेनाद्वारा होती है। क्लवजीवीच्छु युद्धके आचारनीतिपक्षपर वादानुवाद नहीं करता। केवल शक्ति और उपयोगितासे सम्बन्ध रखता है। उसके शिष्य उसका अनुकरण करते हैं; शान्तिके सुखोंकी सराहनामें काव्यरचना नहीं करते और मनुष्योंके उपकारवाले कोरे सिद्धान्तोंके प्रतिपादनमें स्याहीका दुरुपयोग नहीं करते।

जहांतक मुझे मालूम है जितने वैज्ञानिक लेखक हैं निरपवाद सभी इससे भी अधिक युद्धकी आकस्मिकताका निराकरण करते हैं। ग्रोटियससे लेकर फ़ंडरगोल्ट्सतक सभी वैज्ञानिकोंकी यह राय है कि युद्ध अकस्मात् नहीं हो जाता वरन् मानवी अभ्युदयकी और रीतियोंकी तरह यह भी ठीक ठीक विचारणीय नियमोंका आश्रित है।

फ़ंडरगोल्ट्स "On the Couduot of War" नामक पुस्तकमें यों लिखता है—

इस बातको न भूलना चाहिए कि युद्ध कूटनीतिका परिणाम और उसका परिशेष वा अनुबन्ध है। यदि कूटनीति आक्रामक होती है तो छलपूर्वक आत्मरक्षाका नाट्य करना होता है, और यदि केवल आत्मरक्षक हुई तो आत्मरक्षामात्र करना होता ही है। इतिहास जिस आचारनीतिकी जहां सूचना देता है उसके ही अनुसार वहां आक्रामक वा आत्मरक्षक होना पड़ता है। प्राचीनकालके इतिहाससे रोमन और ईरानियोंमें भी यह बात प्रत्यक्ष दिखती है। उनके युद्धोंमें भी इतिहासका झुकाव जिस ओर देखा गया उसी ओर युद्धपटुता और रणकपटका भी झुकाव पाया गया। जिन लोगोंकी ऐतिहासिक वृद्धि स्थगित हो गयी है अथवा जो अवनतिकी अवस्थामें हैं, वह आक्रामक नीति न चलावेंगे, आत्मरक्षणनीतिका ही अवलम्बन करेंगे। जिस राष्ट्रकी ऐसी दशा होगी वह आप चढ़ाई न करेगा किन्तु वैरीके आक्रमणपर ही युद्धपटुताका प्रयोग स्वरक्षामें करेगा जिसका आवश्यक परिणाम यह होगा कि वह स्वरक्षार्थ राजनीतिक कूटनीतिका भी व्यवहार करेगा।

लार्ड एशरने भी ऐसा ही विचार प्रकट किया है।*

किन्तु युद्ध क्रोधाग्नि वा राष्ट्रीय जोशसे होता हो वा न होता हो यह निश्चय है कि बहुत दिनोंसे युद्धकी तैयारी, ससैन्य शान्तिकी दशा, कभी कभीके युद्धसे भी बुरा युद्धसामग्रीका निरन्तर असह्य बोझ, ये आकस्मिक क्रोधावेशके फल नहीं हैं।

आजकलकी सामग्री ऐसी नहीं होती कि जब क्रोध वा वैरभावकी ज्वाला भड़के तुर्त्तफुर्त्त उसीदम इकट्ठी की जा सके और उसके शान्त हो जानेपर तुरन्त उसका हलाभला कर दिया जाय। लड़ाऊ जहाजोंका बनना, बजटपर बहस और प्रजाकी ओरसे उसकी स्वीकृति, सैन्य-शिक्षा, धावेकी तय्यारी बहुत दिनका काम है और आजकल प्रत्येक धावेके लिए विशेष विशेष ढंगकी तय्यारियोंकी आवश्यकता दिनपर दिन बढ़ती जा रही है। राजपंडितोंकी यह व्यवस्था है कि जर्म्मन लड़ाऊ जहाज उत्तरीय समुद्रके लिए ही उपयुक्त और विशेष काटछांटके बनाये गये हैं। कुछ हो, हम जानते हैं कि जर्म्मनीसे झगड़ा दस बरससे चल रहा है। यदि यह क्रोध-भड़क-उठना कहा जाय तो यह विचित्र लम्बी पुरानी "भड़क" कही जायगी। सच तो यह है कि आजकलका युद्ध ससैन्य शान्तिका

* "To-day and To-morrow," p. 63. John Murray.

भली भांति समझता है कि आजकल दूसरोंके विश्वास और आदर्शपर आक्रमण करनेकी प्रवृत्ति मनुष्योंमें कम होती जाती है और इतिहासका झुकाव इस प्रवृत्तिके विरुद्ध है। धार्म्मिक विषयोंमें तो यह स्पष्ट है, यहांतक कि धार्म्मिक विश्वास और आदर्शका बलपूर्वक प्रचार युरोपमें प्रायः छोड़ ही दिया गया, और जिन कारणोंसे धार्म्मिक विषयोंमें युरोपीय मनुष्योंके हृदयमें ऐसा परिवर्त्तन हो गया है वही राजनीतिक विषयोंमें भी अपना प्रभाव डाल रहे हैं।

धर्म्मके मैदानमें ऐसे दो तरहके कारण रहे और दोनोंका हमारे विचारणीय प्रश्नपर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। पहला वही है जिसका निर्देश हम कर चुके हैं, अर्थात कोरे फलहीन उद्देश्योंसे हटकर आदर्शोंका ऐसे उद्देश्यपर टिक जाना जिनसे लोकोपकार हो, समाजकी उन्नति हो। दूसरा यह है कि चिट्ठीपत्रीके व्यवहार रेलतारादिसे परस्पर आवाजाईके अत्यन्त बढ़जानेसे राज्योंकी आध्यात्मिक विलगता नष्ट हो गयी। धार्म्मिक विचारका कोई आन्दोलन चला तो एक राज्यमें पूर्णतया फैलकर उसमें ही परिवर्त्तन करके रह नहीं गया, प्रत्युत जो आन्दोलन उठा वह एकही प्रकारसे भिन्न भिन्न राज्योंमें एकरस व्याप गया।

युरोपमें धर्म्मोन्नतिके प्रारंभमें ही कोई देश ऐसा नहीं रह गया जो शुद्ध रोमन-केथलिक ही हो वा प्रोटेस्टंट ही हो। धर्म्मके झगड़े राज्यके भीतर ही चलते रहे, एक ही राज्यके अन्तर्गत प्रजाओंमें मतभेद हुआ। सामाजिक और राजनीतिक मत भी इसी रीतिसे चलेंगे। मतभेदके झगड़े राज्योंमें नहीं, वरन एक ही राज्यके प्रजावर्गोंमें चलेंगे, और यह वर्ग अन्यराज्योंके अपने सवर्गियोंसे मानसिक सहकारिता रक्खेंगे। सीमातिक्रम करके भिन्न भिन्न देशोंमें फैली हुई यह परस्पर मानसिक सहकारिता उस आर्थिक सहकारिताका आवश्यक फल है जो देशोंमें आवाजाई और सम्बन्धकी सुगमताद्वारा शारीरिक-श्रम-विभागसे उत्पन्न हो गयी है। इस एक साधारण कारणसे, कि साम्प्रत बड़े बड़े आचारनीतिक प्रश्न अब एकराष्ट्रीय वा एकदेशीय शब्दोंमें नहीं मान लिये जा सकते, किसी एक राज्यकी सेनाका किसी आदर्शका पूरा पक्ष लेकर युद्ध करना असंभव हो गया है। यह बात आगेके कथनसे स्पष्ट हो जायगी।

युद्धपक्षमें अन्ततः एक आचारनीतिक वाद रह जाता है—कि युद्ध राष्ट्रोंके आचारनीतिक संयमको शिक्षाके लिए आवश्यक है और जीवनप्रयासमें योग्यतम होनेकी सबसे बड़ी परीक्षा है।

युरोपीय लोकमतपर ही युद्ध-पद्धतिकी स्थिति वा लोप निर्भर है और युरोपीय लोकमतकी साधारण प्रकृति कैसी होगी, इसके जाननेके लिए ऊपरकी दलीलका महत्व हमने इस विभागके पहले अध्यायमें दिखलाया है। तो भी ठीक न्यायकी दृष्टिसे इस बहसके पूरे प्रतिवादकी वा इसके अंगके खंडनकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो लोग इस बहसको पेश करते हैं उनमें कोई इक्के दुक्के ही ऐसे होंगे जिन्हें अपनी दलीलपर पूरा विश्वास और भरोसा है।

भारी सैन्यबलका पक्षपाती उसके औचित्यको इसी दलीलसे सिद्ध करता है कि इतने सैन्यबलसे यथेष्ट शान्तिरक्षा रहती है। "शान्ति चाहो तो युद्धके लिए सन्नद्ध रहो।" मानों शान्ति और युद्ध दोनोंमें अपने प्रयत्नके ठीक उद्दिष्ट फल शान्तिको उसने चुन लिया है। वह यह माननेको तय्यार है कि दोनोंमें शान्ति ही उपादेय है और हमारा सारा प्रयत्न शान्तिके लिए होना चाहिए। जब उस उद्देश्यके लिए निश्चय हो चुका, तो यह दिखानेमें क्या उपयोगिता है कि वह उपादेय नहीं है?

बात यह है कि हमको अपने प्रतिवादीसे भी ईमानकी बातें करनी चाहिए। हमको मान लेना चाहिए कि जहां कहीं उसका कर्म्म शान्ति वा युद्धका कारण होगा वहां उसकी नीयत, उसका विचार, यही होगा कि युद्धसे देशको आचारनीतिक लाभ पहुँचेगा। उसके सिद्धान्तके साथ साथ लोकमतकी प्रवृत्तिका विचार अवश्य करना पड़ता है, और यद्यपि उसका सिद्धान्त उसकी उद्दिष्ट नीति और इच्छाके सम्पूर्ण अनुकूल नहीं है तथापि सर्व्वसाधारणकी प्रवृत्तिका विचार कहीं अधिक महत्वका है। इन्हीं कारणोंसे वह जिस जीववैज्ञानिकवादकी दुहाई देता है उसका प्रत्येक अंग विचारणीय है।

उस पक्षमें जो भ्रम उत्पन्न हो गया है उसका कारण वैज्ञानिक सूत्रोंका वेसमझे बूझे प्रयोग कर देना है। मनुष्यके जीवन-प्रयासका नियम उसी प्रकार लागू है जैसे और शरीर-धारियोंके लिए, किन्तु मनुष्यका रगड़ा संसारसे है, मनुष्य मनुष्यके बीच नहीं है।

कहावत है कि जीव अपने सजातीयको नहीं खाता। सिंह भी सिंह-को नहीं खाता वह औरही प्राणियोंका शिकार करके खाता है। यह पृथ्वी-ग्रह ही मनुष्यका शिकार है। मनुष्यका प्रयास—मानव समाज-रूपी शरीरका प्रयास—संसाररूपी परिस्थितिके प्रति है—अपने ही भिन्न भिन्न अंगोंसे नहीं है। *

यह भूल यों होती है कि एक ही मानव-जातिरूपी शरीरके भिन्न भिन्न अंगोंमें जो अपूर्णता दिखती है उसे लोग अलग अलग शरीरोंमें परस्पर विरोध समझ लेते हैं। आधी सदीसे कुछ ही अधिक हुआ होगा कि ब्रिटेन दो करोड़ प्राणियोंको भी सुखपूर्वक नहीं रख सकता था, वही अब चार करोड़ प्रजाका अधिक सुख-पूर्वक पालन करता है। यह बात स्काट इंग्लिश वेल्श और ऐरिश जातियोंके परस्पर आक्रमणसे नहीं हुई किन्तु इसीका उलटा हुआ, अर्थात् इनमें परस्पर और बाहरी जातियोंसे भी सहकारिता अधिकाधिक घनिष्ट हो गयी, उसका ही यह फल है।

"समस्त मानवजाति शरीर है, और यह पृथ्वीग्रह उसकी परिस्थिति है जिससे वह दिनपर दिन अधिक परिचित, अभिज्ञ और अनुवर्त्ती होता जा रहा है"—यही बात उपस्थित सत्य घटनाओंसे मेल खाती है। यदि मनुष्योंका परस्पर रगड़ा ठीक समझा जाय तो वह समझमें नहीं आतीं प्रत्युत असम्बद्ध दिखती हैं, क्योंकि मनुष्य झगड़ोंसे हटता जाता है, शारीरिक बलके प्रयोगसे दूर होता जाता है, वरन् सहकारिताकी ओर उसका अधिका-धिक बढ़ता जाना निर्विवाद है, जैसा कि निम्नलिखित घटनाओंसे सिद्ध होगा।

---

* इस पुस्तकके प्रथम संस्करणके प्रकाशित होनेके अनन्तर फ्रांसमें नविको महाशयका रचा एक अच्छा ग्रंथ "Le Darwinisme Social (Felix Alcan, Paris) नामक निकला है। इसमें समाजविज्ञानमें डारविनके इस सिद्धान्तके प्रयोगपर बड़ी योग्यतासे विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है और जिस जीववैज्ञानिक पक्षका ऊपर वर्णन हुआ है उसका नविकोके ग्रंथमें अच्छा पृष्ठपोषण हुआ है। उनके ग्रंथके निकालनेके पहले जिसे मैंने आर्थिक शब्दोंमें सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था उसे ही उन्होंने जीववैज्ञानिक शब्दोमे सिद्ध किया है। मनुष्य समाजपर जीवविज्ञानके नियमोंका वास्तविक प्रयोग तो विशेषतः अध्यापक कराल पियरसेनने स्पेंसर और हक्सलेके सिद्धान्तोको शुद्ध करनेमे अंशतः पहले ही किया था। ("The Grammar of Science," pp. 433-438. Walter Scott, London.)

किन्तु यदि मनुष्योंमें परस्पर अपने प्रतिस्पर्द्धीका नाश कर देना ही जीवनका नियम है, तो यों समझना चाहिए कि मानव-जाति प्रकृतिके नियमकी अवहेलना कर रही है और अवश्य नाशके मार्गपर होगी।

सौभाग्यवश इस विषयमें प्रकृतिके नियमको समझनेमें भूल हुई है। समाजवैज्ञानिक दृष्टिसे कोई व्यक्ति सर्वांगपूर्ण शरीर नहीं समझा जा सकता। जो अपने सजातियोंके संसर्गके विना ही जीवन वितानेका प्रयत्न करता है वह मर जाता है। राष्ट्र भी सर्वांगपूर्ण देह नहीं है। अन्य जातियोंकी सहकारिता विना ही यदि ब्रिटेन जीवित रहनेका प्रयत्न करे तो आधी आबादी भूखों मर जायगी। सहकारिता जितनी ही पूर्ण हो उतनी ही जीवन शक्तिकी वृद्धि समझनी चाहिए। सहकारिता जितनी ही अपूर्ण होगी उतनी ही कम जीवन-शक्ति भी होगी। जिस शरीरके भिन्न भिन्न अंग ऐसे अन्योन्याश्रित हों कि विना सहकारिता जीवनका ह्रास वा क्षय हो जाय, उस शरीरको इस विषयमें स्पर्द्धी वा विरोधी शरीरोंका समूह न समझना चाहिए वरन् एक ही शरीर जानना चाहिए। अपनी परिस्थितिसे रगड़ा करनेका प्राणियोंका स्वभाव ही है और उपर्य्युक्त बात इसके अनुकूल ही है। शरीरधारी जितना ही ऊंचे दरजेका होगा उतना ही उसके अंगोंमें अन्योन्याश्रय और विकट सम्बन्ध होंगे—और उतनी ही सहकारिताकी भी आवश्यकता होगी।*

यदि जीववैज्ञानिक नियमका अर्थ यों समझा जाय तो सब बातें स्पष्ट हो जायँ। विरोधसे मनुष्यकी अनिवार्य्य निवृत्ति और सहकारितासे विवश प्रवृत्ति इस बातको प्रकट करती है कि मानव जातिरूपी शरीर अपनी परिस्थितिका अधिकाधिक स्वामी होता जाता है और इस तरह उसकी जीवनशक्ति बढ़ती जाती है।

पूर्वोक्त नियम जीववैज्ञानिक रीतिसे वर्णन किया गया है।

---

* सहकारितासे स्पर्द्धामें रुकावट नहीं पड़ती। यदि कोई प्रतिस्पर्द्धी कारबारमें हमसे बढ़ जाय तो उसका कारण यही है कि वह हमारी अपेक्षा अधिक सफल सहकारिताका संयोजन कर सकता है। किन्तु यदि चोर कुछ चुरा ले जाय तो वह सहकारिता करता ही नहीं, बल्कि उसकी चोरीसे हमारी सहकारिताका बहुत कुछ प्रतिरोध होगा। मानवसमाज-रूपी शरीरका सब कुछ स्वार्थ इसमें ही है कि वह स्पर्द्धाको प्रोत्साहित करे और मुफ़्तख़ोरोंको दबावे।

इन रीतियोंसे मनुष्यके जीवनप्रयाससे जो आध्यात्मिक अभ्युदय सम्मिलित है, उसका सबसे अच्छा वर्णन उसकी वृद्धिके स्थूल विवरणमें बड़ी उत्तमतासे हो जायगा।

डारविनके सिद्धान्तानुसार मानवी सृष्टिके आदिमें मनुष्यका साधारण स्वभाव मनुष्य-भक्षक था। अगले मनुष्य राक्षस वा मनुजाद थे। मान लो कि किसी मनुजादने अपने बन्दीको मार डाला, यह स्वभावानुकूल होगा कि वह उस मनुष्यमांसको अपने लिए ही रक्खे, दूसरोंको न दे। शक्तिके प्रयोगका यह प्रचंड रूप है और मनुष्यके स्वार्थका सबसे नीच भाव है। किन्तु सारा मांस एक ही दिनमें खाया जाना संभव नहीं था, अतः वह सड़ने लगा और खानेयोग्य न रहा और मनुजाद भूखों मरने लगा। जो लोग यह कहा करते हैं कि मनुष्य स्वभाव नहीं बदलता उनकी भूल दिखानेको इस बीभत्सका वर्णन आवश्यक है, अतः पाठकगण क्षमा करें।

वह मनुजाद जिस समय भूखों मर रहा है उसी कालमें उसके दो पड़ोसियोंकी भी ठीक वही दशा है, और यद्यपि पूर्वोक्त मनुजाद अपने भोज्यकी रक्षामें शारीरिक दृष्टिसे सम्पूर्ण समर्थ था किन्तु उसके स्वाभाविक नाशके (सड़नके) रोकनेमें असमर्थ होनेसे यों प्रबन्ध करना पड़ा कि दूसरी बार तीनोंने मिलकर एक बार एक ही बन्दीको मारकर बांट खानेका निश्चय किया; पहलेके बन्दीसे दोनों पड़ोसियोंने भाग लिए और दूसरे दिन अपने बन्दीसे पहलेको भाग दिये। अब मांस सड़ने नहीं पाता। यह सबसे पहला दृष्टान्त है जिसमें संसारमें शारीरिक बलको सहकारिताके आगे सिर झुकाना पड़ा। अन्तको जब तीनोंके तीन बन्दी दस बारह दिनमें समाप्त हो गये और खानेको कुछ न रह गया तो यह बात सूझी कि यदि हम इन्हीं बन्दियोंको जीता रखते तो इनसे अपने लिए शिकार कराते और कन्दमूल खुदवाते। निदान अब जो बन्दी मिले तो उन्हें मारा नहीं गया—यह भी शारीरिक बल-प्रयोगकी कमी ही हुई—किन्तु दास बना लिया गया और जिस स्वार्थकी प्रवृत्तिसे पहले वे मारे जाते थे उससे ही अब वे सेवामें लगाये जाते हैं। तब भी युद्धकामनाके साथ समझदारी इतनी कम खर्च की गयी कि दास भूखों मरने लगे और उपयोगी कामके लिए सर्वथा अशक्य हो गये। अब उनसे धीरे धीरे अच्छा बर्त्ताव होने लगा और युद्धकामना घटने

लगी। दास भी इतने सध गये कि बिना देखरेखके कन्दमूलकी खुदाई करने लगे और उनके स्वामी देखरेखके समयको शिकारमें लगाने लगे। जो झगड़ालूपन पहले दासोंपर खर्च होता था अब और जातिके वैरियोंसे उन्हें बचानेमें खर्च होता है। यह बात कठिन भी थी क्योंकि दासोंमें स्वयं एक स्वामीसे दूसरे स्वामीके यहां चले जानेकी प्रवृत्ति बहुधा देखी जाती थी। इसलिए उन्हें राजी रखनेको उनसे और भी अच्छा व्यवहार किया जाने लगा। शक्ति-प्रयोगमें यह और भी कमी हुई, और सहकारितामें और भी वृद्धि हुई। दासोंने उनके लिए मजूरी की और स्वामियोंने उन्हें भोजन दिया और उनकी रक्षा की। ज्यों ज्यों जातियोंकी वृद्धि हुई त्यों त्यों यही बात पायी गयी कि जिस जातिमें दासोंको जितना ही अधिकार जितना ही सुख दिया गया उतनी ही उन जातियोंमें वृद्धि और दृढ़ता हुई। धीरे धीरे दासत्वने रैयत वा असामीका रूप ग्रहण किया। स्वामीने भूमि दी और रक्षाका प्रबन्ध किया और रैयतने स्वामीके लिए मजूरी की और उसका सैनिक हुआ। शारीरिक बलके प्रयोगसे मानव जाति और भी हट गयी और मिलजुलकर काम करने और अदलाबदलीकी रीति और भी बढ़ी। जब सिक्के चले तब बलका रूप भी बदल गया और रैयत लगान देने लगी और सैनिक तनखाह पाने लगे। अब दोनों पक्षमें स्वच्छन्दतासे अदलाबदली होने लगी और शारीरिक बल आर्थिक शक्तिसे बदल गया। ज्यों ज्यों बलप्रयोगसे साधारण आर्थिक सुविधाकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति होती गयी त्यों त्यों व्यवसायका अधिकाधिक प्रतिफल मिलने लगा। तातारी ख़ान जो अपने राज्यका धन ज़बरदस्ती लूट लेता था अब लूटनेको कुछ पाता ही नहीं क्योंकि जिस धनसे लाभ नहीं हो सकता उसके उपार्जनके लिए मनुष्य उद्योग न करेंगे। अतः ख़ानको अन्ततः किसी धनीकी अनेक दुर्यातना करके मार डालनेपर भी उस धनका सहस्रांश न मिल सकेगा जो लंडनका कोई व्यापारी बलप्रयोगाधि-कार-हीन उपाधिके प्राप्त करनेमें ख़ुशीसे ख़र्च कर देगा और वह उपाधि भी ऐसे शासकसे ऐसे महाराजाधिराजसे मिलेगी जो बलप्रयोगका कोई भी अधिकार न रखते हुए संसारके सबसे धनी साम्राज्यके स्वामी हैं और जिनका धन ऐसे उपायोंसे इकट्ठा हुआ है जिनसे बलप्रयोगसे कोई सरोकार ही नहीं है।

जाति वा उपजातिके भीतर ही भीतर यह सिलसिला जिस समय बराबर जारी रहा उसी कालमें भिन्न भिन्न राष्ट्रों वा जातियोंमें जो परस्पर बलप्रयोग वा द्वेषभाव था वह दूर नहीं हुआ, पर उसमें कमी अवश्य आयी। पहले तो यह बात थी कि झाड़ीके भीतरसे अपने वैरी जातिवालेका धूलि-धूसरित सिर दिखाई दिया नहीं, कि इधर राक्षसके तीरका निशाना बन गया, क्योंकि वह "पर" है अतः मारणीय है। कुछ दिन पीछे यह दस्तूर हो गया कि यदि अपनी जातिवालोंसे लड़ाई हो तभी उसे मारनेका प्रयत्न किया जाय। ऐसे भी अवसर आने लगे जिसमें शान्ति होती थी शत्रुतामें कमी होती थी। पहलेके युद्धोंमें वैरीकी स्त्रियां, बच्चे, बूढ़े सभी मारे जाते थे। बल और युद्धकामना अनियंत्रित होती तो है किन्तु ज्यों ज्यों दासोंसे मजूरीका और दासियोंसे उपस्त्रीका काम लिया जाने लगा त्यों त्यों युद्धकामना घटती गयी, बलप्रयोग कमता गया। वैरीकी स्त्रियां विजेताके पुत्र उत्पन्न करने लगीं, झगड़ालूपन और भी घटा। वैरीकी बस्तीपर जो फिर चढ़ाई की गयी तो मिला कुछ नहीं क्योंकि लूटमारसे कुछ बचा ही न था। अतः वैरियोंके सरदारको ही मारकर सन्तोष किया—युयुत्सामें और भी कमी आयी, संवेगका और भी ह्रास हुआ। या वैरियोंसे देश छीनकर अपने लोगोंमें बांट दिया—जैसा नारमन विजेताओंने किया था। अब मनुष्य सर्वनाश करनेके दरजेसे* आगे बढ़ गये।

---

* जीवविज्ञानके टेढ़े दृष्टान्तोंकी सहायता विना ही, संसारकी साधारण, घटनाओंसे ही, यह स्पष्ट है कि संसारमें योग्यतमका जीवित बच जाना मनुष्यकी युयुत्सावृद्धिके किसी कालमें सिद्ध भी था, तो भी वह समय अब अत्यन्त दूर चला गया है। आजकल जब हम किसी जातिको जीतते हैं, तो उसका सर्वनाश नहीं करते। उसे ज्यों की त्यों रहने देते हैं। जब हम नीच जातियोंको जीत लेते हैं तब उन्हें नष्ट कर देनेके बदले उनमें सुव्यवस्था करके उन्हें बढ़नेका अवसर देते क जिसका फल यह होता है, कि उच्च गुणोंके द्वारा विजित हो जानेसे नीच गुणोंयी रक्षा हो जाती है, नष्ट नहीं होने पाते। यदि कभी ऐसा हो कि एशियाकी जातिहैं व्यापार वा सैन्यबलमें गोरोंका मुकाबला कर बैठें तो वह भी उस जातिरक्षाक कृपा होगी जो अंग्रेजोंके मिश्र और भारतवर्षमें और साधारणतः एशियामें विजय-पानेसे और अपने सैन्यशक्तिके प्रभावसे चीनमें व्यापारिक सम्बन्ध जोड़नेसे हुई है। जिन राष्ट्रोंमें मोटे हिसाबसे बराबर ही वृद्धि हुई है उनमें भी युद्ध होनेसे अयोग्यकी रक्षा हो जाती है क्योंकि विजित जातिका अब सर्वनाश नहीं किया जाता, किन्तु उनमें जो सबसे योग्य होते हैं तथा विजेताओंमें जो सेनाके लिए योग्यतम होते हैं, उभयपक्षमें उनका ही नाश होता है, और दोनों ओरके निकम्मे

अब विजेता विजितको केवल अपनेमें मिला लेता है—वा विजित ही विजेताको अपनेमें मिला लेता है, जैसा समझ लिया जाय। अब एक दूसरेको चट कर जानेकी बात नहीं रही। दोनोंमें एक भी निगला नहीं जाता। इसके अनन्तर विजेता अपने वैरी राजाको बेदख़ल नहीं करता, वरन् उसपर कर लगा देता है—यह बल-प्रयोगमें और भी कमी हुई। किन्तु विजेता राष्ट्रकी दशा अपने ही राज्यमें ख़ानकी सी हो जाती है, जितना ही वह निचोड़ता है उतना ही कम पाता है, यहांतक कि अन्तको जो कुछ मिलता है उससे भी अधिक उसके पानेके लिए सेनामें ख़र्च हो जाता है। स्पेनिश अमेरिकामें स्पेनकी जो दशा हुई—जितना अधिक उसका राज्य बढ़ता था उतना ही स्पेन दरिद्र होता जाता था—वही दशा हो जाती है। अब बुद्धिमान विजेताको यह सूझती है कि कर लेनेकी जगह यदि उस देशके बाज़ारपर अपना इजारा कर लिया जाय तो अधिक लाभ होगा—जिस सिद्धान्तपर अंग्रेजोंने उपनिवेशोंकी पुरानी रचना की। किन्तु इजारेकी रीतिमें लाभके बदले हानि अधिक हुई; इसपर उपनिवेशोंको अपनी अपनी ही रीति चलानेकी आज्ञा दी गयी, इस तरह बलप्रयोगमें और भी कमी आयी, विरोध और झगड़ालूपन और भी घटा। इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि बलप्रयोग एकदम छोड़ दिया गया, अब परस्पर लाभवाली सहकारिताका ही सम्बन्ध रह गया—सो केवल उपनिवेशोंमें ही नहीं जो परराज्य बन गये हैं किन्तु उन राज्योंमें भी जो नाममात्रको वा वस्तुतः पराये हैं। अब मनुष्योंमें परस्पर कठिन रगड़ेकी दशा नहीं है। हम ऐसी दशाको पहुँचे हैं कि परदेसियोंके सुखी रहनेपर ही हमारी जीविका वा जीवन है। यदि इंगलैंड किसी जादूसे समस्त विदेशियोंको मार डाले तो उसकी आधी प्रजा भूखों मर जाय। ऐसी दशामें परदे-सियोंसे बहुत दिनोंतक विरोध रह नहीं सकता। किसी

ही बच जाते हैं और वंश चलाते हैं। साम्प्रत संसारकी बातें भी इस सिद्धान्तको पुष्ट नहीं करतीं कि आधुनिक रीतियोंसे युद्धकी तय्यारीमें वीर्य्य और जीवनकी रक्षा होती है, क्योंकि बारकोंमें रहना, कलपुरजोंकी भांति नियमबद्ध हो जानेसे आत्मबुद्धिसत्ताका नष्ट हो जाना, और जितना अफ़सरोंका अपरिमित राज्य अब है उससे भी अधिक उसका बढ़ता जाना—यह सब मानवी जीवनके लिए अत्यन्त अस्वाभाविक है।

गंभीर जीववैज्ञानिक नियमसे वा आत्मरक्षाके सच्चे भावसे ही ऐसे विरोधके होनेका कोई न्याय्य कारण समझा जाय, ऐसी भी कोई स्थिति नहीं है। ज्यों ज्यों शरीरके अंग प्रत्यंगोंका अन्योन्याश्रय नवीन रीतिसे घनिष्ट होता जाता है, त्यों त्यों वह आध्यात्मिक अभ्युदय आवश्यक है जो आदिसे ही मानवप्रकृतिके इतिहासपट्टपर अंकित होता आया है—उस दिनसे जब मनुष्य अपने बन्दीको मारकर खा जाते थे और साथियोंतकमें बांटना अस्वीकार करते थे, आजतक जब कि तार और बंकने, आर्थिक रीतिसे, सैन्यबलको बिलकुल निरर्थक कर दिया।

किन्तु जो कुछ अभी कहा गया है उसमें सारी बातें नहीं आ जातीं। यदि रूस इंगलैंडकी कुछ हानि करे—मान लो कि शान्तिके समयमें मछली मारनेवाला बेड़ा डुबा दे—तो कुछ थोड़े फ्रेंच और ऐरिशोंको मारनेसे हमारा मतलब न निकलेगा। हम स्वभावतः रूसियोंको ही मारना चाहेंगे। किन्तु यदि हम भूगोलसे कुछ कम ही अभिज्ञ हों, यदि चीनी बाक्सरके से हों तो हमें यह परवाह न होगी कि हम किसे मारते हैं, क्योंकि साधारण चीनीको सभी परदेसी दुष्ट और वैरी ही दिखेंगे, और उसे इतना ज्ञान ही नहीं है कि युरोपके विविध राष्ट्रोंमें भेद समझ सके। अफ्रिकाके कांगोदेशका कोई हबशी यदि सताया गया तो उसके लिए दायित्वका क्षेत्र और भी विस्तीर्ण हो गया, क्योंकि एक गोरेके अत्याचारका बदला वह किसी भी गोरेसे लेगा, जर्मन, अंग्रेज, फ्रेंच, डच, बेलजियन, चीनी कोई भी हो। ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता है त्यों त्यों अपने वर्गसे बाहरवालोंके प्रति यह भाव कि सभी उत्तरदाता हैं संकुचित होता जाता है। किन्तु एक बार जो हमने इस प्रकारका भेद समझना प्रारंभ किया तो फिर आगे बढ़नेमें तनिक भी रुकावट नहीं है। एक गोरेने अत्याचार किया तो किसी गोरेसे बदला लेनेसे मूर्खको सन्तोष हो जायगा—रूसी न मिले तो जर्म्मन ही सही! अधिक शिक्षित मनुष्य रूसीका बदला रूसीसे ही लेना चाहेगा, किन्तु यदि वह कुछ देर और सोचे तो यह बात सूझ पड़ेगी कि रूसी जहाजवालोंके अपराधका दंड रूसी किसानोंको देना उतना ही अन्याय होगा जितना रूसीके बदले निरपराध हिन्दुओंको। इस विचारपर वह रूस सरकारसे बदला लेना चाहेगा।

किन्तु यही तो बहुतेरे रूसी भी—लिबरल और सुधारकादि भी—चाहते हैं। अब उसे यह सूझती है कि वास्तविक झगड़ा अंग्रेजों और रूसियोंसे नहीं है किन्तु इसमें रूसी हो वा अंग्रेज सभी न्यायप्रिय लोगोंका स्वार्थ है कि अत्याचार, भ्रष्टता और अधिकार-हीनता मिट जाय। और रूसी सरकारको लड़ जानेका अवसर देना अपने सहानुभूतिके पात्र सुधारकोंके विरुद्ध उसे बलवती कर देना है। युद्धसे सुधारके अवरोधकोंका प्रभाव बढ़ जायगा इसलिए ऐसी दुर्घटनाओंको रोकनेका कोई उपाय न किया जायगा, और फलतः हानि उनकी होगी जिनको लाभ पहुँचाना हमें इष्ट है। यदि वास्तविक स्थिति और दायित्व समझमें आ जाय, तो ऐसे अत्याचारका उत्तर न्यायप्रिय लोगोंकी ओरसे यों होगा कि दोनों राज्योंके आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धसे जो उपाय करणीय हों उनके द्वारा वे कतिपय उद्धत रूसी अमीरालोंको फांसी देने और न्यायप्रिय शासन स्थापित करनेमें न्यायप्रिय रूसियोंको सहायता दें। कुछ भी हो, जब हम वास्तविक स्थितिको समझ जाते हैं तो हमारा द्वेष घट जाता है। इसी तरह जब हम मामलेके तहतक पहुँच जायँगे तो जर्म्मनोंसे अपना द्वेष कम कर देंगे। एक अंग्रेज देशभक्तने हालमें कहा कि "हमें प्रशावाले आदर्शको* तोड़ देना चाहिए। अधिकांश जर्म्मन इससे सहमत हैं और इसी बातकी कोशिश कर रहे हैं। किन्तु यदि इंगलैंड इस उद्देश्यसे युद्धकरे तो जर्म्मनोंको भी लाचार हो प्रशा-पनके पक्षमें ही भिड़ जाना पड़ेगा। इस तरहके राजनीतिक आदर्शपर राज्योंमें परस्पर युद्ध केवल व्यर्थ ही न होगा किन्तु जिसके नाशके लिए युद्ध किया जायगा युद्धके द्वारा ही वह निश्चय दीर्घजीवी हो जायगा। हम लोगोंको यह भ्रम है कि जिस परराज्यसे हम लड़ रहे हैं वह एक व्यक्तिके समान एकरस एकभाव और एकमत है, मानों एक ही देहधारी है और उसका दायित्व ठीक ठीक व्यक्तिगत दायित्वका सा है; इसी भ्रमपर हमारा सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय द्वेषभाव प्रायः निर्भर है। किन्तु बात और ही है। राष्ट्रके अन्तर्गत ही अनेक जातियोंके आर्थिक और

---

* जर्म्मन-साम्राज्य कई राज्योंका समूह है, जिनमें प्रशाको इसलिए प्रधानता है कि प्रशाके ही राजा जर्म्मन-सम्राट हैं। प्रशावालोंका विचार है कि ऊँचे कुलके रईसोंका पद कोई साधारण कुलका पुरुष कैसा ही योग्य हो नहीं पा सकता। रईस होना वंशपरम्पराका ही अधिकार और रक्तजात गुण है। (अनुवादक)

आचारनीतिक स्वार्थ—जो राज्यसीमाओंसे बद्ध नहीं हैं—इतने भिन्न और परस्पर विरुद्ध हैं कि व्यक्तिसे राष्ट्रकी तुलना सर्वथा भ्रान्त ठहरती है।

वास्तविक बात यह है कि जहां कहीं सामाजिक देहके अंग प्रत्यंगमें परस्पर सहकारिता उतना ही पूर्णरूपसे स्थापित हो गयी है जितना कि यंत्रविद्याके अभ्युदयसे हालमें संभव हो गया है, वहां तो आर्थिक क्या आचारनीतिक सीमा भी नियत करना, वा इतना ही निर्णीत करना कि अमुक जाति इतनी है, असंभव हो गया है। सच तो यह है कि राज्यसीमा शब्द जातिसीमाका समानवाचक नहीं रहा। तिसपर भी अभी यह भ्रम बना हुआ है और अन्तर्राष्ट्रीय विरोध राज्यसीमाकी ही सूचना देता है। यदि लूइसियानाकी फ़स्ल नष्ट हो जाय तो लंकशहरका एक भाग भूखों मर जाय। बड़े महत्त्वकी बातोंमें जो घनिष्ट स्वार्थसम्बन्ध भिन्न भिन्न राज्योंके लंकशहर और लूइसियानामें है वह लंकशहर और (Orkneys) आर्कनीसमें जो एक ही राज्यके अन्तर्गत हैं, नहीं है। सामाजिक और आचारनीतिक वृद्धिके सारे विषयोंमें जितना परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध ब्रिटेन और अमेरिकाके संयुक्त राज्योंसे है, उतना ब्रिटेनसे एक ही राज्यान्तर्गत बंगालसे नहीं है। ब्रिटिश साम्राज्यके ही किसी बंगाली बाबू वा जमैकाके हबशी वा डारसेटके गंवारकी अपेक्षा युरोपके किसी देशके (लार्ड) रईससे अंग्रेज (लार्ड) रईसके भाव और विचार अधिक मिलते जुलते हैं यहांतक कि परस्पर विवाहादि सम्बन्ध भी होते हैं। इंगलैंडकी ह्वैट-चापेल सरायके मालिककी अपेक्षा फ्रांस-विद्या-परिषद्के अध्यापकसे अक्सफ़ोर्डके अध्यापकको अधिक सहानुभूति होगी। यहांतक कह देना असत्य न होगा कि कनाडास्थित क्वेबेककी ब्रिटिश प्रजाका लंडनकी अपेक्षा पेरिससे अधिक सम्बन्ध है। डच अफ़्रिकाकी ब्रिटिश प्रजाका सम्बन्ध इंगलैंडकी अपेक्षा हालैंडसे अधिक है। हांगकांगकी ब्रिटिश प्रजाको लंडनकी अपेक्षा पेकिनसे अधिक प्रेम है। लंडनकी अपेक्षा रूमसे मिश्रकी सहानुभूति अधिक है;—इत्यादि, इत्यादि। हजारों तरहसे सामाजिक एकता राज्यसीमाओंको अतिक्रम कर रही है, और राज्यसीमा अब वस्तुतः एक मानी हुई बात है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य जातिका स्वाधीन और परस्पर-

विरोधी राज्योंमें विभाग जो जीववैज्ञानिक बतलाया जाता है वैज्ञानिक मूर्खता है।

अगले समयमें स्वाभाविक मानवी अभिमान और गर्वको सन्तुष्ट करनेको ही परदेशका विजय किया जाता था पर आजकलकी आवाजाई और घनिष्ट व्यवहारसे सम्बन्ध रखनेवाले कारणोंने उसे प्रायः व्यर्थ ही कर दिया है। जिस तरह आर्थिक दृष्टिसे हमारे ही समयके विशेष कारणोंने राज्यके लिए व्यक्तिकी उपमाको असंगत कर दिया उसी प्रकार इन कारणोंने भाव-रस-प्रधान उपमाओंको अघटित कर दिया है। जिस तरह बड़ा धनी मानी पुरुष अपने धनके कारण आदर पाता है और अपने अभिमान और गर्वको संतुष्ट कर लेता है, उस तरह एक बड़े राज्यके नागरिकको किसी छोटे राज्यके नागरिककी अपेक्षा अधिक आदर वा सम्मान-लाभकी कोई सुविधा नहीं है। बड़े भारी राष्ट्रका होनेके कारण कोई रूसी कंजड़का आदर नहीं करता और छोटे राष्ट्रके होनेसे कोई स्कन्दनवी (Scandinavian) वा बेल्जियन भलामानसका अपमान नहीं करता। अंग्रेज़ अहम्मन्य नवाबकी भी प्रतिष्ठा जो समाज उसके गर्वीले स्वभावके कारण न करेगा वही नारवे, हालैंड, बेल्जियम स्पेन, बल्कि पोर्टुगालतकके रईसोंका सम्मान करेगा। एक देशका रईस दूसरे देशके रईससे रोटीबेटीका व्यवहार राजी खुशी करेगा, किन्तु अपने देशके ही नीच श्रेणीवालेसे न करना चाहेगा। जिस वास्तविक भावने राज्योंमें भेद कर रक्खा है वह इतना छूछा है कि जब नित्यके व्यवहारकी बात आती है तब पर-राष्ट्रके बड़प्पनकी धाक नहीं रह जाती। जिस तरह आर्थिक मामलोंमें परस्पर सम्बन्ध और स्वार्थकी एकता राज्यसीमाओंको साफ़ पार कर जाती है उसी तरह मानसिक स्वार्थैक्य भी सीमोल्लंघन कर जायगा।

वास्तविक जीववैज्ञानिक नियमने—अर्थात् अपनी परिस्थितिके संग रगड़ा-रगड़ीमें एक ही जातिकी व्यक्तियोंमें परस्पर सहयोगिता और सहकारिता—जिस प्रकार अर्थक्षेत्रकी रगड़ा-रगड़ीमें मनुष्य जातिको अपना अनुगामी बना लिया है, उसी प्रकार भावक्षेत्रमें भी उसे अपना अनुगामी बनावेगा। हमें यह निश्चय हो जायगा कि वास्तविक मानसिक और नैतिकभेद राष्ट्रोंमें परस्पर नहीं है किन्तु जीवनके ही प्रतिकूल आदर्श-कल्पनाओंमें है। यदि यह भी

मान लिया गया कि मनुष्यके स्वभावसे झगड़ालूपन विरोध और वैर, जो उसके अंग से हो गये हैं, कभी दूर न होंगे—(यद्यपि ऐसे भावोंके रूप ऐतिहासिक कालमें ही इतने बदल गये हैं कि उनका ढंग ही और हो गया है)—तब भी हमें यह स्पष्ट दिखेगा कि मनुष्यके बनावटी झगड़ोंसे हटकर आध्यात्मिक गुण वास्तविक झगड़ोंकी ओर झुक रहे हैं। हमें यह समझमें आ जायगा कि जर्म्मन और अंग्रेज सरकारकी सेनाओंके परस्पर झगड़ोंकी जड़ "अंग्रेजी" और "जर्म्मन" स्वार्थ नहीं है, किन्तु दोनों ही राज्योंके अन्तर्गत अनियंत्रित व्यक्तिराज्य और प्रजाऽधीन राज्यशक्तिका परस्पर रगड़ा, अथवा साधारणस्वत्ववाद और व्यक्तिस्वातंत्र्य-वाद, अथवा वृद्धि और उसकी प्रतिक्रियाका झगड़ा है—समाज-वैज्ञानिकरीतिसे चाहे जैसा विभाग जिस ही दृष्टिसे कर लिया जाय। दोनों देशोंमें वास्तविक भेद यही है और इंगलैंडको जर्म्मनी वा जर्मनीको इंगलैंड जीत लेनेसे इस झगड़ेका रत्ती भर निबटारा न होगा। और जब यह झगड़ा अधिक तीव्र पड़ जायगा, तब जर्म्मन व्यक्तिस्वातंत्र्यवादीको यह सूझेगी कि (Socialism) समाजस्व-त्ववाद और (Trade Unionism) व्यापार-गोष्ठीसे—जो हमारी स्वाधीनता और स्वत्वपर आक्रमण कर सकते और करते हैं—इन दोनोंसे रक्षा करना, ब्रिटिश सेनासे रक्षा करनेकी अपेक्षा जो हानि नहीं पहुँचा सकती, अधिक आवश्यक है। उसी भांति ब्रिटिश टोरीको जर्म्मनोंसे कहीं अधिक मिस्टर लायड जार्जके बजटोंकी करतूतका डर और विशेष चिन्ता है*। और उस बातको समझ जानेके अनन्तर ब्रिटिश प्रजातंत्रवादीको केवल इतना ही

---

* ब्रिटिश देशभक्तको जितना अपने ही देशके विरुद्ध मतवालोंसे विरोधभाव है उतना भी जर्म्मनोंसे है वा नहीं, इसमें सन्देह हो सकता है। *National Review* में [Feb: 1911] (Leo Maxse) लिओ मक्सीद्वारा अंग्रेज़ राष्ट्रकी अधिक संख्या-से निर्वाचित अंग्रेज राजनीतिज्ञोंके लिए [जर्म्मनोंके लिए नहीं!] ऐसे ऐसे शब्द प्रयोग किये गये जैसे "मिस्टर लायड जार्ज अंग्रेजोंसे, अंग्रेजी वस्तुओंसे अत्यन्त जलते हैं और भीतर भीतर पूरे केल्ट हैं।" "मिस्टर चर्चिल केवल टमनीहालके राजनीतिज्ञ हैं, किन्तु उनमें टमनीहालवालों जितनी राजभक्ति भी नहीं है"। "हारकोर्ट साहब गोलके नायकोंके ढंगके हैं जो दिन दोपहर रईसोंको गालियां देते हैं किन्तु छिपे छिपे उनकी खुशामदें भी करते हैं।" मक्सीकी राय है कि कुछ राजनीतिज्ञोंपर अपराध लगाकर फांसी दिलवा दो। "(McKenna) मक-कन्ना साहब लार्ड फ़िशरके पढ़ाये मैना हैं और कामन्स सभा वही पुरानी बदनाम विषैली सभा है जिसके मंत्रीगणको जर्म्मनीके सियार लहवाया करते हैं।" इत्यादि।

समझना बाकी रहता है कि जो अपरिमित धन आज सैन्यबल बढ़ानेमें लग रहा है उसे सामाजिक कामोंमें प्रयोग करनेके लिए यदि रुकावट है तो केवल यही है कि उसके और वैरी राष्ट्रके प्रजातंत्रवादियोंके बीच परस्पर मेलजोल, सहकारिता, नहीं है। और यदि इतिहास निरर्थक नहीं है तो यह मेलजोल, यह सहकारिता बहुत शीघ्र ही पैदा भी हो जायगी। जब यह बात हो गयी, तो स्वत्व, पूँजी, व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद, दूरगामी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाका एक सुनिश्चित रूप बन जायगा जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय भेदभावकी दाल न गलेगी। जब ऐसी दशा हो जायगी तब दोनों राज्योंको यह विचार असंगत जचेगा कि मनुष्यके वास्तविक झगड़ोंका भेद राज्योंके बनावटी भेदसे खुल सकता है—यह बनावटी भेद धीरे धीरे शासनमात्रका भेद होता आता है और देशके भीतर वा देशोंमें परस्पर शुद्ध राष्ट्रीयताके बढ़नेमें तनिक भी रुकावट नहीं डालता।

बात रह जाती है केवल समयकी, कि यह उन्नति हजारों बरसमें होगी वा सैकड़ों बरसमें। किन्तु आधुनिक राष्ट्रोंका अन्योन्याश्रय पचास वर्षसे कुछ ही अधिकका है। अभी एक ही शताब्दी पहले इंगलैंड अपने ही आश्रयसे भरपूर रह सकता था, और उसकी रत्तीभर भी हानि न होती। उत्तरोत्तर वृद्धिके नियमको भूल न जाना चाहिए। वैज्ञानिकोंके मतसे इस पृथ्वीपर मनुष्यका निवास तीस हजारसे लेकर तीन लाख बरसतकका आंका जाता है। किन्तु कई बातोंमें उसने समस्त पूर्वकालकी अपेक्षा गत दो सौ बरसोंमें अधिक उन्नति की है। अबके दस बरसोंमें जितना कुछ परिवर्त्तन हम देखते हैं उतना पहलेके दस हजार बरसोंमें नहीं देखा गया था। कौन कह सकता है कि एक पीढ़ी आगे कितनी उन्नति हो चुकी रहेगी?

तीसरा अध्याय

मनुष्यका न बदलनेवाला स्वभाव

मनुजादत्व-कालसे हर्बर्ट स्पेंसरके कालतक मानवजातिकी उन्नति—राज्यकी ओरसे धर्म्म-सम्बन्धी अत्याचारोंका बन्द हो जाना—द्वन्द्वयुद्धका निर्मूलन—ईसाई धर्म्मयोद्धा और ख्रीष्ट-का समाधिमन्दिर—युद्धकी ओरसे मनुष्यकी चितवृत्तिके हटनेपर सैनिक लेखकोंका रोना।

इस विषयके वादविवादमें कुछ लोकोक्तियां कह कहकर सारी बात उड़ा दी जाती है। जिन्हें इस विषयपर वादविवाद करनेका अवसर मिला है वे इन लोकोक्तियोंसे भरपूर परिचित हैं। "मनुष्यका स्वभाव भी कहीं बदला जा सकता है?" "मनुष्य जैसा हज़ारों बरसतक रहा है, वैसा ही अब भी रहेगा। ऐसे ही ऐसे वाक्य कहे जाते हैं जिन्हें स्वतःसिद्ध समझा जाता है और जिनपर कोई अपवाद नहीं लाता। और यदि इस विचारको आदर देकर—कि मनुष्यके स्वभावमें अवश्य बड़े बड़े परिवर्त्तन हो गये हैं—इन स्वतःसिद्ध वाक्योंपर ज़ोर कम दिया जाता है, तो हमें यह भी समझाया जाता है कि युयुत्सामें यदि बहुत कुछ कमी आये भी तो हजारों बरस आगेकी बात है।

वास्तविक बातें क्या हैं? वे यों हैं—

(१)-इस मामलेमें यह बात जो मान ली जाती है कि मनुष्यका स्वभाव नहीं बदलता, ठीक नहीं है। (२)-मनुष्यका झगड़ालूपन यद्यपि एक दम लुप्त नहीं हो रहा है तथापि आजकलके यंत्र-सम्बन्धी तथा सामाजिक अभ्युदयके बलसे वृथा और हानिकारक उद्देश्योंसे हटकर अधिक उपयोगी उद्देश्योंकी ओर स्पष्टतः झुक रहा है, जिससे मनुष्यजातिको अपनी परिस्थितिसे रगड़ारगड़ीमें —जिसपर मनुष्यजातिका जीवन और अभ्युदय निर्भर है—परस्पर सहकारिता सुगम हो रही है। (३)-यह परिवर्त्तन ऐतिहासिक कालमें अद्भुत वेगसे हुए हैं। इनका वेग अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है, और यह वेग व्यक्त-निष्पत्तिसे नहीं प्रत्युत गुणोत्तर-निष्पत्तिसे बढ़ रहा है।

जो लोग यह दलील करते हैं कि मनुष्यका स्वभाव अपने समस्त अंग प्रत्यंगोंके साथ साथ सदैव ज्योंका त्यों बना रहता है, उनसे बड़ी नम्रतासे यह पूछना पड़ता है कि आप इतिहासकी व्याख्या कैसे करते हैं ! आदिकालमें मनुष्य पशुकी भांति, पशुओंसे लड़ता हुआ राक्षसी वृत्तिसे रहता था, लूटमारसे भुक्तिका उपाय करता था, स्त्रियोंको हर लाता था, मनुष्य मनुष्यको खा जाता था, कुटुम्बमें पुत्र पितासे अपनी विमाताओं वा दासियोंपर अपना अधिकार करनेके लिए लड़ जाता था। धीरे धीरे यह पशुतुल्य गड़बड़ाध्याय कुछ तो कम होने लगा और स्थिर व्यवसायकी ओर चित्तकी वृत्ति हुई और कुछ अधिक व्यवस्थित जातीय युद्धोंमें तथा हूणों और सामुद्रिक लुटेरोंकी भांति लूटमारकी चढ़ाइयोंमें परिवर्त्तित हो गया। कुछ दिनों पीछे इन लुटेरोंमें भी बहुतोंने अपना ढंग बदलकर सुव्यवस्थित व्यवसायकी ओर चित्त दिया, और कुछ जातिभेद वंशभेदके रसमी झगड़ोंकी ओर प्रवृत्त हुए। यह झगड़े भी धीरे धीरे राजवंशीय, देशीय और धार्म्मिक युद्धोंमें परिवर्त्तित हो गये। अन्तको अब राज्योंका परस्पर झगड़ा रह गया, और सो भी ऐसे कालमें जब कि राज्यके लक्षण और आदर्श जड़से बदलते जा रहे हैं।

"मनुष्यका स्वभाव न बदलेगा" इस अस्पष्ट वाक्यका अर्थ जो कुछ हो, पर मनुष्यस्वभाव निस्सन्देह जटिल है, उसके अनेक अंग हैं। उसमें असंख्य प्रवृत्तियां हैं, उनमें बहुतेरी तो परिस्थितियोंके उलटपलटके अनुसार औरोंके सम्बन्धमें बदल जाती हैं, यहांतक कि मनुष्यके स्वभावका परिचय होना कठिन हो जाता है। क्या इस अस्पष्ट वाक्यका यह अर्थ है कि उन प्राचीन नरपिशाचोंका, अपने वैरीको एवं बच्चोंको भक्षण कर जानेवाले राक्षसोंका स्वभाव वैसा ही था, जैसा आजके हर्बर्ट स्पेंसरका वा सवेरेकी गाड़ीमें शहर जानेवाले लंडननिवासीका है ? यदि मनुष्य-स्वभाव नहीं बदलता तो क्या यह समझें कि आजकलका शहरका किरानी अपनी बूढ़ी माताका भेजा निकालकर अपने नाश्तेके लिए रक्खेगा, वा लार्ड राबर्ट्स वा लार्ड किचनर चढ़ाईमें अपने शत्रुओंके बच्चोंको उछालकर भालोंपर रोकते हैं वा शत्रुओंकी स्त्रियोंके शरीरपरसे अपनी हवागाड़ी उसी तरह चलाते हैं जैसे अगले

निर्दयी विजेता अपने शत्रुकी स्त्रियोंके शरीरपर छकड़े चलवा देते थे ?

इन वाक्योंका वास्तविक अर्थ क्या है ? बड़े बड़े प्रसिद्ध लेखक इन वाक्योंको और बहुतेरे ऐसे ही वाक्योंको बड़ी बुद्धिमत्ता और गभीरतासे जान बूझकर लिखते हैं और हमारी पत्रिकाओं और समाचारपत्रोंमें तो इनकी भरमार है। किन्तु यदि सरसरी दृष्टिसे भी देखें तो यह सिद्ध हो जायगा कि न तो इनमें तनिक भी बुद्धिमत्ता है न गभीरता है, किन्तु साधारण ज्ञानशून्य तोता-रटान है, जो नित्यके अनुभवके सर्वथा विरुद्ध पड़ती है।

सच्ची बात यह है कि संसारकी नित्यकी बातें यह प्रकट कर रही हैं कि अपने साधारण बर्त्तावमें केवल इतना ही नहीं कि हम उन परिवर्त्तनोंपर तनिक भी ध्यान नहीं देते जो कलके हैं—जो हमारी ही पीढ़ीमें हुए हैं—वरन् हम मनुष्यस्वभावके उस परिवर्त्तनको भूल जाते हैं जो सामाजिक प्रकृति, रस्मरवाज और परिस्थितिमें भेद पड़ जानेसे हो जाता है। द्वन्द्वयुद्धका ही दृष्टान्त लीजिए। जर्म्मनी फ्रांस और इटलीके शिक्षित लोग भी कहेंगे कि भलेमानस द्वन्द्वयुद्धकी रीतिको छोड़ दें—यह मनुष्य स्वभावके विपरीत है। यह विचार कि प्रतिष्ठित लोग अपनी मर्य्यादाकी इतनी भी रक्षा न करें कि जो चाहे सो उनका अपमान कर दे, उनकी रायमें यह बात बिलकुल मूर्खताकी है, निरी कापुरुषता है। उनके साथ इसके विरुद्ध कोई दलील चल नहीं सकती।

तिसपर भी इंगलैंड, उत्तर अमेरिका, आस्ट्रेलियाके बड़े बड़े जनसमाज—निदान सारा ऐंग्लोसक्सन संसार—द्वन्द्वयुद्धको छोड़ चुका है, और सारे ऐंग्लोसक्सन समुदायको हम मूर्ख और नीच नहीं कह सकते।

ऐसा परिवर्त्तन मनुष्यके लड़ाकेपनके विरुद्ध अवश्य हुआ होगा। जिस लड़ाकेपनमें गर्व, अभिमान, अपने ऊँचे कुलका मान, निदान अन्तर्राष्ट्रीय रगड़ेमें जितने मानसिक कारण हैं सब सम्बद्ध हैं, उससे अवश्य यह परिवर्त्तन विपरीत पड़ा होगा। ऐसा परिवर्त्तन हमारे ही समयमें हो गया, यह विचारकर वह लोग भी एक क्षणके लिए ठिठक जायँगे जो मनुष्यके व्यवहार-

पर न्याय्यबुद्धिके शासनकी आशाको दुराशामात्र कहकर उड़ा देते हैं।

जितने मतभेद हैं सब पंचायतद्वारा निबट सकते हैं। इस बातको असंभव दिखानेके प्रयत्नमें रूसवल्टने यों कहा था—"जो आदमी अपमानका बदला नहीं चुकाता उसे जिस तरह हमलोग घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं उसी तरह हम ऐसे अपमान सहनेवाले राष्ट्रको भी घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं।"* राष्ट्रीय सैन्यबलकी उत्तरोत्तर वृद्धिको न्यायसंगत सिद्ध करनेके लिए यह बात कही गयी थी। रूसवल्ट साहब शायद यह भूल गये कि हमारे यहांसे द्वन्द्वयुद्धकी प्रथा उठ गयी है। जिनके विषयमें शायद रूसवल्ट साहब कह रहे थे वे ही हम अंग्रेज क्या लड़कर अपमानका बदला न चुकानेवालेको वस्तुतः घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं? इसके विपरीत क्या यह बात नहीं है कि हम उस मनुष्यको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं जो द्वन्द्वयुद्धद्वारा बदला चुकाता है? किन्तु यह परिवर्त्तन अभी इतने हालका है कि युरोपके राष्ट्रोंमें अधिकांशपर इसका प्रभाव अभी नहीं पड़ा है।

हम जो ऐसी सारहीन बातें कहा करते हैं कि हमारी राष्ट्रीय मर्य्यादा हमारे सिपाहियोंके हाथमें है, इससे अधिक स्पष्ट होता है कि हमारे नित्यके विचारोंकी अपेक्षा हमारे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक विचार पिछड़े हुए हैं। जब कोई मनुष्य अपनी मर्य्यादाकी दुहाई देता है तो यह समझ लेना चाहिए कि अवश्य कोई अनर्थ, वा नीच व्यवहार करेगा। मर्य्यादाकी दुहाई एक तरहकी प्रतिज्ञा वा शपथ है, उसका अर्थ अस्पष्ट और दूरगामी है और मनके ऊपर उसका मादक प्रभाव पड़ता है। उसकी अस्पष्टता इतनी है, उसके अर्थमें इतना लचीलापन है कि एक ही घटनाको जी चाहे तुच्छ और अ-हानिकर समझ लो चाहे उसके लिए लड़ जाओ। इन बातोंमें हमारा अन्दाज़ा स्कूली लड़कोंका सा दिखता है। कहीं किसी विदेशी समाचारपत्र-लेखकने हमारी हँसी उड़ायी, वा कोई बेहूदा कार्टून छापा कि देशके एक छोरसे दूसरे छोरतक लड़ाईके कुत्ते भूँकने लगे।† हम उसके "राष्ट्रीय मानरक्षा" "बलपूर्वक

---

* Speech at Stationer's Hall, June 6, 1910.

† बोअरयुद्ध छिड़नेपर फ्रेंचपत्रोंके कई कार्टूनोंपर जो आततायी अंग्रेजी पत्रोंने हल्ला

प्रतिष्ठा कराना" और न जाने क्या क्या बड़े बड़े नाम रखते हैं। किन्तु अन्तको बात उतनी ही है।

सभ्य समाजमें ऐंग्लो-सक्सन दुनियांने जो एक उन्नतिविशेष की है उसका स्पष्ट लक्षण यह है कि यह पुराना विचार अब उठ गया कि हममें एक अद्भुत और विशेष प्रकारकी मानमर्य्यादा भी है जिसकी रक्षा तलवारसे ही होती है। इसे उन्नीसवीं शताब्दी-का एक प्रसिद्ध और खरा नैतिक लाभ समझना चाहिए। और जब कभी हम यह देखें कि मनुष्योंके मनमें यह विचार फिर लहरा रहा है तो हमें न्याय्य दृष्टिसे यह आशा करनी चाहिए कि नैतिक अभ्यु-दयमें शारीरिक और मानसिक दोनों क्षेत्रोंमें जो कभी कभी पुनरा-वर्त्तन हो जाया करता है, यह उसी तरहका पुनरावर्त्तनमात्र है।

दो तीन पीढ़ी पहले ऐंग्लो-सक्सनोंमें भी इस विषयमें व्यक्ति-की नाईं समाजके न्याय्याचारमें ऐसी उन्नति उसी तरह अनुचित और असम्भव समझी जाती थी जिस तरह वर्त्तमान कालमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिकी आशाको दुराशा समझते हैं। आज भी युरोप-का महाद्वीपीय राजपुरुष पूर्ण दृढ़तापूर्वक यह मानता है कि व्यक्तिगत मर्य्यादाकी रक्षा विना द्वन्द्वयुद्धके असंभव है। ऐसा कोई भी राजपुरुष बड़े निश्चयोल्लाससे पूछ बैठेगा कि "भला बताइये यदि आपके ही वर्गका कोई व्यक्ति आपका खुल्लम-खुल्ला अपमान करे तो क्या करेंगे? क्या आप उसे पुलीसकी कचहरी-में तलब कराकर अपने मानकी रक्षा करेंगे? और इस प्रश्नसे ही—इसके निषेधेष्ट भावपर ही—मामलेका तुर्तफुर्त्त निबटारा मान लिया जायगा।

जहां राष्ट्रीय मर्य्यादाका प्रश्न आता है वहां देशभक्तोंकी आलंकारिक भाषामें द्वन्द्वयुद्धके भावका आ जाना अब भी नित्यकी बात है। कहते हैं कि हमारे राजपुरुषोंका स्वधर्मपालन नहीं, किन्तु हमारी जलस्थलसेना ही हमारे राष्ट्रीय मानकी रक्षक है। द्वन्द्वयुद्ध-वादीकी भांति देशभक्त भी यही दृढ़ कराना चाहता है कि

मचाया था, हमें इस अवसरपर उसकी याद आती है। याद रहे कि तब फ्रांस "शत्रु" था और मिस्टर चेम्बरलेनकी एक वक्तृतानुसार जर्म्मनीसे "मित्रवत्" भाव था। उस समय हम फ्रांससे उतना ही वैरभाव रखते थे जितना अब जर्म्मनीसे रखते हैं और यह केवल दस ही बरसकी बात है!

मानभंगपर लड़कर मर जानेसे मानभग्नकी कालिमा छूट जाती है। यदि पंचायत संभव भी हो तो देशभक्त राष्ट्रीय मानके प्रश्नोंपर पंचायतसे दूर ही रहेगा। उसकी यही धारणा होगी कि हमारी राष्ट्रीय ध्वजापर लगी हुई कालिमा रक्तसे ही धुलेगी। छोटे छोटे राष्ट्रोंको जो ऐसे मामलोंमें बड़े बड़े साम्राज्योंसे बदला चुकानेकी क्षमता नहीं रखते ऐसे मानवान बननेका कोई अधिकार नहीं है। यह अधिकारविशेष संसारमें विस्तृत बड़े बड़े साम्राज्योंको ही प्राप्त है। जो देशभक्त ध्वजाके अपमानका यों बदला चुकाना चाहे उससे भले ही यह पूछा जाय कि जिस सेनाध्यक्षने अपनी वर्दीके अपमान-पर शस्त्रहीन सिविलियनकी हत्या कर डाली, क्या उसका कार्य्य न्यायसंगत समझा जायगा ?

देशभक्तको अभी यह बात शायद नहीं सूझी है कि जैसे द्वन्द्व-युद्धकी प्रथाको उठा देनेसे व्यक्तिगत मानमर्य्यादाकी तथा व्यवहारकी हानि नहीं हुई प्रत्युत लाभ ही हुआ है उसी तरह कोई कारण नहीं है कि ऐसा ही कुछ परिवर्त्तन अपने राष्ट्रीय नियमोंमें कर लेनेसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार वा राष्ट्रीय मर्य्यादाको कोई हानि पहुँच सके।

व्यक्तिगत सम्बन्धमें द्वन्द्वयुद्ध जिन सिद्धान्तोंपर निर्भर है उनपर हमारे समयके सभी ऐंग्लोसक्सन बेहद हँसी उड़ाते हैं। किन्तु राज्योंके परस्पर सम्बन्धमें वे ही बड़ी दृढ़तासे इन्हीं सिद्धान्तोंकी रक्षा करते हैं।

यद्यपि द्वन्द्वयुद्धकी प्रथाके त्यागमें बड़ा गभीर परिवर्त्तन सम्मि-लित है, तथापि इससे भी अधिक जगद्व्यापी परिवर्त्तन, जिसका प्रभाव हमारे मानसिक वेगोंपर और भी अधिक पड़ता है, हालके ऐतिहासिक कालमें ही हो गया है। वह यह है कि अपनी प्रजापर अपने धार्मिक मन्तव्योंके माननेका बलपूर्वक दबाव डालना युरोपके राज्योंने छोड़ दिया है। सैकड़ों बरसतक, पीढ़ी प्रति पीढ़ी शासकका अधिकार तथा धर्म्म समझा जाता था कि वह जो चाहे सो माननेके लिए प्रजाको आज्ञा दे।

जैसा कि लेक्कीने दरसाया है, जो बातें असंख्य पीढ़ियोंसे सारे स्वार्थोंके चक्रका केन्द्र बन रही थीं वह एकदम लुप्त हो गयी हैं। जिन भेदोंको मिटानेमें राजनीतिकोविद उलझे रहते थे वे अब भविष्यवाणियोंके अर्थ लगानेवालोंके विचारोंमें ही पाये जाते हैं।

राष्ट्रोंके मिलनेमें जिन रागद्वेषके भावोंका प्रभाव पड़ता था उनमें उस मताग्रहका जिसका मनुष्यके हृदयपर पहले पूरा राज्य था अब प्रायः अभाव ही है। अब ऐसा परिवर्त्तन हो गया है जो मनुष्यके मानसिक वेगोंके तहतक पहुँच जाता है। "जो मानसिक वादानुवाद तत्त्वान्वेषणके लिए शास्त्रानुसार अत्यन्त आवश्यक हैं, उनमें प्रायः हरेक सत्रहवीं शताब्दीतक घोर पाप समझा जाता था, और विवेक-विरुद्ध अधिकांश घातक पाप जानबूझकर पुण्य मान लिये जाते थे।"

उस समय यदि किसीने यों बहस की होती कि प्रोटेस्टंट और कथलिकके झगड़ोंका बलपूर्वक निबटारा नहीं हो सकता, और यह कि ऐसा भी समय आवेगा कि मनुष्य इस सचाईको समझ जायगा और युरोपीय राज्योंमें परस्पर धर्म्मयुद्धको ऐसा असभ्य ऐसा कालविरुद्ध समझेगा जिसकी कल्पना नहीं हो सकती—तो उसे लोग कहते कि असंभव मतका प्रतिपादन करना चाहता है और "मनुष्यके स्थायी स्वभावकी" मोटी मोटी बातोंको भी नहीं समझता।

राज्योंमें परस्पर धार्मिक रगड़ेकी एक विचित्र घटना ऐसी है जिसमें मानव जातिके भावोंके परिवर्त्तनका स्पष्ट उदाहरण मिलता है। यरूशलीमके खीष्टीय समाधिमंदिरको हस्तगत करनेको दो सौ बरसके लगभग ईसाई लोग मुसलमानोंसे लड़े। युरोपके समस्त राष्ट्रोंने इस महाप्रयत्नमें योग दिया। उस समय उनको एकमें मिलानेके लिए यही एकमात्र उद्देश्य दिखता था और इस हलचलके विषयमें ऐसी गंभीर उत्तेजना थी कि लड़ाई कई पीढ़ियोंतक जारी रही। इतिहासमें प्रायः इसकी यथावत् तुलनायोग्य कोई और घटना हुई ही नहीं। मान लो कि उस अवसरपर उस समयके किसी युरोपीय राजनीतिनिपुणसे कोई मनुष्य यों कहता कि आगे समय आवेगा कि युरोप मुसलमानोंको अपनी मुट्ठीमें कर लेगा और इतना अधिकार हो जायगा कि उसके प्रतिनिधि चाहें तो एक कलममें सदाके लिए पवित्र समाधिमंदिरको ईसाई शक्तिके हाथमें दे दें, किन्तु वे ही एक कमरेमें एकत्र हो केवल एक घड़ीकी सरसरी बहससे यह निश्चय कर लेंगे कि समाधिमंदिरको हस्तगत करना इतने प्रयासयोग्य भी नहीं है! यदि किसी मध्यकालिक राजनीतिदक्षसे यह बात कही जाती तो वह इस भविष्यवाणीको पूरा

पागलपन समझता। किन्तु वस्तुतः यही घटना अन्तको देखनेमें आयी।*

युरोपके इतिहासकी सामान्य घटनाओंपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट हो जायगा कि मनुष्योंकी मतिमें ही नहीं किन्तु उनके हृदयमें भी प्रत्यक्ष रीतिसे गहिरा परिवर्त्तन हो गया है। ठीक ठीक उसी मानवप्रकृतिमें परिवर्त्तनके कारण—जिसे युद्धवादी दृढ़तापूर्वक असम्भव कहता है—जो बातें हमारे पितामहके समयमें नित्य होती थीं हमारी श्रेणीकी सभ्यतामें अब नहीं हो सकतीं। वास्तवमें धर्म्मभावमें जिस परिवर्त्तनकी चर्चा अभी की गयी है उसका कारण जैसे मत बदलना है उसी तरह श्रद्धादि भावका भी बदल जाना समझना चाहिए। खीष्टधर्म्म-ध्वजोंका यह कहना कि गर्भमें प्रवेश करनेके ही अपराधपर बे-बपतिस्मा-पाये बालकको मरनेपर अनन्त कालतक नरककी यातनाएं भोगनी पड़ेंगी, आज हमारे समयमें ईसाइयोंके बीच भी केवल भावपक्षसे अत्यन्त असम्भव समझा जायगा।† पहले जिसे नितान्त सत्य मानते थे

---

* "History of the Rise and Influence of the Spirit of Rationalism in Europe" नामक ग्रंथमें लेकी (Lecky) कहता है "शक्ति साम्यकी राजनीतिक चिन्तासे नहीं किन्तु गभीर धार्मिक उत्तेजनासे ही ईसाई युरोपनिवासी उस स्थानके प्राप्त करनेमें लगे थे जो उनके धर्म्मकी मूर्त्ति तथा जन्मस्थल था। धार्म्मिक उत्साहने सारे स्वार्थोंको दबा लिया था, सब जातियोंको वशमें कर लिया था और अन्य सभी भावोंको या तो दमन कर लिया था या उनपर अपना ही रंग चढ़ा दिया था। उसकी शक्तिसे शताब्दियोंका कठिन वैर शान्त हो गया था। उसके प्रभावसे राजनीति-दक्षोंकी गुप्त अभिसन्धियोंका तथा राजाओंकी परस्पर ईर्ष्याका लोप हो गया था। कहते हैं कि इस झगड़ेमें बीस लाखके लगभग जानें गयीं। उसकी सफलताके लिए शासनकी उपेक्षा, खजानेका खाली हो जाना, देशका प्रजाहीन हो जाना कोई बड़ी बात नहीं समझी गयी। संसारका कोई युद्ध इतना लोकप्रिय नहीं हुआ, किन्तु ये युद्ध सबसे अधिक प्राणनाशक और सबसे अधिक निःस्वार्थ भी थे।

† ईसाई संत अगस्त्यायन (St. Augustine) यों लिखते हैं—"निश्चय जानो और इसपर सन्देह न करो कि केवल वे मनुष्य ही नहीं जो बुद्धि-विवेकवान हो चुके हैं, किन्तु वे नन्हे बच्चे भी जो गर्भमें ही मर गये, वा जन्म लेकर बिना बपतिस्मा पाये मरे, नरककी अनिर्वाप्य अग्निमें अनन्त कालतक तड़प तड़पकर अन्योन्य यातना भोगेंगे"—इस सिद्धान्तको स्पष्ट करनेके लिए दो बच्चोंवाली एक माताका दृष्टान्त देते हैं। दोनों बच्चोंने अभी कोई पाप पुण्य नहीं किया था। दैवयोगसे मातासे दबकर एक बपतिस्मा होनेसे पहले ही मर गया और अनन्त

उसे ही अब घृणित और भीषण समझते हैं। लेकीके कथनानुसार फिर भी "ख्रीष्टीय संसारमें देखते ही देखते महान परिवर्त्तन हो गया है। एक पुराना सिद्धान्त विना किसी उद्वेग वा हलचलके मनुष्यकी ज्ञानसीमासे बाहर हो गया।"

यह अभ्युदय केवल धार्म्मिक परिधिमें नहीं हुआ है, ऐसे सभ्य समाजमें भी जो बहुतेरी बातोंके लिए सराहनीय था एक गुलामके अपराधपर चारसौ गुलामोंकी हत्या की गयी। एक रूपवती युवती-की क्षणिक इच्छापर एक गुलामको शूली दी गयी। दो एक पीढ़ीके पीछे ही मनुष्योंकी यातनाओंका तमाशा बड़े बड़े जन समुदायने आनन्द और उत्साहपूर्वक देखा और उसको तिहवारकी नाईं माना*। इतिहासकी दृष्टिसे अभी कलकी ही बात है कि राजाओंने स्वयं जादूटोनेके अपराधियोंको अपने ही हाथों भांति भांति यातना पहुँचायी है। (Pitcairn) पित्तकर्णने अपने "Criminal Trials in Scotland" नामक ग्रन्थमें लिखा है कि (Dr. Fian) डाक्टर फ़ायनको समुद्रमें तूफ़ान उठानेका अभियोग लगाया गया जिसपर स्काटलैंडके महाराजा प्रथम जेम्सने स्वयं उपस्थित होकर उसे अनेक यातनाएं दीं। अभियुक्तकी टांगोंकी हड्डियोंको बूटके भीतर ही मार मारकर चूरा कर दिया गया और राजाने स्वयं एक और

कालकी यातनाको प्राप्त हुआ। दूसरेका बपतिस्मा हुआ और वह यमयातनासे बच गया।

* यह बात पर्य्याप्त रीतिसे स्पेनके अत्याचारोंसे सिद्ध होती है। (Madrid) माद्रिदकी चित्रशालामें फ्रांसिस्को रिज्ज़ीकृत प्राणदंडका चित्र है जिसमें द्वितीय चार्ल्सके विवाहके ठीक पूर्व ही राजा चार्ल्स, उसकी होनहार रानी, उसके दरबार और माद्रिदके पादरियोंके सामने शूली चढ़ानेके लिए धर्म्मपर प्राण देने-वालोंका एक जुलूस निकाला गया। एक बड़ा मैदान नाट्यशालाकी भांति सजाया गया था और दरबारी कपड़े पहने युवतियां खचाखच भरी हुई थीं। राजा एक ऊँचे मंचपर बैठा था और उसे बड़े बड़े रईस अमीर उमरा घेरे खड़े थे।

अपने History of the Inquisitionमें लिम्बोर्क वर्णन करता है कि ऐसे ही एक अवसरपर एक षोड़शवर्षीया युवती शूलीकी यातना भोगनेको आयी। उसके सौन्दर्य्यपर सभी दर्शकगण मुग्ध हो गये। शूलीकी ओर जाते हुए उसने महारानीकी दुहाई देकर यों कहा "महारानी, क्या श्रीमतीके होते हुए मेरी इस यातनामें कुछ कमी नहीं हो सकती? मेरी जवानीपर दया कीजिए और इस बातपर विचार कीजिए कि मुझे उस धर्म्मके लिए दंड मिल रहा है जिसे मैंने माताके स्तनके साथ साथ ग्रहण किया है।" [कदाचित् इस प्रार्थनापर भी महा-रानीका कोमल हृदय नहीं पसीजा! (अनुवादक)]

'तनाका प्रस्ताव किया और उसे अपने सामने कार्य्यमें परिणत कराया, अर्थात् दोनों हाथोंसे नाख़ून चिमटियोंसे पकड़ पकड़कर अंगुलियोंसे निकाल लिये गये और हरेक रक्तस्रावक ठूंठमें दो दो सूइयां भरपूर घुसेड़ दी गयीं !

क्या कोई सच्चे मनसे यह दुराग्रह करनेको तय्यार है कि इन बातोंमें आजकलकी जीवनवृत्तिने मानसिक प्रवृत्तियोंको बदल नहीं दिया है ? क्या कोई सचमुच इस बातसे इनकार करेगा कि हमारे प्रशस्त विचारोंका परिणामरूप हमारी उदार दृष्टिसे और हमारे विस्तीर्ण ज्ञानसे ऐसा परिवर्त्तन हो गया है कि अब लंडन, एडिनबरा वा बर्लिनमें ऐसे अत्याचारोंका फिर होना असंभव हो गया है ?

अथवा, क्या यह दलील सच्चे दिलसे की जाती है कि फिर ऐसी दुर्यातना हमारे देखनेमें आवेगी, और किसी सुन्दर बालकको जीते जी जला देनेमें क्या किसी समय हमको मानसिक सुख हो सकता है ? क्या अपने धर्म्म-वैरीसे कथलिक और प्रोटेस्टंटको सचमुच अबतक ऐसी दुर्यातनाओंका भय है ? यदि विचारमें उन्नति होनेपर भी मानवी प्रकृति नहीं बदलती, तो अवश्य भय है और सर्वसाधारणमें धर्म्मकी स्थापना युरोपकी बड़ी भूल है, और प्रत्येक पंथवालेको पहलेकी नाईं अपने विरोधीसे भिड़नेके लिए सशस्त्र रहना चाहिए और धर्म्मरक्षा और शान्तिकी वास्तविक आशा तभी हो सकती जब एक ही जगद्व्यापी धर्म्म माननेको सारा खीष्टीय संसार बाध्य किया जाय। पहलेके धर्म्मपरीक्षककी युक्ति भी यही थी, जैसी आज *the Spectator* नामक पत्रकी है, कि राजनीतिक शान्ति तभी हो सकती है जब एक ही स्वतंत्र जगद्व्यापिनी शक्ति शासन करे*—

"युद्धको और युद्धकी तैयारीको बन्द कर देनेका केवल एक ही उपाय है और हमारे पूर्वकथनानुसार वह जगद्व्यापी राज्य ही है। यदि हम सोच लें कि एक ही देश—मान लो रूस ही सही—इतना शक्तिसम्पन्न हो गया कि समस्त संसारके हथियार रखवा ले और इतनी बड़ी सेना रक्खे जिसके बलसे एक शक्ति दूसरीके अधिकारोंपर आक्रमण न कर सके......तो निस्सन्देह संसारव्यापिनी शान्ति स्थापित हो सकती है।"

यह वाक्यावली (Russian Holy Synod) रूसी पवित्र-

**Spectator*, December 31, 1910.

धर्म्मसभाके पूर्व्वभूत (Procurator) व्यवस्थापकके एक सहकारी-की उतनी ही ज़ोरदार वाक्यावलीकी याद दिलाती है—

राज्यभरमें धार्म्मिक शान्ति स्थापन करनेका उपाय एक यही है कि राज्यान्तर्गत सारे मनुष्य राज्य-धर्म्मको ही मानें। जो न मानें उन्हें शान्तिरक्षाके लिए देशसे बाहर कर देना चाहिए।

समस्त ग्रन्थकारोंमें शायद लेकीने ही धार्म्मिक उपद्रवोंके लोप-पर सबसे अधिक सूझकी बातें लिखी हैं। लेकीका कहना है कि विरोधी सम्प्रदायोंका झगड़ा धार्म्मिक भावसे उठा और यद्यपि यह भाव प्रायः उच्च विचारवाला और निःस्वार्थ था तथापि शुद्ध-बोधद्वारा परिष्कृत नहीं था। लेकी बड़े ज़ोरसे इस विचारका—कि धार्म्मिक उपद्रवका मूल उद्देश्य स्वार्थसाधन था—प्रतिवाद करता है। वह यह भी कहता है कि जो बे-समझी पहले धर्म्मभावमें थी, वही अब देशभक्तिमें हो रही है। लेकी कहता है—

यदि इतिहासके मार्गको हम उदार दृष्टिसे देखें और बड़े बड़े मनुष्य समुदायोंके परस्पर सम्बन्धपर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इनपर विशेषतः धर्म्म और देशभक्तिका ही नैतिक प्रभाव पड़ा है और यह कहना अत्युक्ति न होगा कि इन्हीं दो शक्तियोंके अलग अलग रूपान्तर और परस्परकी क्रिया और प्रक्रियासे मानवजातिका नैतिक इतिहास बन जाता है।

क्या यह समझा जाय कि धार्म्मिक सिद्धान्त और विश्वासके अधिक जटिल देशमें जो न्यायबुद्धि और भलमनसाहत आ गयी है क्या वही देशानुरागके प्रदेशमें न आएगी? अधिक विशेषतासे आएगी, क्योंकि उक्त ग्रन्थकारके अनुसार भी पहले प्रदेशमें सम्पत्ति-विषयक स्वार्थोंसे ही सुधार हुआ है और "इसलिए भी कि ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती जाती है त्यों त्यों केवल भाव-रस-विभिन्न स्वार्थका ही साम्राज्य नहीं बढ़ता जाता किन्तु भाव स्वयं उसकी शक्तिका अनुगामी होता जाता है।

क्या इस बातका सचमुच पूरा प्रमाण हमें नहीं मिल रहा है कि स्वदेशानुरागका जो भाव पहले सम्पत्ति-स्वार्थसे एकदम अलग था अब सम्पत्तिस्वार्थके दबावसे उसमें रूपान्तर होता जाता है? राष्ट्रीय अन्योन्याश्रयकी जिन असंख्य घटनाओंका मैंने यहां वर्णन किया है क्या उनसे विवशतः वही परिणाम नहीं निकल रहा है?

क्या हमारा यह समझ लेना न्याययुक्त नहीं है कि जैसे बुद्धि-विकाशसे भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंका बिना दंगा फ़सादके एकत्र रहना संभव हो गया है, जैसे धर्म्मपक्षमें एक सर्वमान्य धर्म्मका शासन वा अनन्त कालतकका रगड़ा दोनोंमें एकको भी विवशतः स्वीकार नहीं करना पड़ा है, ठीक उसी तरह राजनीतिक बुद्धि-विकाशसे राजनीतिक सम्प्रदायोंके परस्पर सम्बन्धका विकाश हो जायगा; तथा शारीरिक वलप्रयोगकी निःसारताके ज्ञानसे दबावमें रखनेका रगड़ा वन्द हो जायगा और बिना किसी संधि वा धार्म्मिक मैत्री स्थापनके ही जगद्व्यापी शासन वा जगद्-व्यापी रगड़ेके बदले संसारका लोकमत यह निश्चय कर लेगा कि प्रत्येक मनुष्य जिस तरह अपने धार्म्मिक विचारोंमें निर्विघ्न अपने मार्गपर चलता है उसी तरह अपने राजनीतिक विचारोंमें निर्विघ्न आचरण करे।

इतनेपर भी इस बातका सबसे दृढ़ प्रमाण कि मानवी प्रवृत्ति-योंका सारा प्रवाह राज्योंमें परस्पर-युद्धवाली रगड़ारगड़ीके विरुद्ध है उनके ही लेखोंमें मिलता है जो युद्धको अवश्यम्भावी बतलाते हैं। इस विभागके पहले अध्यायमें जिन ग्रन्थकारोंके वाक्य उद्धृत किये गये हैं उनमें एक भी ऐसा नहीं है जिसकी युक्तियोंपर पूरा विचार करनेसे यह स्पष्ट न हो जाय कि वह जानबूझकर या वेजाने ही इस बातको मानता है कि मनुष्यका लड़ाका स्वभाव ज्यों का त्यों बने रहनेके बदले बड़े वेगसे वलहीन होता जाता है। एक हालके ही बने ग्रन्थका उदाहरण लीजिए जो सिद्ध करता है कि युद्ध अवश्यम्भावी है, प्रत्युत यह कि उसे रोकनेका प्रयत्न करना वा रोकना वास्तवमें बड़ा दुष्कर है और बड़ी मूर्खता है।* यद्यपि युद्धकी अवश्यम्भाविता ही ग्रन्थका विषय है, तथापि उसके पहले विभागका नाम "युयुत्साका ह्रास" रक्खा गया है और वस्तुतः यह स्पष्ट दरसाया गया है कि संसारका व्यापारिक व्यवसाय युद्धके बिलकुल विरुद्ध ही संसारको लिये जा रहा है।

"जलस्थलसेनाकी अपेक्षा व्यापार, रुपये और बंधक रखना आदि अधिक

---

* जेनरल लीके "The Valour of Ignorance" नामक ग्रन्थके उद्धृत वाक्योंको १४६–७ पृष्ठपर देखिये।

लाभदायक सम्पत्ति और शक्तिके मूल समझे जाते हैं और यही राष्ट्रीय कापुरुषता और दुर्बलता उत्पन्न करते हैं।"

जब यह प्रवृत्ति खीष्टीय युरोप ही नहीं वरन सारे संसारकी हो चुकी है—और उसका कारण यह है कि व्यापारिक और औद्योगिक अभ्युदय जगद्व्यापी है—तो इसका यही अर्थ है कि जो बात एक राष्ट्रपर लागू है वही सारे संसारपर भी लागू है और सारे संसारकी प्रवृत्तिका प्रवाह युद्धके विरुद्ध होता जाता है।

जेनरल लीके ग्रंथमें अधिकांश घूमघामकर फिर फिर उनके स्वदेशी अमेरिकनोंके औद्योगिक और सामाजिक जीवनके अश्रान्त व्यवसायवाले "ठूसने और उगलनेका" वर्णन है, उनका कहना है कि जब किसी देशका उद्देश्य केवल उद्योग और सम्पत्ति पैदा करना हो जाता है तो "राष्ट्रोंमें वह पेटू, गँवार, डींग मारनेवाला और शूकरप्रकृति हो जाता है" और "अमेरिका-निवासियोंके ऊपर तो व्यापारनीतिने पूरा अधिकार जमा लिया है, एवं उसे एकदम ढके हुए है, और केवल इतना ही नहीं कि राष्ट्रके बड़े बड़े हौसलोंको तथा उसके संसारव्यापी उन्नतिके मार्गको नष्ट कर रहा है वरन् प्रजातंत्रराज्यकी ही जड़ खोद रहा है।" "वास्तविक देशानुराग"—अर्थात् पराये लोगोंके नाशकी इच्छा—तो जेनरल लीके कथनानुसार संयुक्तराज्योंमें मृतप्राय है। अमेरिकामें उत्पन्न हुए मनुष्योंमें भी राष्ट्रीय आदर्शोंका बुरी तरहसे अधःपतन हो गया है।

"सैनिक आदर्शोंसे व्यक्तियोंको ही विरोध नहीं है वरन् सर्वसाधारणको उनसे अरुचि हो गयी है। राजनीतिवादी, समाचारपत्र, धर्म्ममंदिर, विश्वविद्यालय, मजूरोंकी गोष्ठियां, सिद्धान्ती, सुव्यवस्थित संस्थाएं सब विरुद्ध हो गयी हैं। वह सैनिक भावसे ऐसा कठिन विरोध कर रहे हैं कि मानों वह भी एक देशका दुर्दैव वा राष्ट्रीय महापातक है।"

जब बात ऐसी ही है तो (दुहाई है इस गड़बड़ाध्यायकी!) फिर उस "युद्धकी-ओर-मनुष्यकी-स्थायी-प्रवृत्ति"का क्या फल हो रहा है? हमने जेनरल लीके लेखोंपर कुछ ज्यादा विचार इसलिए किया है कि यदि उनके वाक्य नहीं तो उनके सिद्धान्त अवश्य इंगलैंड, फ्रांस और जर्म्मनीमें विशेषतः और युरोपमें साधारणतः समानसाहित्यमें भरे पड़े हैं। अतः मैं पूँछता हूं कि जेनरल लीका

यह अद्भुत अर्थालंकार, ये विचित्र वाक्यविन्यास यदि इस बातका प्रमाण नहीं हैं कि मनुष्यकी सारी प्रवृत्तियां युद्धविरुद्ध हैं—न कि युद्धकी अनुवर्त्तिनी—तो क्या हैं? देखिये एक ग्रन्थकारकी दशा—जो कहता है कि युद्ध सदैव अवश्यम्भावी है और साथ ही साथ यह भी कहता जाता है कि मनुष्योंमें बहुत ही शीघ्र युद्धसे केवल तामसिक उपेक्षा ही नहीं उत्पन्न हो रही है वरन् सैनिक आदर्शसे बहुत गभीर द्वेष फैल रहा है!

इसमें सन्देह नहीं कि जेनरल लीका अभिप्राय यह है कि यह प्रवृत्ति अमेरिकनोंकी ही विशेषता है, अतः उनके देशके लिए भय-का कारण है, किन्तु सच्ची बात यह है कि फ्रांस और जर्म्मनीका साहित्य भी ठीक ठीक यही बात अपने देशके बारेमें इस तरह कह रहा है कि जेनरल लीका ग्रन्थ उन्हीं पुस्तकोंका मर्मानुवाद सा लगता है।* इन चार बड़े देशोंके जितने इस विषयके ग्रन्थकार हैं जहांतक मुझे याद है सभी युद्धकी अवश्यम्भाविताकी चर्चा करते हुए, अपने ही देशकी युद्ध-विरुद्ध प्रवृत्ति वा युद्धके आदर्शसे अधः-पतनका रोना रोते हैं। *Daily Mail* नामक दैनिकमें जेनरल लीके ग्रंथका समालोचक इस तरह बिना कहे नहीं रहता कि

"क्या यह भी दिखानेकी आवश्यकता होगी कि अमेरिकनकी भांति हमें भी इस ग्रन्थसे शिक्षा मिलती है? जितनी बात ली महाशय कहते हैं उनमें प्रायः सभी बातें निस्सन्देह ब्रिटेनपर उतनी ही लागू हैं जितनी संयुक्तराज्योंपर। हम भी पड़े ख़र्राटे लेते रहे हैं। हमने अपने आदर्शोंको मैला होने दिया है। हम पेटू हो गये हैं, और...... । लज्जा और मूर्खताकी कालिमा जैसे हमारे भाइयोंको लगी वैसे ही हमें भी लगी है। हमें अपनी सारी शक्तियां लगाकर उन्हें शीघ्र ही

---

* जैसे (Captain d'Arbeaux) कप्तान डरबाज़ ही ("L Officier Contemporaine," Grasset, Paris, 1911) "सैनिक आदर्शके उत्तरोत्तर ह्रासका" रोना रोते हुए कहते हैं कि इस अधःपतनसे देशका सर्वनाश हो रहा है। सन १९११में मराकोके झगड़े तथा और कारणोंसे जो आततायी देशाभिमान पुन-र्जीवित हुआ, उसका प्रभाव इस विषयकी सत्यतापर नहीं पड़ता। दिसम्बर १९११का (Matin) "प्रभात" यों कहता है कि "St. Cyr और St. Maixentकी सैनिक-संस्थाओंमें प्रवेश करनेवालोंकी संख्या भयानक रीतिसे घटती जा रही है। कुछ बरसों पहले जो संख्या थी अब उसका चौथाई भी नहीं रहा।......सेनामें भरती होनेकी ओर जो पहले रुचि थी अब नहीं रही।"

धो डालना चाहिए जिसमें भविष्य संसारमें हम निःसंकोच मुँह दिखाने योग्य रहें।"

मिस्टर ब्लचफ़ोर्ड जैसे युद्धपक्षके अग्रगण्योंके लेखोंसे भी यही ध्वनि निकलती है। आप ब्रिटिश जातिकी रणसे विरतिको "घातिनी" कहते हैं। औरोंकी हत्याके लिए उसकी प्रवृत्ति न देखकर बड़े क्रोधसे कहते हैं कि लोग अभिमानी स्वार्थी क्षयोन्मुख और लालची हो गये हैं। साम्राज्यके लिए चिल्लायँगे सही पर लड़ेंगे नहीं।* *Blackwood's*, the *National Review*, the *Spectator*, the *World* आदि पत्रोंमें भी ऐसे ऐसे उद्गार निकल आते हैं।

मिस्टर ब्लचफ़ोर्ड यह अवश्य कहते हैं कि जर्म्मनोंकी दशा इससे बहुत भिन्न है और जेनरल लीका अपने देशकी चर्चामें "ठूसना और उगलना" कहना जर्म्मनीकी चर्चामें लागू नहीं है। परन्तु सच्ची बात यह है कि जिस वाक्यको मैंने उद्धृत किया है वही किसी साधारण सार्व-जर्म्मनिक वा अधिक दायित्वके जर्म्मन-पक्षसे लिया जा सकता था। मिस्टर ब्लचफ़ोर्ड और जेनरल ली शायद इस बातको भूल गये कि प्रशाकी राजसभामें (Prince von Bulow) राजा फणिबल्लभ जैसे मान्य व्यक्तिने अपनी वक्तृतामें वस्तुतः वही शब्द प्रायः कहे हैं जिन्हें मैंने ब्लचफ़ोर्डके वाक्योंसे उद्धृत किया है, और बड़ी देरतक यह वर्णन करते रहे कि स्वार्थान्धता, अवनति तथा विषयोपभोगाकांक्षाने आजकी जर्म्मनीपर अधिकार जमा लिया है और साम्राज्यकी नींव रखनेवालोंकी विशेषता जिन ऊँचे गुणोंसे थी उनका लोप हो रहा है।†

क्या इसमें भी सन्देह है कि अधिकांश शासनवर्गवाले जर्म्मन रोज ही जर्म्मन राष्ट्रमें युद्धविरुद्ध सिद्धान्तोंके फैलनेका रोना रोते हैं और क्या समाजस्वातंत्र्यवादियोंकी निर्वाचनसंख्यामें असाधारण वृद्धि इस शिकायतकी सत्यताको प्रमाणित नहीं करती ?

---

* "Germany and England," p. 19.

† (Mr. Harbutt Dawson) मिस्टर डासनके सराहनीय ग्रंथ 'The Evolution of Germany" के पहले अध्यायको पढ़ो। प्रकाशक T. Fisher Unwin, London.

फ्रांसमें राष्ट्रवादी जब अपने देशकी शान्तिप्रवृत्तियोंपर आक्रमण करता है तो ठीक ऐसे ही ढंगकी दलील पेश करता है और पड़ोसके राष्ट्रोंकी युयुत्साकी ओर उदाहरणरूपसे निर्देश करता है। फ्रांसके किसी राष्ट्रपक्षी वा कट्टरमतके पत्रको उठाकर देखिए आपको पूरा प्रमाण मिल जाय। शायद ही कोई दिन ऐसा जाता हो जिस दिन यही राग *Echo de Paris, Gaulois, Figaro, Journal des Debats, Patrie, Presse* आदि पत्रोंमें न अलापा जाय, और Paul Bourget, Faguet, Le Bon, Barres, Brunetiere, Paul Adam सरीखे गभीर लेखकोंके ग्रंथोंमें तो यह बात भरी पड़ी है, और Deronlede, Millevoye, Drumont जैसे लोकप्रिय सार्वजनिक लेखकोंकी तो कुछ कहना ही नहीं है।

निदान अमेरिकन अंग्रेज जर्म्मन फ्रेंच सभी युद्धवादी एक स्वरसे कह रहे हैं कि और सबदेश अधिक युद्धप्रेमी हैं, केवल मेरा ही देश तमोगुणसे आवृत हो युद्धसे हटता जारहा है। किन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि अन्य देशोंकी अपेक्षा इनमें प्रत्येकको स्वदेशका परिज्ञान अधिक है, अतएव अपने ही प्रमाणसे एक दूसरेके सिद्धान्तोंको आप ही खंडन कर डालते हैं। यों चाहे न मानें तथापि वही इस सत्यके स्वयं साक्षी हैं कि हम सबकी—अंग्रेज अमेरिकन जर्म्मन फ्रेंच, कोई भी हों—युद्धकी ओर मनकी प्रवृत्ति घटती जा रही है, और यह प्रवृत्ति उसी तरह निर्मूल होती जा रही है जिस तरह सम्प्रदायभेदपर अपने पड़ोसियोंकी हत्या करनेकी प्रवृत्ति अथवा एंग्लो सक्सनमें ही सही, मानिहानिपर द्वन्द्वयुद्धमें अपने पड़ोसीको मार डालनेकी प्रवृत्ति सर्वथा निर्मूल हो गयी है।

और इसके अतिरिक्त क्या हो सकता है? आजकलके जीवनमें औद्योगिक व्यवसायमें इतनी वृद्धि और सैनिक व्यवसायके परिमाणमें अत्यन्त कमी होते हुए शान्तिजनित-भावोंके विपरीत युयुत्साका जीवित रहना कैसे सम्भव है?

विकासके साथ साथ साधारण वुद्धि और विचारसे हमको यह शिक्षा मिलती है कि हम जिन गुणोंका जितना ही अधिक प्रयोग करते हैं उतना ही उनमें वृद्धि होती है और हम जिन कामोंमें

सबसे अधिक दत्तचित्त होते हैं उनके ही उपयोगी गुणोंका अत्यधिक प्रयोग करते हैं। समुद्रसे सैकड़ों कोस दूर खेती करनेसे जलव्यवसायियोंकी जाति नहीं बनती।

यद्यपि लोगोंकी भूल है तथापि जर्म्मनीको ही लोग युरोपमें सबसे अधिक योद्धा राष्ट्र समझते हैं। अतः जर्म्मनीका ही उदाहरण लीजिए। जर्म्मनीके असंख्य प्रौढ़ जनसमुदायने, प्रत्युत वर्त्तमान समस्त जर्म्मनीने, न तो कभी युद्ध देखा है और शायद न देखेगा। गत चालीस वर्षोंमें केवल आठ हजार जर्म्मनोंको सालभरके लगभग नंगे जंगलियोंका सामना करना पड़ा है।* अतः शान्त व्यवसायोंकी अपेक्षा युद्धव्यवसायोंका परिमाण लाखोंमें एकके लगभग पड़ जाता है। यदि संभव होता तो अपने पाठकोंको नकशेके द्वारा दिखा देता, किन्तु इस पुस्तकमें यह सम्भव नहीं था। यदि वास्तविक युद्धके समयके लिए एक विन्दु रक्खा जाता तो शेष आबादीको शान्त व्यवसायोंमें जितना समय लगा उसे दिखानेमें सारी पुस्तकके लगभग विन्दुओंसे ही भरना पड़ता।†

जब हमारे सारे स्वार्थ, सारे काम, निदान हमारी सारी परिस्थिति शान्तिस्थापक है तो हम युद्धके गुणोंको जीवित रखनेकी आशा कैसे कर सकते हैं।

अथवा यों समझना चाहिए कि जिन कामोंसे युयुत्सु गुणोंकी वृद्धि होती है उनकी अपेक्षा व्यवसाय और शान्ति बढ़ानेवाले काम इतने अधिक हो गये हैं कि उनकी अधिकता अब प्रत्यक्ष उदाहरण-

---

* चीनमें संयुक्त शक्तियोंके साथ साथ जर्म्मनीने जो काम किया था मैंने उसका हिसाब नहीं किया क्योंकि उसमें केवल कुछ सप्ताह लगे थे और उनकी गिनती युद्धमें नहीं की जा सकती। यह उदाहरण महाशय नविकोके "Le Darwinisme Social" नामक ग्रन्थमें दिया गया है।

† विकासपर सबसे हालका मत यह है कि आचारशिक्षामें चुनावकी अपेक्षा परिस्थितिका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। जुलाइ १९१०के *Nineteenth Century*में (Prince Kropotkin) राजा कुरुपातकिनने अपने लेखमें यह दरसाया है कि परीक्षा करनेसे परिस्थितिका प्रत्यक्ष प्रभाव विकासका विशेष कारण सिद्ध होता है। तो विचारना चाहिए कि हमारी औद्योगिक परिस्थिति हमारी स्वाभाविक युयुत्साको कितना अपरिमितरूपसे परिवर्त्तित करेगी!

की सीमासे बाहर है और उसे सम्पूर्ण समझ लेना मनुष्यकी साधारण शक्तिके बाहर है। हमतो प्रायः सदा सर्वदा शान्तिमें ही रहते हैं, युद्ध तो यों ही कभी हो जाता है, तिसपर भी हमसे कहा जाता है कि युयुत्साके गुण ही जीवित रहेंगे और शान्तिके गुण उनसे दबकर ही रहेंगे।

मैं सैनिक शिक्षाको भूल नहीं रहा हूँ, मैं बारक-निवासको भूल नहीं रहा हूँ—जिससे कि सैनिक वृत्तिमें स्थिरता रहेगी। मैं इस प्रश्नपर अगले अध्यायमें विचार करूंगा। यहां इतना कह देना बहुत होगा कि ऐसी शिक्षा इससे ही उचित समझी जा सकती है कि—विशेषतः उन लोगोंमें जो इंगलैंडमें इसका प्रचार चाहते हैं—(१) इससे शान्ति रक्षा होती है, (२) जनसमुदायको शान्तिकलामें निष्णात कर देती है—अर्थात् उस तामसिक सुखकी दशाको स्थायी कर देती है जिसे युद्धवादी हमारे आचारके लिए हानिकारक बतलाते हैं, जिनसे हमारे युयुत्सागुण नष्ट हो जायँगे, जिससे लीके अनुसार समाज "पेटू" हो जायगा और सिडनी लोके अनुसार काबडनका अनुयायी हो जायगा। दोनों होना असंभव है। यदि चिरकालकी शान्ति शक्तिहीन कर देती है तो ऐसी दशाको स्थायी रखनेके लिए ही सबको सैनिक शिक्षा ग्रहण करनेको बाध्य करना तो अपने पक्षका स्वयं खंडन करना है। यदि सिडनी लो साहब व्यवसायसमाज और शान्तिके आदर्शकी—सस्ता लेने और महँगा बेचनेवाले काबडनके आदर्शकी—हँसी उड़ाते हैं तो उन्हें सैनिक बेगारवाली जर्म्मन प्रथाका पक्ष इसलिए नहीं लेना चाहिए था कि उससे जर्म्मन व्यापार अधिक सुगम हो जाता है, अर्थात् उससे काबडनके आदर्शकी वृद्धि होती है। उस दशामें युद्धसे विपरीत प्रवृत्ति और भी बढ़ जायगी। शायद इन्हीं असंगत युक्तियोंमेंसे कोई रूसवल्टके मनमें थी, तभी उन्होंने कहा कि "केवल युद्धसे" ही ये वीरताके गुण मनुष्यमें बढ़ते हैं। यदि सैनिक बेगारसे वस्तुतः शान्तिमें वृद्धि होती है और शान्तिकलाकी ओर हमारी प्रवृत्ति बढ़ जाती है, तो यह बेगार भी युद्धविपरीत प्रवृत्तिका एक कारण है और उसके स्वभावको बदलकर शांतिप्रेमी कर देती है।

जेनरल ली जो मनुष्योंके बहुसंख्यक सभ्य समाजके लिए पेटू आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं, इससे हमको ऐसा समझमें आता है कि जब उन्होंने सच्छब्दविन्यासमें सत्य घटनाके परिवर्त्तनकी कोई क्षमता न पायी तो खिसियाने होकर ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया। किन्तु मनुष्यकी प्रवृत्ति दिनपर दिन युद्धकी ओरसे हटती जानेका कारण उसकी अवनति, अथवा उसके पाशविक वृत्तिवाला वा पेटू हो जाना नहीं है। कारण यह है कि उसको अपने पसीनेकी कमाई खानेके प्राकृतिक नियमसे बाध्य होना पड़ा है और यही बात है कि उसके स्वार्थ और उसकी योग्यताके लिए जो गुण आवश्यक और उपयोगी हैं वही उसके स्वभावमें बढ़ते हैं।

अन्ततः यह कहा जाता है कि यदि यह शक्तियां अपने कार्य्यमें बराबर लगी भी रहें तो भी इनके फलके लिए हजारों बरसकी देर है। इस हठवादमें लोग उस उत्तरोत्तर वृद्धिके नियमको भूल जाते हैं जिसकी चर्चा मैंने गत अध्यायके अन्तमें की है और जो समाजविद्याके लिए उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार पदार्थविद्याके लिए। सबसे हालके प्रमाणसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य अग्निका ज्ञान और उसका प्रयोग लगभग तीन लाख वर्षसे जानता है। अब जहांतक इस वादसे सम्बन्ध है वहांतक उत्तरीय युरोपमें (ब्रिटेनमें ही सही) तो दो लाख अट्ठानबे हजार बरसतक मनुष्य ज्योंका त्यों बना रहा। गये दो चार हजार बरसोंमें उसने जितनी उन्नति की उतनी उसने दो लाख अट्ठानबे हजार बरसोंमें नहीं कर पायी थी, और गत सौ बरसोंमें वह जितना बढ़ा उतना गये दो हजार बरसोंमें नहीं बढ़ा था। घंटोंमें हिसाब किया जाय तो यह तुलना कुछ स्पष्ट हो जायगी। मान लो कि पचास बरसतक मनुष्य राक्षसी वा पाशविक वृत्ति रखता था और अन्य जंगली प्राणियोंको मारकर खा जाता था। वही केवल तीन महीनेके बीचमें लंडनका मिस्टर जान स्मिथ हो गया, गिरजा जाने लगा, आईन बनाने लगा, टेलीफोनादिका प्रयोग करने लगा। युरोपीय मानव जातिका इतिहास यही है। इतने पर भी पंडितम्मन्य लोग प्रज्ञावाद करते और इस बातको स्वयंसिद्ध और प्रमाणयुक्त बतलाते हैं कि हमारी सभ्यता-यंत्रोंके कारण जिस युद्धसे न कुछ होता है न हो सकता है उसे एकदम परित्याग कर देना असंभव ही है, क्योंकि जब मनुष्यको एक कुटेव

लग गयी तो उसे लगी ही रहेगी, यद्यपि जिस कारणसे पहले पहल उसकी प्रवृत्ति हुई वह कारण बहुत आगे ही दूर हो चुका हो—और सबका कारण संक्षेपतः वही कहा जाता है कि "मनुष्यकी प्रकृति नहीं बदलती"।

चौथा अध्याय

क्या युयुत्सु जातियां भूमिकी उत्तराधि-कारिणी होती हैं ?

इस विषयपर युद्धपक्षके लेखकोंका निर्विशंक हठवाद—प्रकृति घटनाएँ—स्पेनीय अमेरिकासे शिक्षा—विजयसे किस प्रकार अयोग्य ही शेष रह जाते हैं—नयी दुनियांमें स्पेनी और अंग्रेजी रीतियां—सैनिक शिक्षाके गुण—ड्रेफ़सका मामला—इंगलैंडको जर्म्मन-देश बन जानेकी धमकी—"वह युद्ध जिससे जर्म्मनी बड़ा हो गया और जर्म्मन छोटे हो गये।"

अब यह स्पष्ट हो गया कि वह युद्धवादी मान्य लेखक जिनके वाक्य गत अध्यायमें उद्धृत किये गये हैं भावपक्षसे मनुष्यस्व-भावका युद्धविरुद्ध होते जाना मानते हैं और बहुत ज्यादा मानते हैं। किन्तु इस युद्धविरुद्ध प्रवृत्तिको अवनति कहते हैं और रूसवल्टके अनुसार तो युद्धसे ही बढ़नेवाले गुणोंसे हीन होकर मनुष्य जीर्ण और क्षीण होता जायगा।"

इस वादसे तो हमारे विषयसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यह कहना कि जिन गुणोंको हम केवल रणसम्बन्धी समझते हैं—रणके अति-रिक्त और किसी विषयसे जिनका सम्बन्ध हम नहीं मानते—वह एक जातिको दूसरीपर निश्चित विजयलाभके लिए अत्यन्तावश्यक हैं, मानों यही कहना हुआ कि जब रक्षाके लिए आवश्यक गुणोंको युयुत्सा स्थिर रख सकती है तो युयुत्सुओंके सामने युद्ध-विरुद्ध लोगोंको हारना एवं नष्ट हो जाना पड़ेगा। दूसरे शब्दोंमें यही हुआ कि यदि मानवजातिको चिरकालतक बच रहना है तो उसे सदैव युयुत्सु रहना चाहिए, अर्थात् युयुत्सु जातियां ही भूमिकी उत्तरा-धिकारिणी होती हैं और मनुष्यकी युयुत्सा जीवनप्रयासके बड़े प्रसिद्ध प्राकृतिक नियमका फल है और युयुत्साका ह्रास किसी भी राष्ट्रमें हो अवनतिका लक्षण है तथा जीवनके रगड़ेमें आगे बढ़ने-का लक्षण नहीं है। इस भागके दूसरे अध्यायमें जिस प्रतिज्ञाका वर्णन मैंने स्थूलरूपसे किया है उससे यह परिणाम अनिवार्य्य है।

जिन मान्य लेखकोंका मैंने प्रमाण दिया है—जैसे युद्धपक्षके* रूसवल्ट, फन मोल्टके, रेनन, नीट्शे, प्रभृति उपदेशक—उन सबकी प्रतिज्ञाका वैज्ञानिक मूल यही है कि "मानव जातिका युयुत्सु स्वभाव नहीं बदलता।" "जीवनके रगड़ेमें युद्धके गुण मानव-जीवनके आवश्यक अंग हैं।" "विकासका समस्त ज्ञात नियम संक्षेपतः यही सिद्ध करता है कि मनुष्यकी युयुत्सा कभी न मिटेगी, और बलके रगड़ेके सिवाय और किसी उपायसे राष्ट्रोंका बच रहना संभव नहीं है।"—इन सारी दलीलोंकी जड़ भी यही प्रतिज्ञा है। जेनरल ली जिनके वाक्य हम उद्धृत कर चुके हैं शायद इसके सबसे अच्छे वक्ता हैं। अपने "Valour of Ignorance" नामक ग्रन्थमें यों कहते हैं—

"जीवनके रगड़ेमें जिस तरह मनुष्यकी शक्तिका द्योतक उसकी शारीरिक क्षमता है उसी तरह राष्ट्रोंकी शक्ति उनके सैनिक बलमें है। राष्ट्रीय आदर्श, आईन, वैधसंस्थाएं केवल बिजलीकी चमक हैं" (p. 11) "सैनिक बलमें ह्रास और उसी कारणसे युयुत्साका नाश राष्ट्रीय अवनतिके संग संग चलता रहा है। (p. 24) अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े उन्हीं प्राथमिक स्थितियोंके कारण होते हैं जिनसे कभी न कभी युद्ध हो ही जाता है,......जीवनप्रयासका नियम, योग्यतमके बच जानेका नियम जगद्व्यापी है, नित्य है......इन्हें खंडित करना, इनको बचा जाना, इनका प्रभाव मिटा देना, इनसे चाल चल जाना, इनका तिरस्कार करना, इन्हें न मानना, इनके विरुद्ध आचरण करना—ऐसी मूर्खता है जो मनुष्यके घमंडका ही फल है।......जिन प्राकृतिक नियमोंके शासनाधीन सभी राजनीतिक अंग हैं.........उनका अनिवार्य्य होना पंचायत नहीं मानती। (p. 76, 77) वह प्राकृतिक नियम जिनके अधीन राष्ट्रोंकी युयुत्सा है मनुष्यकी

* पृष्ठ १४६–१५० पर्य्यन्तके उद्धृत वाक्य इस सम्बन्धमें देखने योग्य हैं, विशेषतः मि० रूसवल्टका कहना कि "इस संसारमें जिस जातिको युद्धविरुद्ध अविकल आनन्दसे जीवनयात्राकी शिक्षा हुई है उसको अन्तमें उन जातियोंके आगे जिनके युयुत्सा और वीरताके गुण नष्ट नहीं हुए हैं, नीचा देखना अनिवार्य्य है"। यह मत उस व्याख्यानमें भी पुष्ट किया गया है जो रूसवल्टने हालमें ही बर्लिन विश्वविद्यालयमें दिया है (*Times*, May 13, 1910)। टैम्सने इसपर यह कहा था कि जो लोग सदासे यह सीखते आये हैं कि मनुष्यके अभावसे रोमका पतन हुआ उन्हें रूसवल्टके इस कथनको सुनकर आश्चर्य्य हुआ कि 'रोमकी सभ्यताके नाशका मूल कारण यह था कि रोमन नागरिक युद्धसे विमुख हो गया था और रोममें युद्धकी तीक्ष्णता मिट गयी थी'।" पृष्ठ २०६–११की टिप्पणी देखो।

करतूत नहीं हैं, प्रत्युत वह प्रकृतिके उन प्राथमिक सूत्रोंका अनुगमन करते हैं जिनके शासनके अधीन प्राथमिक-जीवोंसे लेकर मनुष्यके साम्राज्यतक हैं।" ["The Valour of Ignorance". Harpers.]

जिस विकासके नियमकी चर्चा यहां की गयी है उसके समझनेमें जो महाभ्रम फैला हुआ है, उसका वर्णन मैं कर चुका हूं। इस माने हुए साधारण सिद्धान्तका आगमन जिन प्रकृत घटनाओंसे है उनका ही विचार करना यहां हमारा कर्त्तव्य है। गत अध्यायसे यह स्पष्ट हो गया कि मनुष्यका स्वभाव निस्सन्देह और अवश्य बदलता है; अब दूसरी बात यह है कि आजकलके संसारकी घटनाओंसे यह स्पष्ट कर दिया जाय कि युद्धके गुणोंसे जीवन-रक्षा नहीं होती, एवं युयुत्सु राष्ट्र भूमिके उत्तराधिकारी नहीं होते।

सैनिक जातियां कौन कौन सी हैं? युरोपमें साधारणतः हम जर्म्मनी और फ्रांसको समझते हैं और कभी इसमें रूस, आस्ट्रिया और इटलीको भी गिन लेते हैं। अंग्रेज और अमेरिकन सभी पंडितों और अर्थशास्त्रियोंका यही मत है, और यह बात साधारणतः मानी हुई है कि युरोपमें इंगलैंड सबसे कम सैनिक राष्ट्र है और संयुक्त राज्य प्रायः सारे संसारमें सबसे कम सैनिक है। सबमें जर्म्मनी ही हमारे सामने सैनिक राष्ट्रका नमूना दिखता है, जहां युद्धकी कठोर प्रथासे "पौरुष, वीरता और साहसादि गुणोंकी" रक्षा की जाती है।

इन घटनाओंपर गभीरतर विचारकी आवश्यकता है। मि० रूसवल्ट जिस युद्धविरुद्ध चैनके जीवनकी चर्चा करते हैं वह क्या है? गत अध्यायमें यह बात देखी गयी कि इधर चालीस बरसोंमें छ करोड़ जर्म्मनोंमें केवल आठ हजारको मुश्किलसे सालभरसे युद्धमें रहना पड़ा, सो भी हटंटाट वा हरीरू नामक अफ्रिकाकी जंगली जातियोंके विरुद्ध जिसमें लड़ाईके कालकी तुलना यदि शान्तिके कालसे प्रति जर्म्मन की जाय तो कई लाखमें एककी संख्या युद्धकी निकलती है। इसका फल यह हुआ कि यदि हम जर्म्मनीको सैनिक राष्ट्रका नमूना मान लें और रूसवल्टके इस कथनको सत्य समझें कि युद्धसे ही वह "वीरताके गुण प्राप्त होते हैं जिनसे प्रकृतजीवनके झगड़ोंमें जयलाभ होता है," तब भी हमें अन्तको उन गुणोंसे हाथ धोना ही है क्योंकि जर्म्मनीकी सी दशा

सकते हैं। सबमें कम युयुत्सु, सबसे कम सैनिक शिक्षा प्राप्त सबसे कम अनुभवी और युद्धसे सबसे कम विशुद्ध देश कनाडा है। इसके बाद संयुक्तराज्योंका नम्बर है और संयुक्तराज्योंके बाद मेक्सिको और अरजेंटैन सरीखे स्पेनिश अमेरिकाके प्रजातंत्र राज्योंको सबसे अच्छे— वा सबसे बुरे क्योंकि सबसे कम युयुत्सु —समझना होगा। इनकी तुलनामें सबसे अधिक युयुत्सु, अतएव सर्वाधिक "पौरुषगुणसम्पन्न और उन्नतिशील" देश सन्त-डमिंगो, निकरागवा, कलम्बिया और वनोज्ज्वला सरीखे "साम्ब" नामक प्रजातंत्र राज्य हैं जो सदैव लड़ा ही करते हैं। यदि परस्पर लड़नेका अवसर नहीं पाते तो एक ही प्रजातंत्रके भिन्न भिन्न सम्प्रदायके लोग परस्पर युद्ध कर लेते हैं। बस जो कुछ सच्ची लड़ाई है सो यह है। सिपाही अपने जीवनको झूठमूठकी कवायद करने, काठी साफ़ करने, पेटी पालिश करनेमें नहीं बिताते किन्तु वास्तविक गुत्थमगुत्थामें लगे रहते हैं। इनमें कई ऐसे राज्य हैं कि जबसे स्पेनसे अलग हुए तबसे कोई साल ऐसा न गया होगा कि परस्पर युद्ध न हुआ हो। आबादीका बहुत बड़ा अंश लड़नेमें ही अपना जीवन बिताता है। स्वतंत्रराज्य हो जानेकी पहली बीसीमें चाहे पड़ोसियोंसे चाहे राज्यके ही अन्तर्गत हुए हों, वनोज्वलाके एक सौ बीससे अधिक ही महत्त्वके युद्ध हुए और तबसे अबतक इसके ही लगभग औसत लड़ाइयां चली जा रही हैं। प्रत्येक निर्वाचनमें युद्ध होता है— मौखिक युद्ध नहीं, कातर वादविवाद नहीं, किन्तु अच्छी, गहरी योद्धाओंकी चोटें, वीर पुरुषोंका संग्राम होता है जिसमें एकसे लेकर पांच पांच हजारतक सिपाही मारे जाते हैं और बुरी तरह ज़ख्मी हो जाते हैं। इन व्यवसायी प्रजातंत्रोंके राष्ट्रपति कापुरुष राजनीतिज्ञ नहीं होते। मिस्टर रूसवल्टके ही पसन्दके, वही "भली प्राचीन रीतिपर चलनेवाले, सीधेसादे उपायका अवलम्बन करनेवाले," कठिन लोहा लेनेवाले और रक्त बहानेवाले सिपाही होते हैं। इन लोगोंने ही (Carlyle) कार्लइलके इस उपदेशको ग्रहण कर लिया है कि "बकवादियोंका व्यवसाय बन्द कर देना चाहिए।" यही पुरुषोंकी भांति लड़कर लेते हैं, गटलिंग-तोप और मउझर बन्दूकोंसे बातचीत करते हैं। क्या कहने हैं, यही तो बड़े बांके बीर सिपाही लोग हैं! यदि लड़नेसे ही योग्यतमावशेष होता है तो ये अवश्य कनाडा और संयुक्तराज्योंको नष्ट कर देंगे, क्योंकि कनाडाने तो अपने सौ बरसके

कातर निकम्मे शान्त जीवनके सबसे अधिक भागमें कभी प्रकृत युद्धका मुँह देखा ही नहीं और जेनरल होमर लीके कथनानुसार संयुक्तराज्योंकी प्रवृत्ति युद्धविरुद्ध होनेसे वह तो क्षयोन्मुख हैं ही।

जेनरल ली इस बातको छिपाते नहीं हैं—और यदि छिपाते भी तो उनके भाषा-सौन्दर्य्यसे प्रकट ही हो जाता—कि आजकल अमेरिकापर जिन आदर्शोंका दबाव पड़ रहा है उनसे उनकी सहानुभूति नहीं है। वह कहीं वनोज्वला कलम्बिया वा निकरागवामें जाकर बसते तो बारी बारीसे प्रत्येक सैनिक शासकके समक्ष यह सिद्ध कर सकते कि अपने देशमें सैनिक मारकाट करके वह सचमुच कोई घृणित अपराध नहीं कर रहे हैं जिसकी व्यर्थ लांछना उनपर सारा सभ्य संसार लगाता है और जिसके लिए उन्हें घृणाकी दृष्टिसे देखता है; बल्कि वह सचमुच विश्वके नित्य और स्थायी नियमोंके अनुसार परमात्माकी एक पवित्र आज्ञाका पालन कर रहे हैं। मैं व्यंग्यवाद करना नहीं चाहता किन्तु जिस किसीको प्रकृत सैनिक सभ्यतासे उद्भूत दशाओंको प्रत्यक्ष देखनेका अवसर मिला है, उसके लिए यह बहुत कठिन है। मिस्टर रूसवल्ट जिनके मतसे "प्रकृत जीवनके कठिन झगड़ोंमें विजय पानेके लिए वीरताके आवश्यक गुणोंको हम युद्धसे ही प्राप्त कर सकते हैं—फ़न स्टैंगेल जिनके मतसे युद्धसे ही राष्ट्रके राजनीतिक, शारीरिक और आचार नीतिक स्वास्थ्यकी परीक्षा होती है,"—मिस्टर सिडनी लो जिनके सिद्धान्तसे कावडनके "व्यवसायी राज्यकी अपेक्षा सैनिक राज्य कहीं अच्छा है,"—महाशय अरनेस्ट रेनन, जिनका कहना है कि "युद्ध उन्नतिके लिए आवश्यक है" और यह कि "शान्त अवस्थामें हमारी ऐसी अवनति होगी जिसका समझना कठिन हो जायगा,"—भिन्न भिन्न अंग्रेज पादरी, जो इसी तरहके शास्त्रकी घोषणा करते हैं—यह सब लोग सैनिक स्पेनिश अमेरिकाकी दशासे अपने कथनको कैसे युक्तिसंगत ठहराते हैं? कैसे यह हठवाद कर सकते हैं कि जिस असैनिक व्यवसायमार्गने अपने अवगुणोंके होते हुए भी पश्चिमीय महाद्वीपमें कनाडा और संयुक्तराज्य प्रकट किये वही तो अवनति और क्षयका कारण हुआ, और जिस सैनिक-प्रथा और तज्जनित गुणों और भावोंसे सन्त-डमिंगो और वनोज्ज्वला प्रकट हुए उससे अभ्युदय और उन्नति है? जेनरल लीके अनुसार टूसना

उगलना" होते हुए भी क्या हम सभी यह नहीं देखते हैं कि व्यवसायप्रथासे ही यह सैनिक प्रजातंत्र बचेंगे तथा उनकी उन्नतिके लिए एकमात्र उपाय यही है कि व्यर्थ और नीच वीरताप्रदर्शन छोड़ सच्चे और ईमानदार कारबारमें लग जायँ ?

हरबर्ट स्पेन्सरका यह सर्वमार्जक अनुगम कि "मनुष्य और समाजके सबसे उत्तम रूपोंकी वृद्धि युयुत्साके ह्रास और व्यवसायशीलताकी उन्नतिपर निर्भर है" यदि किसी प्रकार सिद्ध हो सकता है तो दक्षिण और मध्य अमेरिकाके प्रजातंत्रोंके इतिहाससे। सच तो यह है कि स्पेनिश अमेरिकासे जितना हम सीखते जान पड़ते हैं उससे अधिक शिक्षा हमें मिल सकती है और यदि युयुत्सासे वृद्धि और योग्यतमावशेष हो, तो यह अत्यन्त अद्भुत बात है कि जितने लोग उन देशोंसे किसी तरहका सम्बन्ध रखते हैं, जितने लोग उनमें रहते हैं और अपनी भावीके लिए उन्हीं देशोंपर निर्भर करते हैं, इस बातपर अत्यन्त कृतज्ञतापूर्वक ईश्वरको धन्यवाद देते हैं कि तीन सौ बरसके दुर्दैव, रक्तपात और मूर्खताकी मारकाटसे विमुख होनेकी प्रवृत्ति कहीं अब दिखायी पड़ती है। मिस्टर-सिडनी-लोकी-घृणाका-पात्र सस्ता-लेने-और-महँगा-बेचनेवाला-काबडनका-आदर्श अब सैनिक आदर्शका स्थान ले रहा है।

कुछ बरस हुए Tomasso Caivano तामस कायवान नामके इटलीके वकीलने वनोज्ज्वला और उसके पार्श्ववर्त्ती प्रजातंत्रमें अपने बीस बरसके अनुभव और पूर्वस्मृतियोंको विस्तारपूर्वक एक पत्रमें छपवाया था। इस बहसमें उसका विषयोपसंहार प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है। वनोज्ज्वलीयोंसे बिदा होते समय उपदेशकी भांति उसने यों लिखा था—

आप लोगोंकी सभ्यताका दुर्दैव सिपाही और सिपाहीका स्वभाव है। दो सम्प्रदायोंकी तो क्या कहना, आप लोगोंमें दो मनुष्य भी बहसमें जुट जायँ तो विना हाथापायी हुए निबटारा नहीं होता। विरोधी पक्षकी बातपर न्यायदृष्टिसे विचार करना आप लोगोंकी समझमें मानहानि है और जबतक भिड़ जानेकी जगह होती है तबतक विरोधीकी बात माननी अपनी मानहानि है। आपलोग समझते हैं कि अपना शारीरिक बल अपने सारे अवगुणोंको ढक लेता है। बुरे चालचलनके सैनिककी प्रतिष्ठा आपके यहां सदाचारी सिविलियनकी अपेक्षा अधिक होती है और सचाई और ईमानदारीसे परिश्रम करनेकी अपेक्षा सैनिक

साहसकी लूटमारको अधिक आदरणीय समझते हैं। यदि आपके नेता अपने अति घृणित अत्याचारपर, अत्यंत नीचतापर, वीरता भाग्य देशानुराग आदिको दोष देते हुए अपनी सैनिक डींगकी कलई चढ़ा देते हैं तो वह नीचता आपको दिखाई नहीं देती। जबतक इस भावमें परिवर्त्तन न होगा तबतक आप लोग घृणित अत्याचारोंके बलि होते रहेंगे। आपकी लड़ाइयोंसे आपके किसान और मजूर कुछ मतलब न रखते हैं और न समझते हैं तिसपर भी लड़ना अधिक प्रिय होनेके कारण कटनेके लिए जाते हैं। जबतक इस तरह जाने और कटनेसे इनकार न करेंगे, तबतक ईश्वरकी अत्यधिक उपजाऊ और सुन्दर भूमि—जो आपका देश है—अपने अधिवासियोंको सुख और ऐश्वर्य्यसम्पन्न न बना सकेगी, न वह अपने परिश्रमके फलको सन्तोष और सुरक्षमें आस्वादन कर सकेंगे।" *

अब जाकर कहीं स्पेनिश अमेरिकामें सिपाहीका दबाव कम हुआ दिखता है और जिस दुःस्वप्नमें सैनिक अत्याचारपर अत्याचार होते रहे और हत्याकांडसे ही अत्याचारमें कमी होती थी, उससे जागृति हो गयी। महाशय कायवानके कथनानुसार सच्ची मेहनतके लिए सैनिक साहसकर्म्म छोड़ देनेपर अब उसे अवश्य उस रक्तपातसे सम्बन्ध कम होगा, जिसकी कथासे उसका सारा इतिहास भरा पड़ा है। किन्तु दक्षिण अमेरिकामें जिनका सम्बन्ध है इस बातसे दुःखी नहीं हैं। उन्हें इससे अप्रसन्नता कभी नहीं है। †

यही कहानी पूर्वीय गोलार्धमें भी दुहरायी जा सकती है। कुछ

---

* *Vox de la Nacion*, Caracas, April 22, 1897.

† रूसवल्टतक दक्षिण अमेरिकाके इतिहासको नीच और हत्याकांडपूर्ण कहते हैं। यह समझनेके योग्य बात है कि जो मिस्टर रूसवल्ट मिश्रके शासन-विषयमें अंग्रेजोंको अपने व्याख्यानमें यह राय दें कि चाहे जो हो अपने कर्त्तव्यके पालनमें दृढ़ रहें और भावमात्रसे काम न लें, वही उस अवसरपर जब मिस्टर क्लीवलैंडने इंगलैंडको वनोज्ज्वलाका संदेश दिया था, १८९६के मार्चके *Bachelor of Arts*वाले लेखमें यों लिख चुके हों..."यद्यपि दक्षिण अमेरिकाके प्रजातंत्रोंका इतिहास नीच और अत्याचारपूर्ण रहा है, तथापि सभ्य संसारका स्वार्थ निस्संदेह इसमें ही है...कि उन्हें अपने ही ढंगपर उन्नति करने दे।......अच्छीसे अच्छी परिस्थितियोंमें भी उपनिवेशकी स्थिति भ्रमोत्पादक होती है, किन्तु जब उपनिवेश ऐसे देश हैं जहांकी नवाधिवासिनी जातिको अपना काम दूसरी और नीच जातियोंद्वारा कराना पड़ता है, तो दशा और भी शोचनीय हो जाती है। उत्तरी जातिका उपनिवेश यदि गरम देशोंमें हो तो उसमें इस तरह सफलताकी आशा कम होती है।"

नामोंमें परिवर्त्तन कर देनेसे अरब वा मराकोकी कथा हो जाती है। Times के एक हालके ही लेखसे सुन लीजिए*—

बात यह है कि गत कई वर्षोंसे अरबके किसी न किसी भागमें रूमको प्रायः बराबर लड़ना ही पड़ा है।......इस समय भी वस्तुतः अरबमें वा उसके सीमान्तपर रूम तीन भिन्न भिन्न छोटे छोटे धावे कर रहा है और चौथा धावा इराकमें भी जारी है। यह अन्तिम धावा मौसूल जिलेके कुरदीय जातियोंको दमन करनेके लिए है।.........इनसे भी अधिक महत्वकी दूसरी चढ़ाई फुरात नदीके डेल्टाके भयंकर मुंतफ़िक़ अरबोंपर है।......चौथा और इन सबसे बड़ा धावा अदनके उत्तर यमनप्रान्तका निरन्तर युद्ध है जहां तुर्क लोग दस बरससे ऊपर हुआ कि बराबर लड़ रहे हैं। अरबकी जातियां भी अपनें ही झगड़े लेकर आपसमें जुटी हुई हैं, नज्दके वैरी शासक, रियाज़के इब्न-साद और हयलके इब्न-रशीद, इन दोनोंकी निरवधि शत्रुताके झगड़े फिर छिड़ गये हैं और अलकतरके समुद्रतटीय प्रान्तकी जातियां इस युद्धमें कूद पड़ी हैं। तुर्कोंको हैरान करके मुंतफ़िक़-अरब सन्तुष्ट नहीं हुए, एवं कवैतके शेख़ मुबारकके देशमें भी उत्पात मचाये हुए हैं। बहुत दूर दक्षिणमें ब्रिटिश सरकारके अधीन "शहर" और "मुकल्ला"के सुल्तान हदरामौतके गहन प्रदेशके एक वैरी जातिसे एक छोटा सा युद्ध कर रहे हैं। पश्चिममें बद्दू हजाज़ रेलवेको बहुत नापसन्द करते हैं और रह रहकर उसके किसी किसी भागको धमकियां दे बैठते हैं।......दस बरस हुए इब्न-रशीदका वंश नाममात्रको अरबके अधिकांशपर प्रभुत्व रखता था और इतना उद्धत हो गया था कि उसने कवैत भी ले लेनेका प्रयत्न किया और एक बार जीता और एक बार हारा। किन्तु उसने इस तरह बदला चुकाया कि रियाज़की पुरानी वहाबी राजधानीमें एक ढीठ इब्न-सऊदके वंशजको भेजा और उस युवकने एक विचित्र रणकपटसे केवल पचास जवानोंकी सहायतासे उसका किला दखल कर लिया। तबसे दोनों प्रतिद्वन्द्वी लड़ते ही जाते हैं।" इत्यादि!

ऐसे ही वर्णनोंसे पूरा कालम भरा हुआ है। सो, जो सम्बन्ध निकरागवा और वनोज्ज्वलाका पश्चिमीय गोलार्धसे है वही ठीक ठीक अरब अलबनिया अरमीनिया, मांटीनिग्रो और मराकोका पूर्वीय गोलार्धसे है। वही नियम ठीक ठीक इधर भी दिखता है कि ज्यों ज्यों मनुष्य युद्धसे दूर होता जाता है त्यों त्यों वृद्धि और सभ्यतामें ऊँचा होता जाता है। ज्यों ज्यों युद्धकी ओर प्रवृत्ति

---

* June 2, 1910.

कमती है, त्यों त्यों व्यवसायकी ओर प्रवृत्ति बढ़ती है, और मिल-जुलकर काम करनेसे बढ़न्ती होती है, न कि परस्पर लड़नेसे।

यदि युद्धविरुद्ध उन्नति समझी जाय तो कुछ ऐसी ही तालिका बन जाती है—

अरब और मराको।

रूमके अधीन समस्त भूभाग।

अधिक लड़ाकी बालकन रियासतें, मांटीनीग्रो।

रूस।

स्पेन, इटली, आस्ट्रिया।

फ्रांस।

जर्म्मनी।

स्कन्दनवीया, हालैंड, बेल्जियम।

इंगलैंड।

क्या मिस्टर रूसवल्ट, अमीराल महान, (Baron von Stengel) वरेएय फण स्टेंगेल, मार्शल फ़न मोल्टके, जेनरल ली और अंग्रेज़ पादरी सच्चे दिलसे यह हठवाद करते हैं कि इस तालिकाको उलटकर अरब और रूमको वृद्धिपुरःसर और इंगलैंड, जर्म्मनी और स्कन्दनवीयाको क्षीयमाण राष्ट्रोंका नमूना समझना चाहिए?

यह कहा जा सकता है कि मेरी तालिका बिल्कुल ठीक ही नहीं है, क्योंकि इंगलैंडको जब छोटी छोटी लड़ाइयां अधिक लड़नी पड़ी हैं, [यद्यपि बोअरों जैसी छोटी सी गड़ेरिया जातिके लोगोंसे युद्ध यह सिद्ध करता है कि छोटी सी लड़ाईसे ही बड़े भारी देश-की कितनी बड़ी हानि हो सकती है,] तो वह जर्म्मनीकी अपेक्षा, जिसे बिल्कुल लड़ना नहीं पड़ा है, अधिक सैनिक शिक्षा पाये हुए है। किन्तु मैंने बिल्कुल स्थूलरूपसे ही प्रत्येक राज्यके रणकौशल-का परिमाण दिखाया है, और जर्म्मनीके लिए छोटे छोटे राज्योंकी भांति वास्तविक युद्ध न होनेकी कमी उसकी प्रजाकी सैनिक शिक्षासे पूरी हो जाती है। जैसा मैंने दिखला दिया है, जर्म्मनीकी अपेक्षा फ्रांस अधिक युद्धकुशल है, दोनों तरहसे। एक तो इसलिए

कि उसकी सारी प्रजाको सैनिक शिक्षा ग्रहण करनी ही पड़ती है, दूसरे यह कि उसने जर्म्मनीकी अपेक्षा छोटी छोटी लड़ाइयां (मदागास्कर, टांकिन, अफ्रिका आदि) अधिक की हैं। और रूस तथा बालकन रियासतें तो दोनों दृष्टिसे और भी अधिक रणकुशल हैं, क्योंकि उन्होंने वास्तविक लड़ाइयां भी अधिक कीं और सैनिक शिक्षा भी उनके यहां अधिक हुई।

शायद युद्धवादी यह कहेगा कि व्यर्थ और अन्याय्य युद्धोंसे अधःपतन होता है किन्तु न्याय्य युद्धोंसे सदाचार सम्बन्धी उन्नति है। पर कभी ऐसा हुआ भी है कि विना न्याय्य और उचित युद्ध समझे भी कभी किसी राष्ट्र, समुदाय, जाति, वंश वा व्यक्तिने युद्ध किया हो? ब्रिटिश वा अधिकांश ब्रिटिशोंने बोअरयुद्धको न्यायसंगत समझा किन्तु ब्रिटेनके बाहरके प्रायः सभी मान्य सज्जन जो साधारणतः युद्धका पक्ष लिया करते हैं उसे अन्याय कहते हैं। मुसलमानोंके मतप्रचार करनेवाले युद्धोंका ही उदाहरण लीजिए जिन्हें सारा युरोप व्यर्थ और अन्यायकर मानता था, किन्तु मुसलमान उसे अमर, शुद्ध और अत्यन्त न्यायसंगत समझते थे।

क्या पाठकगण यह समझते हैं कि जब निकरागवा सन्त सल्वेडरसे, या कष्टारिका या कोलम्बिया पेरूसे, या पेरू चिलीसे, या चिली अर्जेंटीनासे युद्ध ठानता है तो क्या प्रत्येक युद्धका पक्षपाती यह नहीं समझता कि हम नित्य और सत्य सिद्धान्तोंके लिए ही लड़ते हैं? निस्सन्देह उनमेंसे अधिकांशकी सभ्यता बराबर है; बात इतनी ही है कि वे परिश्रम और ठिकानेके विचारसे भागते हैं, नहीं तो जिस तरह लंडनका लिवरपूलसे लड़नेका कोई कारण नहीं, उसी तरह उनमें भी युद्ध होनेका कोई कारण नहीं है [यद्यपि जेनरल ली अपने सुन्दर वाक्योंमें कहते हैं कि राष्ट्रीय भेदभाव सृष्टिके आदिसे ही स्थायीभाव है] वे परस्पर लंडन और लिवरपूलकी तरह बराबर हैं और सन्त सल्वेडर कष्टारिकाको हरावे या कष्टारिका ही संतसल्वेडरको नीचा दिखावे, तो जहांतक तत्वोंका सम्बन्ध है, भेद रत्तीभर नहीं है। किन्तु उनका स्वार्थत्याग उनकी अमरकीर्त्ति उनके देशानुरागका सुन्दर भाव इत्यादि बहुधा उतना ही सच्चे दिलसे है जितना हम लोगोंका। यही उसका दुःखद परिणाम है और यही स्पेनिश अमेरिकाके प्रश्नके निबटारेमें वास्तविक कठिनाई है।

परन्तु यदि हम मान भी लें कि अनीतिके युद्ध नीचताके कारण हैं और न्याय्य युद्ध हमारे विचारको ऊंचे करने और हमारे सदाचारकी रक्षाके लिए आवश्यक हैं, तब भी नीचता और अवनतिका धब्बा लगे ही गा। "न्याय्य युद्धका यही अभिप्राय है कि कोई हमसे अन्याय कर रहा है, किन्तु जब साधारण दशा सुधरेगी —जैसी कि मध्य वा दक्षिण अमेरिका वा मराको वा अरबकी अपेक्षा युरोपमें सुधर रही है—तो हमको दिनपर दिन यह 'आचार-शोधन' अर्थात् लड़ाईका अवसर कम मिलेगा। और ज्यों ज्यों लोग अनीतिके युद्ध कम करते जायँगे त्यों त्यों अधिकाधिक नीच होते जायँगे।" इस असम्भव और सर्वाशुभवाद शास्त्रसे कि यदि मनुष्य एक दूसरेका बध न करता जायगा तो उसका क्षय होता जायगा, ऐसी ही असंगत और बेमेल दलीलें निकलती हैं।

"योग्यतमावशेषके नैसर्गिक नियमका युद्ध एक आवश्यक रूप है—योग्यतमावशेषका एक कारण है"—इस सिद्धान्तके मूलमें कौन सी भूल जड़ पकड़े हुए है? इस भ्रमका कारण है वह शब्दावली और उसकी माया—जिसका अर्थ लुप्त हो गया है। वही कारण जो हमें आर्थिक विषयोंमें चक्करमें डालता है, इस विषयमें भी भ्रम उत्पन्न करता है।

अब विजयसे विजित जड़से नष्ट नहीं हो जाते और यद्यपि इस विषयमें विकास-सूत्रका प्रयोग करनेवाले यह सोचते हैं कि जो सबसे बलहीन हो, सबसे अधिक दब जायगा, किन्तु बात यह नहीं है।

ब्रिटेनने भारतवर्षको जीत लिया है—क्या इस कथनका अभिप्राय यह है कि विजेता जातिने विजितका स्थान ले लिया है? कभी नहीं, तनिक भी नहीं; विजित जाति केवल जीती ही नहीं है, बल्कि इस विजयसे ही उसके जीवनवृद्धिमें और भी सहायता मिल गयी। यदि कभी एशियाई लोग गोरोंपर आक्रमण करनेका साहस दिखावें तो वह उसी जातिरक्षाके बन्दोबस्तकी बदौलत होगा जो एशियामें इंगलैंडके विजयके कारण आपसे आप हो गया। इसलिए युद्धसे अयोग्यका निर्मूलन और योग्यकी रक्षा नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि युद्धसे अयोग्यकी रक्षा होती है तो यह अधिक सत्य होगा।

युद्धका वास्तविक कार्य्यक्रम क्या है? दोनों पक्षके सर्वसाधारण-से सबसे हृष्टपुष्ट, शरीर और मस्तिष्क दोनोंसे पुष्ट, सबसे अधिक बलवान, और उन्हीं वीर्य्य और पौरुषके गुणोंसे सम्पन्न जिनकी रक्षा करना इष्ट है—ऐसे सब तरहसे उत्तम मनुष्योंको दोनों आबादियोंसे चुनकर युद्ध अथवा रोगमें नष्ट कर डाला जाता है, और विजय वा पराजयके पीछे कार्य्यक्रममें मिलनेको दोनोंपक्षके बुरों और निकम्मोंको छोड़ देते हैं—क्योंकि जहांतक अन्तिम मिश्रण-की बात है वहांतक दोनों कार्य्यक्रमोंका फल एक ही है; और इसी उभयपक्षके अत्यन्त निकम्मोंके मिश्रणसे जातिको स्थायी रखनेवाले नवीन समाज वा नवीन राष्ट्रकी सृष्टि होती है। मान भी लें कि अच्छा राष्ट्र विजयी होता है, तो भी तो अन्ततः हीन राष्ट्रको अपनेमें मिलाकर उसके अवगुणोंको धारण कर लेता है, और हीन राष्ट्र कहते ही क्यों हैं? क्योंकि वे हार गये, उनके चुने चुने उत्तम लोग मारे गये और शेष मिला लिये गये—और मिलाये जानेका कारण यह कि अब बाल वृद्ध तथा स्त्रियोंको, और उन बलहीनोंको जो सेनामें भर्त्ती नहीं हो सकते मार डालनेकी रीति तो रही नहीं।*

यह क्रम बहुत दिनोंतक और बराबर जारी रहनेसे ही यह फल हो सकता है कि उभयपक्षके ऐसे नमूनेके मनुष्य पूरी तौरसे निर्मूल हो जायँ जिनसे वीरता साहस शारीरिक बल और चीमड़े-पनकी रक्षा हो सकती थी। इसमें रत्तीभर सन्देह नहीं है कि रोम-के तथा उस साम्राज्यके भारवाहक जनसमुदायके अधःपतनका

---

* "प्राचीन संसारका पतन" "Der Untergang der Antiken Welt" नामक ग्रन्थमें डाक्टर अट्टो सेक (Otto Seeck) यह सिद्ध करते हैं कि रोमका पतन उसके सर्वोत्तम मनुष्योंके निःमूल हो जानेके कारण हुआ (Die Ausrottung der Besten)। सीली कहता है कि "रोम साम्राज्य मनुष्योंके अभावसे नष्ट हो गया।" यूनानके इतिहासलेखकने पीलुपर्णेशीय (Peloponnesian) युद्धोंके फल-पर विचार करते हुए लिखा है कि "केवल कापुरुष बच गये और उनसे ही नयी पीढ़ीके लोग जन्मे।"

नेपोलियनी युद्धोंमें युरोपके चुने चुने उत्तम उत्तम तीस लाख मनुष्योंका नाश हुआ। कहते हैं कि इन युद्धोंके पीछे ही फ्रेंच प्रौढ़ जनसमुदायकी साधारण लम्बाई एकाएकी एक इंच घट गयी। जो कुछ हो, इसमें सन्देह नहीं कि नेपोलि-यनी युद्धोंमें, सौ वर्षकी युयुत्सामें, जीवन-अपव्ययसे फ्रेंचोंकी शारीरिक योग्यता अत्यन्त बिगड़ गयी और अब फ्रांसको लाचार हो अपने सैनिकबलको स्थायी रखनेके लिए शारीरिक योग्यताके परिमाणको कुछ साल पीछे बराबर घटाना पड़ता है, यहांतक कि अब दो हाथके बौने भी भरती होने लगे।

यही नाशक्रम बहुत बड़ा कारण था। विजेताके पक्षमें अधःपतनका क्रम इस कारण-विशेषसे भी चलता है कि यदि विजेता विजयसे बहुत ज्यादा लाभ उठावे—जैसा लाभ कि एक तरहसे रोमनोंने उठाया था—तो विजेताको ही ऐश आरामसे जीवन बिताकर वीरता खो बैठनेका डर रहता है; साथ ही साथ विजेताके लिए पराजित-को परिश्रम करनेको बाध्य होना पड़ता है, और इस तरह वे डट-कर उद्योग करनेके गुणोंको सीख लेते हैं, जो कि खड्गके बल जबरदस्ती मेहनत कराने और दूसरोंके परिश्रमके फलसे मजे उड़ानेकी अपेक्षा अच्छी शिक्षा है। विजेता ही वस्तुतः निकम्मा हो जाता है और पराजित ही सुव्यवस्थित राज्यके उपयोगी गुण और नियम सीख लेता है।

इसलिए वरेण्य फान स्टेंगेलकी नाईं यह कहना कि युद्ध आंधी-की तरह बलहीन पेड़ोंको गिरा देता है और सुदृढ़ साखूके पेड़ोंको ज्योंका त्यों छोड़ देता है, बड़े विश्वाससे सत्यका ठीक उलटा रूप दिखाना और ऐसे अनुपयुक्त अर्थहीन परन्तु सर्वसाधारणमें फैले हुए शब्द-विन्यासका आश्रय लेना है जिनपर ध्यान न देनेसे इन विषयोंमें साधारण विचारका अंगभंग हो जाता है और बहुधा सत्यका उलट पुलट हो जाता है। हमारे नित्यके विचार इसके ही उदाहरणोंसे भरे पड़े हैं। सैकड़ों बरसतक हम अगले लोगोंकी बड़ी बुद्धिमानीकी प्रशंसा करते रहे, तात्पर्य्य कि अनुभवमें वर्त्तमान पीढ़ीके लोग कच्चे हैं और अगले लोगोंको प्राचीन कालका बटुरा बटुराया अनुभव था। किन्तु सच्ची बात इसीका उलटा है। तिसपर भी ब्रिटिश पार्लिमेंटमें ही "अगले लोगोंकी विद्या" "हमारे पुरखोंकी बुद्धिमानी" आदि साधारण वाक्य व्यवहारमें आते थे, और अन्तको इंगलैंडके एक गांवके पादरीने इन वाक्योंको दिल्लगी उड़ाकर एकदम उठा दिया।*

मैं यह हठवाद नहीं करता कि सैनिक शक्तियोंके अधःपतनका कारण वही मौलिक, साधारण चुननेवाली रीति है जिसका मैंने वर्णन किया है, वह तो घटनाक्रमका एक अंगमात्र है। सारा क्रम तो इससे कुछ अधिक जटिल है, कि बुरोंकी रक्षा और भलोंका

* मेरी समझमें यह कहना अनुचित न होगा कि इस अद्भुत भ्रमको नाश करनेका प्रधान शस्त्र बेकनका ज्ञानकथन नहीं बल्कि सिडनी स्मिथकी दिल्लगी ही थी।

संहारवाला क्रम जितना जीववैज्ञानिक है उतना ही समाजवैज्ञानिक है, अर्थात् यदि बहुत कालतक कोई राष्ट्र युद्धमें ही लगा रहता है तो व्यापार मंदा पड़ जाता है, लोगोंका डटकर-उद्योगकरनेका अभ्यास छूट जाता है, राज्य और शासन कुत्सित हो जाता है, अपराधोंका दंड और कुरीतियोंका सुधार नहीं हो सकता, और मनुष्योंके बल और वृद्धिके प्रकृत स्रोत क्षीण पड़ जाते हैं। एशियामें और नयी दुनियामें स्पेनिश पोर्टुगीज़ और फ्रेंचके फैलनेमें आपेक्षिक निष्फलता और ह्रास, और उनमें ही अंग्रेज़ोंके फैलनेमें आपेक्षिक सफलताका कारण क्या है? क्या केवल युद्धके जोखिममें पड़ जानेसे ब्रिटेनको भारतका राज्य और नयी दुनियाके आधेकी मिलकियत मिल गयी? यदि ऐसा विचार किसीका हो तो अवश्य उसने इतिहासके वास्तविक मर्म्मको नहीं समझा है। बात यह थी कि स्पेन पोर्टुगाल और फ्रांसकी रीतियां और कार्य्यक्रम सैनिक थे किन्तु ऐंग्लो-सक्सन रीतियां शान्त और वाणिज्य सम्बन्धी थीं। क्या यह बात साधारणतः मानी नहीं जाती कि जैसे नयी दुनियामें उसी तरह भारतवर्षमें भी सिपाहियों और विजेताओंको व्यापारियों और बसनेवालोंने निकाल बाहर किया? दोनों रीतियोंमें भेद यही था कि एक तो विजयकी रीति थी दूसरी या तो उपनिवेश बसानेकी थी, या वाणिज्यके लिए असैनिक शासनकी रीति थी। एक तो उच्च युद्धाभिलाषाका आदर्श था और दूसरा युद्धवादियोंका हास्यास्पद निकम्मा काबडनवाला विचार पूर्णरूपसे था। एक तो परस्वत्वोपजीविता (Parasitism) थी और दूसरी सहकारिता थी।*

जो लोग जलस्थलसेनासे ही किसी राष्ट्रकी शक्तिकी अटकल करते हैं, वे मानों दर्शनी हुंडीकी बही वा चेक-बुकको ही धन समझते हैं। बच्चा अपने बापको चेक फाड़ फाड़ भुगतान करते देखता है तो मान लेता है कि बस बहुत सा रुपयेवाला होनेके लिए बहुत से चेक-बुक होने चाहिए। बच्चेको यह नहीं मालूम होता कि चेक-बुकमें सामर्थ्य होनेके लिए अदृष्ट जमाकी आवश्यकता है। यदि व्यक्तिगत क्षमता, सामाजिक शिक्षा, औद्योगिक योग्यता न हो तो कोरी प्रभुतासे क्या लाभ हो सकता है? सैनिक साहसकर्म्ममें जब अपनी शक्ति नष्ट हो जायगी तो ये सब गुण कहांसे आवेंगे?

* अगले अध्यायके आरंभमें जो भेद दिखाया गया है पाठक उसपर विचार करें।

क्या स्पेनकी असफलताका कारण यह नहीं है कि उसने इस सत्य-ज्ञानको नहीं समझा था ? तीन सदियोंतक उसने विजयपर अपने शस्त्रबलपर जीवननिर्वाह करनेका प्रयत्न किया, किन्तु इस पद्धतिमें दिनपर दिन निर्धन होता गया, और उसकी आधुनिक सामाजिक जागृति तबसे प्रारंभ हुई जबसे अन्तिम अमेरिकन उपनिवेश उसके हाथसे निकल गया। क्यूबा और फिलिप्पाइंसको जबसे उसने खोया तबसे उसके राष्ट्रीय कागजोंका भाव दूना हो गया है। (स्पेनी-अमेरिकन युद्धके छिड़नेके समय चार टकिया कागज ४५)पर जाते थे, किन्तु तबसे अबतकमें उनको भाव १००) तक पहुँच गया है।) जो सामाजिक जागृति स्पेनमें गत डेढ़ सौ बरसोंमें नहीं हुई वह जो गत दस ही बरसोंमें हुई उसका कारण यह हुआ कि स्पेनको साम्राज्यके स्वप्नको और विजयकी कल्पनाको एकदम त्याग देनेके लिए एक ऐसे राष्ट्रने बाध्य किया जो जर्म्मनीसे सैनिक बलमें अत्यन्त कम है और उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उद्योगी है। इस सम्बन्धमें स्पेनके अन्तिम आत्मत्यागकी परिस्थिति इस बातको स्पष्ट कर देती है कि मिस्टर सिडनी लोकी घृणाका पात्र कावडनो आदर्श—औद्योगिक शिक्षा और औद्योगिक परिपाटी—सैनिक प्रधानता रखनेवाले समाजकी शिक्षाके लिए बहुत प्रबल है। यदि यह बात सच है कि सेडानमें जर्म्मन शिक्षकने विजय-लाभ कराया तो यह भी सच है कि शिकागोका व्यापारी मनीलामें विजयका कारण हुआ। जब स्पेन और अमेरिकामें युद्ध हो रहा था उस समय दैवयोगसे इस ग्रन्थके लेखकका दोनोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, और उसे यह अच्छी तरह याद है कि स्पेनी लोग उस समय इस कल्पनापर अवज्ञापूर्वक यह कहते थे कि क्या अमेरिका-के बूचड़ हमारे जैसे युद्धकीर्त्तिवाले राष्ट्रको पराजित कर सकेंगे और क्या प्राचीन स्पेनके रणवीरोंके सामने अमेरिकाके बनिये भी खड़े हो सकेंगे। फ्रेंचोंकी रायमें भी इससे कुछ बहुत अन्तर नहीं था।* युद्धके थोड़े दिन पीछे मैंने एक अमेरिकन पत्रमें यों लिखा था—

* जब स्पेनिश सेना अमेरिकासे युद्ध करनेको माद्रिदसे कूच कर रही थी, उस समय दैवयोगसे महाशय पीरी लौटी वहीं थे। आपने यों लिखा "निस्संदेह स्पेनकी सेनाएं अबतक वैसी ही दृढ़, बलवती, महत्वशालिनी हैं जैसी रणकुशला वह युगयुगसे होती आयी है। उनको

वर्त्तमान स्पेन वही है जिसने विशेषरूपसे सैनिक व्यवसायमें निरन्तर कई सदियां बितायी हैं और आज कोई यह नहीं कह सकता कि सिपाही और सेनाके जितने गुण हम समझते हैं उनमें वह किसी तरह हीन वा असैनिक रहा है। तिसपर भी राष्ट्रीय शक्तिरक्षा तथा राष्ट्रीय योग्यताके लिए ये गुण किसी प्रकार यदि पर्य्याप्त समझे जायँ तो स्पेनका इतिहास सर्वथा दुर्बोध हो जायगा। अमेरिकासे अपने अन्तिम युद्धमें स्पेनियोंने सैनिकविशेष गुणोंमें कोई कमी नहीं दिखायी। आदमी और रुपयेकी कमीके सिवा, ठीक ठीक उन्हीं गुणोंमें स्पेनीय हीन रहे, जो असैनिक अमेरिकनोंमें उद्योगशीलतासे उत्पन्न हो गये हैं। निकम्मे सामान, रसदकी कमी और बुरे नेतृत्वके विषयमें जो पक्के समाचार मिले हैं उनसे यह प्रकट होता है कि स्पेनकी जलस्थलसेना अयोग्यताके गर्त्तमें कितने नीचे गिर गयी है। हमारा यह विश्वास अनुचित नहीं है कि स्पेनसे कोई बहुत छोटा राष्ट्र भी जिसे सैनिक शिक्षा कम किन्तु औद्योगिक अधिक मिली होती, अपने उपनिवेशोंकी रक्षा और अमेरिकाका प्रतीकार दोनों अधिक योग्यतासे कर सकता। एशियाखंडमें हालैंडकी वर्त्तमान स्थितिसे यही बात प्रकट होती है। डच लोग सदासे प्रायः औद्योगिक तथा असैनिक चले आये हैं किन्तु बहुसंख्यक स्पेनीयोंकी अपेक्षा राष्ट्ररूपसे उन्होंने अधिक शक्ति और योग्यता दिखायी है।

जैसे सब जगह यही सिद्ध होता है वैसे ही यहां भी यही स्पष्ट हुआ कि सैनिकशक्तिरूपमें भी राष्ट्रीय योग्यताके विचारके अवसरपर आर्थिक प्रश्नको सैनिक प्रश्नसे सर्वथा अलग कर देना असम्भव है और यह कि सार्वजनिक संघोंकी शक्तिपर ही राष्ट्रकी शक्तिको सर्वथा निर्भर समझ लेना या यह सोच लेना कि इसकी शक्तिका अनुमान उसकी सेनाके आकारमात्रसे हो सकता है, घातक भूल है। बड़ी सेना तो वास्तवमें राष्ट्रीय, अर्थात् सैनिक, दुर्बलताका लक्षण समझी जा सकती है। आजकल और व्यवसायोंकी नाई युद्ध भी एक व्यवसाय है और रसदकी कमी और धोखेबाजीके शासनका प्रायश्चित्त किसी साहससे, किसी वीरतासे, किसी "प्राचीन कीर्त्तिसे", किसी "अमरयशसे" नहीं हो सकता। शासनके अच्छे अच्छे गुणोंसे ही अन्तको राष्ट्रके युद्ध जीते जायँगे। संसारमें सब इस सत्यको समझ गये किन्तु स्पेनीयोंकी समझमें अबतक यह बात नहीं आयी है। वे अबतक उद्धत शूरता और स्पेनीय प्रतिष्ठाकी हांकते हैं और वाणिज्यको अपनेसे हेच समझकर उससे अनभिज्ञ हैं।......वर्त्तमान स्पेनपर लिखते हुए एक लेखक

देखनेसे ही कोई भी अनुमान कर सकता है कि ऐसे वीरोंका सामना जब अमेरिकाके बनियोंको करना पड़ेगा तो उनकी कैसी दुर्दशा होगी।" आपने घोर रक्तपातका भविष्यवाद किया। महाशय लोटी फ्रेंच अकेडमीके सदस्य हैं।

कहता है कि सार्वजनिक मामलोंमें वहांके कर्म्मचारियोंके आचरणपर अयोग्यताके जितने अभियोग लगाये जायँ कोई भी साधारण समझदार मध्यम श्रेणीका स्पेनी उन्हें मान लेगा और उसपर यों उत्तर देगा कि "हां, हमारी सरकार निकम्मी है, कोई दूसरा देश होता तो गोली मार दी जाती।" किसीकी "हत्याके सिवा और कोई इलाज ही नहीं है।" इस सैनिकमतसे क्या आशा की जा सकती है?

यहां हमें यह पता लगता है कि नयी दुनियामें युद्धबुद्धि स्पेनकी ही फैलायी हुई है और स्पेनीय अमेरिकाके इतिहासपर इस बुद्धिकी जो छाप पड़ गयी है वह अब मिटाये नहीं मिटती। इस सम्बन्धमें कुछ काल पीछे मैंने यों लिखा था—

जिसे अतिसैनिकताके इस फलको समझना हो कि निरन्तर सैनिक ही शिक्षा होनेसे जातिकी क्या दशा हो जाती है, वह स्पेनीय अमेरिकापर विचार करे। यहां हमें एक कोड़ीके लगभग ऐसे राज्योंका समूह मिल जाता है जो सामाजिक और राजनीतिक संगठनमें बहुत कुछ सादृश्य रखते हैं। दक्षिण अमेरिकाके अधिकांश राज्य भाषा, आईन और संस्थाओंमें ऐसे मिलते जुलते हैं कि बाहरी मनुष्यको रत्तीभर भी अन्तर न समझ पड़ेगा जो वह सोचे कि मैं किस छ-महीने-से-स्थापित प्रजातंत्रविशेषमें रहूं—चाहे कोई कोलंबियाके विज्ञप्तिद्वारा नियुक्त राष्ट्रपतिके अधीन रहे, चाहे वनोज्ज्वलाके राष्ट्रपतिके अधीन रहे उसकी दशामें कोई अन्तर न दिखेगा। किसी देशमें ऐसी कोई विशेषता नहीं पायी जाती जो दूसरोंमें न हो, एवं कोई ऐसी बात भी नहीं है जिससे एकको दूसरेसे बचनेकी आवश्यकता पड़े। यहांतक कि यदि सरकारोंमें अदलाबदली हो जाय तो भी प्रजाको कुछ हानि वा लाभ नहीं है। इतनेपर भी ये छोटे छोटे राज्य "स्वरक्षाकी आवश्यकताकी" मायासे ऐसे मोहित हो गये हैं, सैन्यबलसे ऐसे मुग्ध हो गये हैं कि उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं है जिसके पास औरोंसे आत्मरक्षाके लिए बड़े एचपेचकी सैन्यव्यवस्था बड़े व्ययसे न रक्खी गयी हो।

वास्तविक रूपसे राज्योंकी सम्मिलित पंचायत बन जानेके लिए स्पेनिश अमेरिकासे बढ़कर कोई परिस्थिति ही नहीं है। कुछ थोड़ी सी बातें छोड़कर, भाषा, आईन और साधारण जात्यादर्शोंकी एकतापर विचार करनेसे सीमाओंकी रक्षाका काम निरर्थक ही ठहरता है। तिसपर भी वहांके नागरिक बिल्कुल अपनी ही सी सरकारसे बचनेके लिए अपरिमित धन, सेवा और जीवन दे देते हैं और अनेक दुःख उठाते हैं। इतना जीवन इतनी शक्ति बराबर नष्ट होती रही किन्तु इन राज्योंमें एकको भी यह बात न सूझी कि दूसरे राज्याधीन हो जानेसे इतना कम और क्षुद्र अन्तर पड़ेगा कि निरन्तरके व्यर्थ रक्तपात और धनके अपव्ययकी

अनज्ञा दूसरे राज्यके अधीन हो जाना सहस्रशः अधिक श्रेयस्कर है। अभी उसी दिन जैसे पटागोनीय सड़कोंके बारेमें अर्जेंटिना और चिलीमें परस्पर युद्ध होते होते रह गया, वैसे ही अत्यन्त महत्वहीन बातपर ऐसी घनिष्ट देशभक्ति खर्च की जायगी जैसी (Tricolor) त्रिवर्णध्वजाकी मानरक्षामें (Old Gaurd) फ्रेंच प्राचीनरक्षकने भी कभी न की होगी। ऐसे ऐसे युद्ध हो जायँगे जिनके आगे दक्षिण अफ्रिकाके रण-प्रयास तुच्छ लगेंगे। वहांकी जिन लड़ाइयोंमें खेत रहनेवालोंकी गिनती हज़ारोंमें होती है उनपर संसारमें उतनी ही टीकाएँ होती हैं जितनी नेटालके उन झगड़ोंमें हो जाती हैं जिनमें बीस असामी पकड़कर फिर छोड़ दिये गये। *

उपर्युक्त वाक्य लिखनेके बादवाले दशकमें दक्षिण अमेरिकाकी परिस्थितिमें बड़े बड़े सुधार हो गये हैं। सो क्यों? इसी सीधे सादे कारणसे, जैसा कि इस पुस्तकके पहले भागके पांचवें अध्यायमें दिखाया गया है, कि स्पेनिश अमेरिका संसारके आर्थिक आन्दोलनमें दिनपर दिन अधिकाधिक मिलता जाता है। ऐसे ऐसे कारखाने, बंक और कारबार खुल गये हैं जिनमें बड़ी बड़ी पूंजी लगायी गयी है, और जिन लोगोंका स्वार्थ इनमें सम्मिलित है उन लोगोंके मनकी प्रवृत्ति बिल्कुल बदल गयी है। उनकी दृष्टिमें आततायी, सैनिक सहसाचारी, झगड़ा पैदा करनेवाले अपनी अपनी योग्यतानुसार देखे जाते हैं, अर्थात् देशभक्त समझे जानेके बदले बड़े नटखट और दुष्कर्मी समझे जाते हैं।

इस साधारण सत्यके दो रूप हैं—यदि चिरकालतक युद्ध करते करते मनुष्यजाति औद्योगिक व्यवसायके योग्य नहीं रह जाती, तो उसी तरह बहुत दिनोंका आर्थिक दबाव—अर्थात् जो प्रभाव सामाजिक योगक्षेमकी ओर मनुष्यकी शक्तियोंको पहलेसे ही झुका देता है—सैनिक परम्पराके लिए घातक है। दोनोंमें एक रूप भी स्थायी नहीं है। युद्धसे धनाभाव, धनाभावसे परिश्रम और मितव्यय, और परिश्रम और मितव्ययसे फिर धन होता है। धनसे अवकाश और अभिमान, और बेकारी और अभिमानका फल फिर युद्ध होता है।

सैनिक परम्परा वहीं जीवित रहती है जहां औद्योगिक प्रयत्नका फल प्रकृतिदेवीसे यथेष्ट शीघ्रतासे नहीं मिलता, जहां कमसे

* पाठकगण इस सम्बन्धमें पृ० २०४–५पर उद्धृत पत्रको भी पढ़ें।

कम देखनेमें तो मेहनतकी कमाईकी अपेक्षा लूटमारमें लाभ अधिक है। अपने बाबा इब्राहीमके समयसे आजतक बद्दू डकैती ही करता आया है, और उसका सामान्य कारण यही है कि मरुस्थलमें न तो औद्योगिक जीवनका निर्वाह ही हो सकता है और न औद्योगिक प्रयत्नका कुछ फल ही होता है। यदि देखनेमें किसी व्यवसायसे लाभ है तो वह लूट ही है। मराकोमें, अरबमें, निदान सब ही धनहीन चराईवाले देशोंमें, यही घटना दिखाई देती है। जो पहाड़ी प्रदेश उपजाऊ नहीं हैं और आर्थिक केन्द्रोंसे दूर हैं उनकी भी वही दशा है। लोहे और कोयलेके युगके पहले किसी अंशतक यही दशा प्रशाकी भी रही होगी। परन्तु इस बातसे कि आज सौमें निन्नानबे निवासी उद्योग और व्यापारमें लगे हुए हैं, और सौमें एक ही सेनामें है, और इससे कहीं छोटा गणनातीत अंश वास्तविक युद्धमें लगा हुआ है, यह स्पष्ट होता है कि प्रशाकी वह दशा बहुत दिनोंसे बीत चुकी है। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि निन्नानबेके स्वार्थ और व्यवसायके विपरीत सौमें एक वा इससे भी क्षुद्र अंशकी परम्परा और आदर्शके प्रभावकी क्या आशा हो सकती है। कारणोंके कम जटिल होनेसे और हालकी बात होनेसे दक्षिण और मध्य अमेरिकाके हालके इतिहासमें इस प्रवृत्तिका सबसे अच्छा उदाहरण मिलता है। स्पेनिश अमेरिकामें सैनिक परम्परा अपने पूरे उग्र रूपसे चली आयी थी। मैं यह दिखा चुका हूं कि स्पेनियोंने अमेरिकन महाद्वीपको उपनिवेश बसाकर नहीं किन्तु जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया था। और मातृभूमि ज्यों ज्यों विजयक्रमसे धनहीना होती जाती थी त्यों त्यों नये प्रदेश भी उसी घातक भ्रमकी लकीरपर चलकर निर्धन होते गये। विजयका इन्द्रजाल ही स्पेनके नाशका कारण था। जबतक स्पेनीय लोग चूस चूसकर सोना चांदी ले जाकर काम चलाते रहे तबतक सामाजिक वा औद्योगिक कोई भी अभ्युदय संभव नहीं दिखता था। इसके विरुद्ध साधारण कल्पना होते हुए भी जर्म्मनीने इस घातक मायाजालसे अपनेको परे ही रक्खा और उसके सैनिक व्यवसायका उसके औद्योगिक व्यवसायको सोख जाना तो दूर रहा, वास्तविकमें उसके औद्योगिक और व्यापारिक व्यवसाय उसके सैनिक व्यवसायको सोखते जाते हैं और उसका जगद्व्यापी व्यापार खड्गके बलसे सोना चांदी वा कर उगाहनेपर निर्भर न करके

सच्ची और शुद्ध अदला-बदलीपर अवलम्बन करता है। जिस जर्म्मनीने कभी स्पेनीय अमेरिकाको विजय करनेको एक सिपाही भी नहीं भेजा, सो ही आज वहांसे उसो स्पेनकी अपेक्षा अपरिमित शुद्ध व्यापारिक कर लेता है जिसने कई शताब्दियोंतक इन देशोंके पीछे अपने देशकी रक्तधारा वहायी है और खजाना खाली कर दिया है। युयुत्सु राष्ट्र इसी तरह भूमिके उत्तराधिकारी होते हैं!

यदि स्पेनका सा अधःपतन जर्म्मनीका न होगा तो उसका ठीक ठीक कारण यही है कि (१) इतिहासमें उसे विजयपर ही निर्भर करनेका स्पेनका सा अवसर नहीं मिला है और (२) सच्चे उद्योगपर ही विवशतः भरोसा करनेसे स्पेनद्वारा विजित देशोंपर भी उसका व्यापारिक अधिकार स्पेनकी अपेक्षा अधिक दृढ़ हो गया है।

संसारमें जितने साम्राज्य हो गये हैं—(Assyrian) आसुरी, (Babylonian) भव्यलूनी, मेध और पारसीक, मकदूनी, रोमन (Frank) फिरंगी, सक्सनी, स्पेनी, पुर्त्तगाली, बर्बनी, नेपोलियनी —सबपर विचार करके इस विषयमें क्या परिणाम निकलता है? इन सबमें और प्रत्येकमें एक ही क्रम दृष्टिगोचर होता है, यही कि यदि साम्राज्य सैनिक हुआ तो धीरे धीरे नष्ट हो जायगा और यदि उसकी सुखवृद्धि होती है और संसारके अभ्युदयमें योग देता है तो सैनिक नहीं रह जाता। इतिहासकी और कोई व्याख्या है ही नहीं।

राष्ट्रीय जीवनरक्षाके वास्तविक क्रमका सम्बन्ध राष्ट्रोंकी युयुत्सा और परस्पर विरोधसे किसी तरह कुछ भी है, इस प्रतिज्ञाका किसी तरहका समर्थन इतिहाससे नहीं होता। इस बातसे यह स्पष्ट होता है कि जिन राष्ट्रोंका पालन पोषण साधारणतः युद्धमें हुआ है उनकी अपेक्षा शान्तिकी दशामें बढ़े हुए राष्ट्र कहीं अधिक बलवान होते हैं। ऐंग्लोसक्सनोंकी भांति असैनिक परम्परा और भाव रखनेवाली अमेरिकाकी जातियां, वहांकी ही स्पेनी और पुर्त्तगाली युद्धपरम्परासे उत्तेजित जातियोंकी अपेक्षा दीर्घजीविनी होनेकी सामग्री अधिक रखती हैं। युरोपके औद्योगिक राष्ट्रोंकी दशाकी तुलना वहांके सैनिक राष्ट्रोंसे यदि की जाय तो युद्धेप्सित गुणोंको योग्यतमावशेषका कारण माननेवाले सिद्धान्तका किसी तरह समर्थन नहीं होता। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जीवविज्ञान भी इस

बातका समर्थन नहीं करता कि राष्ट्रोंमें विरोधको स्थायी रखनेके लिए मनुष्यका राजनीतिक विकास होता है, न तो इस कथनको आदर देता है कि इस विरोधकी कमी "प्रकृतिके नियमके" विपरीत है; ऐसा कोई नसर्गिक नियम ही नहीं है। नैसर्गिक नियमोंके अनुसार मनुष्य लाचार हो, विरोधभावके बदले, जातियोंमें परस्पर सहकारिताके लिए बाध्य किये जा रहे हैं।

अब यह बहस रह जाती है कि यद्यपि झगड़ेसे अवनति होती है, तथापि उसकी तय्यारीसे जीवितावशेष होता है, मनुष्यका स्वभाव सुधरता है। मैं उस अत्यन्त गड़बड़की चर्चा कर चुका हूं जो इस दलीलसे पैदा होती है, कि यद्यपि चिरकालकी शान्ति बुरी है, तथापि शान्ति-रक्षक होनेसे सैनिक तय्यारियां न्याय युक्त हैं।

जो वाक्य मैंने उद्धृत किये हैं उनमें मिस्टर लोकी व्यंग्योक्ति शान्तिके आदर्शपर इसलिए है कि उसमें सस्ता लेने और महँगा बेचनेवाली कावडनकी स्थिति सम्बद्ध है। किन्तु वे अधिकाधिक सैन्यबल-वृद्धिपक्षमें यह बहस करते हैं कि यह बहुमूल्य...... शिक्षालय युद्धका पोषक नहीं किन्तु शान्तिका रक्षक है—अर्थात् उसी "सस्ता लेने महँगा बेचनेकी" स्थितिका रक्षक है जिसे अभी लो साहबने दोषयुक्त ठहराया था! उनका कहना है कि सैनिक शिक्षासे शान्ति रहती है, क्योंकि जर्म्मन व्यापारको इससे लाभ पहुँचा है, अर्थात् "कावडनके आदर्शकी" इससे पुष्टि हुई है—यह कहकर मानो उन्होंने अपने ही वाक्योंके खंडनकी कमी पूरी कर दी! मिस्टर राबर्टसनने बड़ी उत्तम रीतिसे इस वादका विश्लेषण करके दिखाया है। वह कुछ इसी तरहका है—(१) युद्ध-से आचारनीतिकी बड़ी भारी शिक्षा होती है, इसलिए शान्तिरक्षार्थ हमें बड़ी बड़ी युद्ध सामग्री चाहिए। (२) सुरक्षित शान्तिसे काव-डनके आदर्शकी उत्पत्ति हो जाती है, और यह बुरा है, इसलिए सैनिक-बेगारकी प्रथा चलानी चाहिए, (क) क्योंकि सुरक्षित शान्तिके बचावका यह सर्वोत्तम उपाय है, (ख) क्योंकि इससे वाणिज्यकी—कावडनके आदर्शकी—शिक्षा हो जाती है।

बारककी शिक्षा जो गयी पीढ़ीमें सैन्यबलकी प्रतियोगितासे युरोपमहाद्वीपके लोगोंको बाध्य हो ग्रहण करनी पड़ी है क्या उससे आचारका सुधार होता है? क्या हम यह समझें कि जीवनकी

प्रकृत घटनाओंकी शिक्षा ऐसी बातोंके कथोपकथनसे हो सकती है, जो सम्भवतः कभी घटित न होंगी, अथवा यदि हुई भी तो जिस तरह बार बार कथोपकथन किया जाता है उस तरह नहीं होतीं ? क्या ऐसी प्रथाका वास्तविक घटनाओंसे घनिष्ट सम्बन्ध होना सम्भव है ? क्या ऐसी आशा की जा सकती है कि बनावटी कामधाम, बनावटी अपराध, बनावटी गुण और बनावटी दंडसे वास्तविक जीवनसंग्रामके लिए समुचित शिक्षा होना सम्भव है ?* ड्रेफ़सके मुकद्मेमें क्या हुआ ? हालमें कई बरसोंसे जर्म्मन सैनिक जीवनपर जो घृणित कलंक-कालिमा लग रही है वह क्या है ? यदि शान्त-सैनिक-शिक्षा ऐसी अच्छी शाला है, तो फ्रांसके एक पीढ़ीतक ऐसी कठिन शिक्षा पा चुकनेपर टैम्सने उसके विषयमें यों कैसे लिखा—

जब "रेने" कोर्ट-मार्शलका परिणाम प्रकाशित हुआ उस समय फ्रांसके बाहर सारा सभ्य संसार लाज घृणा और भयसे कांप उठा।......अफ़सरोंकी अपनी ही स्वीकारोक्तिसे—चाहे वह अपनेसे निम्न श्रेणीवाले न्यायाध्यक्षोंके सन्मुख निर्भीकता तथा अवज्ञासे की गयी हो, अथवा जिरहके द्वारा उनके मुखसे निकाली गयी हो—ड्रेफ़सके प्रधान अपराध लगानेवाले बड़ी धोखेबाज़ी दग़ाबाज़ी और अन्यायके दोषी ठहरे। कोई और देश होता तो इन दोषोंसे उनकी गवाही कैसी ही पक्की होती दो कौड़ीकी हो जाती; और इतना ही नहीं, वे गवाहोंके स्थानसे तुरन्त कैदीके कठघरेमें कर दिये जाते।......जिस गौरवका उन्हें बड़ा गर्व था

---

* "सदैव जमकर काम करनेको सिपाही अनुपयोगी ही नहीं बल्कि बिल्कुल निकम्मा है। उसका जीवन सबसे ज्यादा सुखका है। न उसे कोई स्वतंत्रता है न कोई जवाबदेही है। राजनीतिक और सामाजिक रीतिसे वह एक बालक है जिसे अधिकारके बदले भोजन मिलता है—उससे बालकका बर्त्ताव होता है, बालककी नाईं दंड पाता है, सुन्दर कपड़े पहनाया जाता है, नहलाया और कंघी किया जाता है, बच्चोंकी नाईं नटखटी करनेपर उसे तरह दी जाती है; बालकोंकी नाईं विवाहसे वर्जित रहता है और बच्चोंकी ही भांति "लल्ला" (Tommy) कहलाता है। यदि उससे घरकी मजूरिनका काम न लिया जाय तो बिना कामकाजके वह पागल अवश्य हो जाय।" ("John Bull's Other Island").

पाठकगण ड्रेफ़सके मामलेका संक्षिप्त वृत्तान्त जानना चाहें तो पहले अनुवादकके "युरोपका इतिहास" शीर्षक लेखका अन्तिम भाग जो इस पुस्तकके आदिमें दिया गया है तथा "ड्रेफ़सपर" इस पुस्तकके अन्तमें दी हुई टिप्पणी पढ़ जायँ। (अनुवादक)

उसका मूल बड़े घृणित कर्म्मोंमें था।......(Zola) ज़ोलावाले मुकदमेंमें जो चकित करनेवाला स्वतःसिद्ध न्याय पहले पहल प्रकट किया गया था कि "सैनिक न्याय और कुछ है और साधारण न्याय और है," उसी न्यायकी सत्यताको इस बार फिर सातमें पांच न्यायाधीशोंने प्रमाणित किया है।......हमको यह कहनेमें तनिक भी संकोच नहीं है कि परिस्थितिपर विचार करनेसे रेनेकोर्ट-मार्शलमें न्यायदेवतासे जैसा महाक्रूर बर्त्ताव हुआ है और जैसी उसकी अत्यन्त घृणित दुर्दशा हुई है, आजकलके संसारमें ऐसा कहीं देखा नहीं गया है।......खुल्लमखुल्ला, जानबूझकर, बड़ी निर्दयतासे न्यायको पैरों तले कुचला गया है।......फ़ैसला नहीं है, यह सभ्यसंसारके लोक-मतके मुँहपर, मानवजातिकी न्यायबुद्धिके गालोंपर, तमाचा लगाया गया है। अबसे इतिहासके सामने फ़्रांस दोषी ठहरता है। ड्रेफ़स जिस कचहरीके सामने खड़ा किया गया था उससे भी कहीं बड़ी कचहरी, कहीं पवित्र न्यायालयके सम्मुख खड़े होकर फ़्रांसको दो में एक बात अवश्य करनी है, या तो वह इस अनर्थको मिटाकर अपनी कीर्त्तिको फिरसे उज्ज्वल करे, या इस अनर्थसे सदाके लिए अपने मुँह कालिख पोतकर बैठे और असभ्यरीतिसे दंडित हो। सत्य और न्यायके विपरीत शक्तियोंकी हम जितनी निन्दा करें थोड़ी है।... कनपतरे अन्तर्राष्ट्रीय "राज्यद्वेष-समिति"वाले सदैव तरह तरहकी गढ़ी कहा-नियोंसे मुग्ध, फ़्रांसकी रक्षा और सेनाकी प्रतिष्ठाके विरुद्ध अभिसंधि करनेवाले, फ़्रेंच राष्ट्रकी न्यायबुद्धि भ्रष्ट हो गयी है और उसकी चेतना नष्ट हो गयी है।... सेनेट और चेम्बरके उन शासन-विशारदोंमें, जो बाहरी संसारसे सम्बन्ध रखते हैं, कुछ ऐसे अवश्य होंगे जो फ़्रांसको चितावनी देंगे कि संसारमें चारों ओरसे बदनामीका टोकरा ढोते हुए जैसे किसी व्यक्तिका जीना कठिन है वैसे ही राष्ट्रका जीना भी कठिन है।......सभ्य ससारके जनरवसे फ़्रांस अपने कान बन्द नहीं कर सकता, क्योंकि यही जनरव इतिहासकी भी प्रतिध्वनि है।"
[September 11, 1899.]

उस समय जो कुछ टैम्सका कहना था वही सारे इंगलैंडका मत था और सारा इंगलैंड ही नहीं, सारा अमेरिका ऐसा ही समझता था।

क्या जर्म्मनी ऐसी बदनामीसे बच गया है? हम लोग साधा-रणतः ऐसा समझ लेते हैं कि ड्रेफ़सवाला मामला जर्म्मनीमें नहीं हो सकता। परन्तु बहुतेरे जर्म्मनोंका ही ऐसा मत नहीं है। सच तो यह है कि ड्रेफ़सवाला मामला अपनी चरमसीमाको नहीं

पहुँचा था कि कोटसे-कलंकपर—जो ड्रेफसवाले मामलेसे कम संगीन नहीं था और जिससे आचारकी उतनी ही अधोगति प्रकट होती है—टैम्सको यह घोषणा करनेका अवसर मिला कि "जर्म्मन सभ्यताके कुछ लक्षण ऐसे हैं कि अंग्रेज़ोंको यह समझनेमें बड़ी कठिनाई होगी कि सारा राज्य ऐसी दुर्दशासे रसातलको क्यों नहीं चला जाता।" और यदि कोटसेवाले मामलेपर यह कहा जा सकता है, तो और अनेक बातोंपर क्या कहा जायगा जिनमें प्रधान वह मामला है जो Maximilien Harden मक्षिमिलियन हार्डनद्वारा प्रकट हुआ है?

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि इन वाक्योंके लेखकका यह अभिप्राय नहीं है कि इस तरह जर्म्मनोंको उसके पड़ोसियोंकी अपेक्षा अधिक हीनावस्थामें दिखावे। किन्तु निष्पक्ष आलोचकोंकी यह राय नहीं है, और बहुतेरे जर्म्मनोंका भी यह मत नहीं है, कि १८७०के विजयसे और उसके फलरूप सदैवकी सैन्य-व्यवस्थासे जर्म्मनोंको तनिक भी आर्थिक सामाजिक वा आचारनीतिक लाभ पहुँचा है। जर्म्मन साम्राज्यमें जैसी प्रकृत दशा है उससे इस बातका दृढ़ प्रमाण मिलता है—अर्थात् जर्म्मनोंका विषम कठिनतामें पड़ना, असन्तोषका बढ़ जाना, असन्तोषसे जो बातें उत्पन्न होती हैं उनका वर्धमान प्रभाव, एक पक्षमें एकदम प्रजातंत्रकी वृद्धि और दूसरे पक्षमें वंशानुसार व्यक्तिगत राज्यपरम्पराका अभ्युदय, जो प्रजासत्ताक वृद्धियां प्रायः सभी युरोपीय राज्योंमें हो गयी हैं उनके सुगमतासे सम्पादन करनेमें अशक्यता, ऐसी विपत्तिका भय, जर्म्मन अर्थ-व्यवस्थाकी चंचल और संकटमय दशा, उसके बहुत बढ़े हुए विदेशी व्यापारकी अपेक्षा उसकी समस्त प्रजाको अत्यन्त कम लाभ होना—यह सब बातें, और इनके अतिरिक्त और बहुतेरी घटनाओंसे उस बातकी पुष्टि होती है। हमलोग इंगलैंडमें इस समय जर्म्मनीके विषयमें अन्धविश्वासमें पड़े हुए हैं। देश-भक्तोंकी समझ ऐसी कुछ विचित्र रीतिसे उलटी हो गयी है, ऐसी अन्धप्रवृत्ति हो गयी है कि जर्म्मनीकी अपेक्षा अपने देशको और दूसरे युरोपियन देशोंको गिरी हुई दशामें देखते हैं। पर स्वयं जर्म्मनोंकी बातका विश्वास किया जाय तो उस चढ़ी बढ़ी उन्नति-का वैसा ही अभाव दिखेगा जैसा जर्म्मन युद्ध-विमानका दिखा जिसकी छायापर हमारे पत्र लेखकोंने अपने कालम काले किये,

जैसा (Epping Forest) एपिंग फ़ारेस्टकी कल्पित सेनाका अभाव था, जैसी लंडनके तहखानोंमें शास्त्रास्त्रकी कल्पित कहानियां झूठ थीं, जैसे होटलके प्रत्येक इटालियन चपरासीमें हमारे देशभक्तोंको जर्म्मन जासूस ही दिखते हैं।*

हमारे आततायियोंके मनपर जर्म्मन "उन्नति"के मायाजालका प्रभाव पड़ते हुए भी स्वयं जर्म्मन लोग—कुछ थोड़ेसे प्रशन गँवारोंको छोड़कर—उस उन्नतिसे तनिक भी मोहित नहीं हुए हैं, जैसा कि उनके समाज-प्रजातंत्र-तत्त्वकी अनुपम वृद्धिसे सिद्ध होता है, क्योंकि यह वृद्धि सैनिक साम्राज्यके विरुद्ध है, और प्रजाका केवल एक ही वर्ग नहीं किन्तु व्यापारी उद्योगी और पेशेवाले सब तरहके लोग इसका समर्थन करते हैं, जैसा कि प्रशाकी संख्याओंसे सिद्ध होता है। प्रशामें निर्वाचन सुधारके आन्दोलनसे यह प्रकट होता है कि झगड़ा कितना कठिन हो गया है। एक ओर तो वर्द्धमान प्रजासत्ताक तत्वकी प्रवृत्ति अधिकाधिक विप्लवात्मक होती जाती है और दूसरी ओर प्रशाकी व्यक्तिगत-राज्यसत्ताकी प्रवृत्ति राजी होनेकी ओरसे नित्य हटती जाती है। क्या सचमुच कोई ऐसा भी विश्वास करता है कि यही दशा बनी रहेगी, प्रजासत्ताक समुदायोंकी संख्या बढ़ती जानेपर भी वे सदैव प्रशाके रईसोंके दास बने रहनेमें सन्तुष्ट रहेंगे, तथा जर्म्मन प्रजातंत्रपक्ष ऐसी स्थितिको निरन्तर स्वीकार करता रहेगा जिसमें—जर्म्मन (रैकसटाग) कौंसिलके सदस्य युंकर फण ओल्डेनबर्गके वाक्यानुसार—जर्म्मन सम्राट जिस दिन इच्छा करेंगे एक सेनानीको आज्ञा दे देंगे कि "दस आदमी लेकर जाओ और रैक्स्टाग (जर्म्मन कौंसिल) बन्द कर दो।"

सैनिकता और सैनिक विजयका लाभ जर्म्मन किस प्रकार मानेंगे जब कि वे प्रत्यक्ष देखते हैं कि सैनिकताके ही प्रभावसे वे अबतक उन झगड़ोंमें फँसे हुए हैं जिन्हें इनसे कम योद्धा देश एक पीढ़ी पहले ही मिटा चुके हैं? जर्म्मन सैनिकरीतिको आदर्श माननेवाले, सैनिकताके अंग्रेज़ पक्षपाती उसके संयम-नियम-शिक्षक

* इंगलैंडमें कोई विचित्र स्थिति हो गयी होगी, नहीं तो मिस्टर ब्लचफ़ोर्डके संरक्षक *Daily Mail* डेलीमेलके स्वामीको अपने ही हस्ताक्षरपर डेढ़ कालममें अपने ही पाठकोंकी नसीहत उनकी हलचल और घबराहटपर बड़े कड़े शब्दोंमें न करनी पड़ती।

होनेके विषयमें क्या कहेंगे जब कि जर्म्मन साम्राज्यका चांसेलर स्वयं इंगलैंड सरीखे लोकमतका अधिकार जर्म्मनीमें न दिये जानेका कारण यह प्रकट करता है कि इंगलैंडमें जिस लोकसंयमसे लोकमतकी व्यवस्था सम्भव है, उसके गुण अभी प्रशन लोगोंमें नहीं आये हैं ? *

किन्तु जिस बातकी योग्यता चांसेलरके मतमें प्रशनोंमें नहीं आयी है, स्कन्दनवीय स्विस डच बेल्जिक राष्ट्रोंमें वही योग्यता सैनिक विजय और तदनुगत सैन्यव्यवस्थाकी सहायता बिना ही उत्पन्न हो गयी! एक समय क्या किसीने यों नहीं कहा था कि युद्धसे जर्म्मनीका महत्व तो बढ़ गया किन्तु जर्म्मनोंका महत्व घट गया ?

जर्म्मनीकी इतनी सामाजिक वृद्धिका [जिससे मेरी जानमें किसीको इनकार नहीं है] कारण जब हम उसके विजय और सैन्यव्यवस्थाको मानते हैं, तो जिन छोटे राज्योंकी चर्चा मैंने अभी की है, जहां ऐसी ही वृद्धि धनपक्षमें जर्म्मनीके बराबर ही और सदाचारपक्षमें उससे भी अधिक हुई है, उनकी सामाजिक उन्नतिपर विचार करना क्यों भूल जाते हैं ? इस बातको हम क्यों भूल जाते हैं कि यदि किसी किसी सामाजिक संगठनमें जर्म्मनीने अच्छी व्यवस्था की है, तो स्कन्दनविया और स्वित्सरलैंडने उससे भी अच्छी की है? और इस बातको क्यों भूलते हैं कि यदि

---

* १४ मार्च, १६११का *Berliner Tageblatt*नामक पत्र यों लिखता है—"जर्मनोंकी अनिश्चित और भ्रममूलक रीतियों और उनके अविश्वास और सन्देहकी ओर दृष्टि करनेसे अंग्रेज जातिके अविरल देशानुराग और राजभक्तिकी सराहना करनी ही पड़ती है। बहुसंख्यक युद्ध, रक्तपात और बरबादीपर भी अपने सैनिक संकटोंसे सदासे इंगलैंड सरलता और शुद्धतापूर्वक निकलता आ रहा है और अपने साधारण शान्त और सुनिश्चित रूपसे अपनी परिवर्त्तित एवं नवीन परिस्थितिमें चुपचाप दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जाता है।......अंग्रेज़ रईसोंके गंभीर गुण और चरित्रकी प्रशंसा भी किये बिना नहीं रह सकते, कारण कि उनकी श्रेणीमें दूसरी जातियोंके योग्य और अभिलाषियोंके प्रवेशका द्वार बराबर खुला हुआ है, और इस तरह मध्यम श्रेणीके लोगोंकी उन्नतिके मार्गको वे बराबर धीरे धीरे प्रशस्त करते जाते हैं, और यही बात है कि मध्यम श्रेणीवाले उनका समुचित सम्मान और प्रतिष्ठा करते हैं। यही बात है जिसे जर्म्मनीमें कोई जानता भी नहीं, किन्तु यदि इसका प्रचार होता तो हमको असीम लाभ होता।"

सैन्यव्यवस्था समाजके लिए इतनी उपयोगी है तो स्पेन, इटली, आस्ट्रिया, रूस और रूसमें, जो जर्म्मनीकी अपेक्षा कहीं अधिक सैनिक हैं, सैनिकताका बिलकुल प्रभाव न पड़नेका क्या कारण है?

जर्म्मनीके पीछे जो दीवाने हो रहे हैं उनकी इच्छानुसार यदि हम इस असम्भवको भी थोड़ी देरके लिए मान लें कि जर्म्मन वृद्धिका कारण सैन्यव्यवस्था ही है, तो क्या ऐसा भी समझ लेनेके लिए कोई युक्तिसंगत प्रमाण है कि ऐसी ही प्रक्रियाका प्रयोग हमारा सी सामाजिक, आचारनीतिक, आर्थिक और ऐतिहासिक दशामें भी हो सकता है?

पराजयके पीछेकी पीढ़ियोंमें और विजयके बादकी पीढ़ीमें भी बराबर जर्म्मनी जिस स्थितिके लिए लड़ता रहा युद्धके पीछेकी उसी स्थितिसे शक्तिशास्त्रके फलके विषयमें एक बड़ी आवश्यक शिक्षा मिलती है। प्रायः जर्म्मनीके सभी निरपेक्ष निरीक्षक मिस्टर (Harbutt Dawson) हरभट्ट डासनके इस कथनसे सहमत हैं कि—

जिस समय केवल भौगोलिक दृष्टिसे जर्म्मनी एक देश था उस समय संसारके आचारनीतिक एवं वैज्ञानिक शक्तियोंमें उसका जितना महत्व था उतना ही अब जर्म्मनीको एक राष्ट्र हो जानेपर प्राप्त है, यह भी निश्चय नहीं है।......देखने-से तो विदित होता है कि उसके अधिकारमें आर्थिक और भौतिक शक्तियोंका अक्षय कोष है, किन्तु उसका वास्तविक प्रभाव और दबाव जिसका प्रयोग वह कर रहा है परिमाणमें बहुत थोड़ा है। सभ्यताका इतिहास इस बातके प्रमाणोंसे भरा पड़ा है कि दोनों बातोंका अर्थ एक ही नहीं है। किसी राष्ट्रकी शक्तिमात्रका अन्तिम विश्लेषण करो तो केवल पाशविक बलका समूह ठहरेगा। इस बलके साथ साथ आंतरिक शक्ति भी हो सकती है, किन्तु ऐसी शक्ति सदैव बलमात्रपर निर्भर नहीं कर सकती, और इसकी परीक्षा सहजमें हो सकती है।......... जर्म्मन चरित्रके सर्वोत्तम अंगको जो आदरणीय समझता है, और जो जर्म्मनों-का हितैषी है, पुराने राष्ट्रीय आदर्शोंमें जो कमी आ गयी दिखती है उसे कभी थोड़ी हानि न समझेगा। जिन राजनीतिक नियमोंसे शासन होता है जानकारोंमें उन नियमोंसे असंतोष होनेका कारण यही है—यह असंतोष अस्पष्ट और अनिर्दिष्ट है और ऐसे लोगोंका है जिन्हें यह ठीक ठीक नहीं मालूम कि गड़बड़ क्या है और वे सुधार क्या चाहते हैं, किन्तु उन्हें ऐसा समझ पड़ता है कि हमें वह स्वतन्त्रता नहीं दी जाती जो मानव व्यक्तिको योग्यता, महत्व और स्वत्वके अनुकूल है।"

* (Fuchs) फुक्सका प्रश्न है कि क्या "जर्म्मन सभ्यताका भी अस्तित्व वर्त्तमान कालमें है ?" "हम जर्म्मन लोग और राष्ट्रोंके सर्वोत्तम मनुष्योंके बराबर ही क्या उनसे भी बढ़कर सभ्यता सम्पादिनी शक्तिके सारे कामोंको पूरा करनेकी क्षमता रखते हैं। किन्तु श्रमवीर जितना कुछ पराक्रम करते हैं अपने देशकी सीमाके बाहर उसके जानेकी नौबत नहीं आती।" और अत्यन्त असाधारण बात तो यह है कि जो लोग जर्म्मनीकी इस अधःस्थितिसे ज़रा भी इनकार नहीं करते—जो वास्तवमें उसमें अत्युक्तिसे काम लेते हैं और शेख़ी मारते हुए कहते हैं कि देखो जर्म्मनोंकी कैसी पाशविक वृत्ति, कैसा नीच विचार है—वे ही हमसे यह भी कहते हैं कि जर्म्मनीको आदर्श समझो और उसके उदाहरणपर चलो।

हमारा सैन्यपक्षका आन्दोलन प्रायः इसी वादपर निर्भर करता है कि जर्म्मनीमें शक्तिशास्त्रका ही प्रभुत्व है। लोग जेनरल (Bernhardi) बर्णहार्डी आदिकी पुस्तकोंका हवाला देते हैं जिनमें शक्तिका प्रयोग आदर्शरूप दिखाया गया है, और तब शक्तिसे ही सामना करनेकी कूटनीतिपर अवलम्बन करनेका आग्रह करते हैं, जिसका फल यह होगा कि जर्म्मनीमें बर्णहार्डीका सिद्धान्त मान्य हो जायगा, और विपरीत शक्तियोंकी प्रतिक्रियासे युरोपमें शक्तिशास्त्रका एक निश्चित रूप बन जायगा और वह युरोपकी साधारण परम्पराका एक अंग हो जायगा। प्रशापनके विरुद्ध लड़कर ही इंगलैंडमें प्रशापन आ जानेका खटका है अथवा इस कारणसे कि युरोपमें जिन ज्ञान बुद्धि यंत्रोंसे धार्म्मिक स्वतंत्रता आयी उनके प्रयोगके बदले हम शारीरिक बलके यंत्रोंपर ही अपने प्रयत्नोंको ससीम कर देते हैं।

अंग्रेज़ी उन्नतिके तीव्रसे तीव्र विदेशी विचारक—जैसे एडमंड (Demolins) डिमोलिंस—उस उन्नतिका कारण उन असंख्य गुणोंको बताते हैं जिनका जर्म्मन रीतियोंके द्वारा नष्ट हो जाना अवश्यम्भावी है; जैसे अंग्रेजोंमें अगुआ होनेकी प्रवृत्ति, अपने ही उद्योगोंपर भरोसा रखना, प्रजाके स्वत्वोंमें राज्यकी छेड़छाड़का दृढ़ विरोध (जो कम हो ही रहा है), कर्म्मचारियोंके अधिकारपर

* "Der Kaiser und die Zukunft des Deutschen Volkes".

असन्तोष (जो घट रहा है), जिनमें प्रत्येक बात सततसैन्यव्यवस्थाके प्रति साधारण विरोधसे पूरी तौरसे मिली हुई है।

यद्यपि हम सैन्यबलपक्षकी पुष्टिमें यह दलील करते हैं, कि आर्थिक स्वार्थ तो दूर रहा, हम लोग मनमानी रीतिसे जीवन बिताना चाहते हैं, अपने ही ढंगपर अपनी वृद्धि करेंगे, तो क्या यह भय नहीं है कि एक भी जर्म्मन सिपाहीके इंगलैंडमें कदम रखनेके पहले ही जर्म्मन अनुकरणके पीछे बावले होकर हम सारे इंगलैंडको धीरे धीरे जर्म्मन ही कर डालें ?

यह बात तो वस्तुतः बराबर मान ली जाती है कि अंग्रेज़ लोग यदि जर्म्मन वा फ्रेंच सेनाबेगारको जारी कर लें तो भी उनकी रीतिमें जो अवगुण हैं उनमें हम न फसेंगे और जो बदनामियां कभी न कभी फ्रांस और जर्म्मनीमें हो ही जाया करती हैं वे हमारे बारककी रीतिमें कभी नहीं हो सकतीं और हमारे बारकोंका सैनिक वायु-मंडल एवं हमारी सेनाकी शिक्षा सदा लाभकारी रहेगी।" किन्तु युद्धवादी ही जो कुछ इस विषयमें कहते हैं उसे सुनिये।

स्वयं मिस्टर ब्लचफ़ोर्ड यों कहते हैं—*

"बारकका जीवन बुरा है। बारकका जीवन सदा बुरा रहेगा। बहुतसे मर्दोंका अपने घर और स्त्रियोंके प्रभावसे दूर रहना कभी अच्छा नहीं है। स्त्रियोंके लिए भी यह अच्छा नहीं है कि स्त्रियोंमें ही रहें और काम करें। पुरुषों और स्त्रियोंका परस्पर प्रभाव पड़ता है, एकके कारण दूसरेको स्वाभाविक रुकावट रखनी पड़ती है, स्वास्थ्यकर उत्तेजना रहती है।......बारक और सेना-पुरी नवयुवकोंके लिए अच्छे स्थान नहीं हैं। यद्यपि नौजवान सिपाही अनावश्यक रीतिसे कठिन और बहुधा अनर्गल नियमोंमें बँधा रहता है, तथापि उसे इतनी अधिक स्वतंत्रता भी होती है जिसके दुर्गुणोंसे ऐसा ही कोई दृढ़ सुसंस्कार और दृढ़ संकल्पवाला होगा जो बच सकेगा। मेरे सामने शुद्ध, स्वच्छ और उत्तम लड़के सेनामें आये और सालभर भी न बीतने पाया कि कुकर्मी हो गये। मैं कोई आचारी नहीं हूं। मैं साधारण सांसारिक व्यक्ति हूं किन्तु कोई भी सच्चा समझदार आदमी जो सेनामें रह चुका है तुरन्त यह समझ जायगा कि यह बात

* इस भागके पांचवे अध्यायके अन्तमें कप्तान मार्च फिलिप्सका समर्थन भी इस सम्बन्धमे देखने योग्य है।

अक्षरशः सच्ची है, और बहुत दबाकर, बहुत सँभालकर, बहुत रोककर कही गयी है। कोई सिविलियन बारकरूममें कुछ घंटे ही रहकर जितना सीख सकता है उतना उसे जमानेभरके सिपाहियोंके लिखे वृत्तान्तोंसे नहीं मालूम हो सकता। जब मैं पहले पहल सेनामें भर्त्ती हुआ तब बीस बरसका था। किन्तु इतनी उमर होनेपर भी मैं असामान्य रीतिसे शुद्ध और अकलुषित था। मेरी माताने मुझे पालापोसा सिखाया पढ़ाया। मैं धर्म्मशिक्षालय और गिरजा घरोंमें पढ़ता रहा। मैं एकान्त सुरक्षित दशामें रहा था और मुझे बहुत ज्यादा सीखना पढ़ना पड़ा था। बारकरूमकी भाषासे मैं चकित हो गया, भयभीत हो गया। मुझे तो आधी भी बात समझमें न आयी और जो कुछ मैंने वहां देखा उसकी कभी बड़ाई नहीं कर सकता। जब मैं वास्तविक स्थितिको समझने लगा, मैंने अपने साहससे काम लिया और जिस संसारमें मैंने प्रवेश किया था उसमें आंखें खोलकर घूम घूम देखने लगा। अतः मैंने वास्तविक बातोंको जान लिया, किन्तु मैं कह नहीं सकता। *

---

* "My Life in the Army", p. 119.

पांचवां अध्याय

बलप्रयोगकी क्षीयमाणता—आध्यात्मिक परिणाम

आधिभौतिक शक्तिका चीयमाण अंश—चीयमाण होनेपर भी मानवी कामोंमें आधिभौतिक शक्तिका बड़ा महत्व और बड़ी उपयोगिता रही है—वह मूल सिद्धान्त क्या है जिससे यह पता चलता है कि शारीरिक बलप्रयोग कैसे लाभकारक वा हानिकारक हो सकता है ?—सहकारिताकी सहायक शक्ति मनुष्यकी वृद्धिके अनुकूल हुआ करती है—पर-भोजिताके लिए जिस शक्तिका प्रयोग होता है वह इस नियमके प्रतिकूल है और उभयपत्तको हानिकारक है—भौतिक शक्तिके परित्यागकी ऐतिहासिक विधि—खान और लंडनका व्यापारी—प्राचीन रोम और आधुनिक ब्रिटेन—युद्धपत्तमें यह भाव-प्रधानवाद कि युद्ध मानवी जीवनका शोधक है—वास्तविक बातें—मानवी युयुत्साकी प्रवृत्तिका बदल जाना।

गत अध्यायमें वर्णन की हुई घटनाओंसे जिस साधारण प्रवृत्तिका पता लगता है, उसको मानते हुए भी यह आग्रहपूर्वक कहा जायगा, (और ऐसा कहना सम्पूर्ण न्याययुक्त भी है) कि यद्यपि स्पेनिश पुर्त्तगाली वा फरासीसी साम्राज्योंकी तुलनामें ऐंग्लो-सक्सन राष्ट्रोंकी रीतियां सैनिककी अपेक्षा व्यापारिक और औद्योगिक अधिक थीं किन्तु उनके विस्तारका एक आवश्यक कारण युद्ध था और यह कि यदि कुछ युद्ध न हुए होते तो उत्तरीय अमेरिका वा एशियासे ऐंग्लोसक्सन निकाल बाहर कर दिये जाते या वहां कदम न रखने पाते।

ठीक है। पर इससे क्या हमें इस बातमें कोई रुकावट पड़ती है कि गत अध्यायमें प्रकाशित घटनाओंके आधारपर ऐसा पक्का सिद्धान्त स्थिर कर लें जो हमको व्यवहारमें पथप्रदर्शक हो और विश्वसनीय रीतिसे मनुष्यके मामलोंमें साधारण प्रवृत्तिका पता बतावे ? तनिक भी नहीं। जिस सिद्धान्तसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सैनिक साम्राज्यका अधिकांश बल निरर्थक ही जाता है और ब्रिटेनद्वारा प्रयुक्त बल अधिकांश समुचित है, वह सिद्धान्त न तो अस्पष्ट है और न अनिश्चित है। तिसपर भी, वर्त्तमान राजनीतिक विचारका कलंक और प्रकृत उन्नतिके मार्गका बहुत प्रबल बाधक

यह राजनीतिक गुर सब कठिनाइयोंको यों दूर कर देता है, कि मनुष्यके मामलोंमें कोई सिद्धान्त तर्कणाके सूत्रान्ततक सच्चा नहीं उतर सकता और संभव है कि जो बात "तर्कसिद्ध" भी हो वह वास्तविक क्रियामें ठीक न उतरे।

इसी प्रकार मिस्टर रूसवल्ट जो अपने पाठकों वा श्रोताओंके सामान्य विचारको बड़ी श्लाघ्य शक्ति और प्रतिभासे वर्णन करते हैं साधारणतः इसी ढंग पर चलते हैं कि "हम शान्तिप्रिय होवें किन्तु अत्यन्त शान्तिप्रिय न हो जावें, हम युयुत्सु हों किन्तु अत्यन्त युयुत्सु न हो जावें, हम सदाचारशील होवें किन्तु अत्यन्त सदाचारशील न हो जावें"। *

यह गूढ़ शब्द-विन्यास हमें विचारमार्गके कठिन चट्टानी और दुरूह स्थानोंसे जी चुरानेकी ओर प्रवृत्त कर देता है। यदि हम किसी सिद्धान्तको तर्कणाके सूत्रान्ततक नहीं पहुँचा सकते, तो भला किस स्थानतक पहुँचकर रुक जाना चाहिए? कोई एक स्थान बतावेगा कोई दूसरा, और दोनों अपने अपने पक्षसे ठीक ही बतावेंगे। "नरम" शान्तिप्रिय वा "नरम" युयुत्सु होना क्या है? स्वभाव और पक्षपातके अनुसार प्रत्येककी सीमा दोनों ओर निरन्तर बढ़ती जायगी। ऐसी बातोंसे सुविचार और भी अन्धकारमें पड़ जायगा।

यदि सिद्धान्त ठीक है तो तर्कणाके सूत्रान्ततक अवश्य पहुँचाया जा सकता है, सच तो यों है कि तर्कणाके सूत्रान्ततक पहुँचाने योग्य होना ही उसकी सत्यताकी एकमात्र पहचान है। यदि क्रियामें वह सिद्धान्त ठीक नहीं उतरता तो सिद्धान्तमें अवश्य भूल है क्योंकि सच्चा सिद्धान्त वही है जिसमें एक ही घटनाक्रमका विचार सम्मिलित नहीं होता वरन् समस्त घटना-शृंखलाओंका पूरा विचार सम्मिलित होता है।

इस भागके दूसरे अध्यायमें (पृ० १६६-१७२) मैंने स्थूलरूपसे यह दरसाया है कि जिस समय मनुष्य मनुष्यको खाता था उस

* I do not think this last generalization does any injustice to the essay "Latitude and Longitude among Reformers" ("Strenuous Life," pp. 41-61. The Century Company.)

समयसे संसारके कामोंमें भौतिक शक्तिका प्रयोग किस क्रमसे बराबर घटता आया है। तब भी इस सम्पूर्ण क्रममें बलप्रयोग एक प्रधान अंग रहा है यहांतक कि आज भी सभ्यसे सभ्य राष्ट्रोंमें उनकी सभ्यताका प्रधान अंग शक्ति—पुलीस-शक्ति—ही है।

फिर शक्तिके सदुपयोग और दुरुपयोगको पहचाननेके लिए हम किस सिद्धान्तका आश्रय लें?

जिस स्थूलवर्णनको प्रमाण अभी दिया गया है उसके पहले ही एक और वर्णन है जिसमें मानवी योग्यतमावशेषता और वृद्धिके वास्तविक जीववैज्ञानिक नियमको दरसाया है। मनुष्योंमें सहकारिता और प्रकृतिसे संघर्ष, इन दो बातोंसे उस नियमका रहस्य खुलता है। समस्त मानवजाति एक ही शरीरधारी है जो अपने भिन्न भिन्न अंगोंमें परस्पर सहकारिता उत्पन्न करना चाहता है जिसमें अपनी परिस्थितिके अनुकूल अधिकाधिक होकर अपने जीवनको नित्य दृढ़तर कर रहा है।

बस यहां वह रहस्य खुल जाता है कि अदलाबदलीको सहज करनेके लिए अंगोंमें अधिक सम्पूर्ण सहकारिता स्थापन करनेको यदि शक्तिका प्रयोग हो तो वह प्रयोग उन्नतिशील है। किन्तु जो शक्ति ऐसी सहकारिताके प्रतिकूल चलती है, जो परस्परकी अदला-बदलीके लाभके स्थानमें जबरदस्तीको चलानेका प्रयत्न करें जो किसी प्रकारसे परभोजिता, परस्वत्वोपजीविताका कोई भी रूप हो तो समझो कि शक्तिका वह प्रयोग अवनतिशील है।

पुलीसका शक्तिप्रयोग क्यों न्याय्य समझा जाता है? क्योंकि डाकू सहकारिता नहीं चाहता। वह बदलेमें कुछ नहीं देता, वह परस्वत्वोपजीवी प्राणियोंकी भांति बदलेमें कुछ भी न देकर जबर्दस्ती छीन लेना चाहता है। यदि उसकी संख्या बढ़ी तो शरीरके अंग प्रत्यंगोंमें सहकारिता असंभव हो जायगी, क्योंकि वह अंगोंको तोड़कर अलग करना चाहता है। उसे रोकना होगा और जबतक पुलीस अपनी शक्तिको इस रुकावटके लिए प्रयोग कर रही है तब-तक वह सहकारिताको दृढ़ कर रही है। पुलीसका प्रयास मनुष्यके विरुद्ध नहीं है किन्तु परिस्थितिके, अर्थात अत्याचारके विरुद्ध है।

अब यह मान लो कि यह पुलीस-शक्ति बढ़ते बढ़ते एक राज-नीतिक महाशक्तिकी सेना बन गयी और महाशक्तिके कूटनीतिक

किसी छोटे राष्ट्रसे कहते हैं कि "हम संख्यामें तुमसे अधिक हैं, अतः तुम्हारे देशको मिला लेते हैं और तुम्हें राज्यकर देना पड़ेगा," इसपर छोटे राष्ट्रके इस प्रश्नपर कि उस करके बदले तुम हमें क्या दोगे वह महाशक्ति यह उत्तर देती है कि हम कुछ न देंगे, तुम बल-हीन हो, हम बलवान हैं; हम तुम्हें निगल जायँगे, क्योंकि यह जीवनका नियम है, ऐसा ही होता आया है और अन्ततक यही होता रहेगा।

अब वह पुलीसशक्ति जो सेना हो गयी है, सहकारिताका सहायक बिलकुल नहीं है, डकैतीको रोकनेके बदले उसने सीधे और शुद्ध डकैतीका काम उठा लिया है। ऐसी सेनाको पुलीसशक्ति-के तुल्य कहना और यह कहना कि जब दोनों कामोंमें शक्तिका प्रयोग होता है तो दोनों समान रीतिसे न्याययुक्त हैं, वास्तविक सत्यके एक पक्षसे बिलकुल आंखें बन्द कर लेनी है, और जिन मूर्ख सिद्धान्तोंको हम जंगली और पाशविक कहते हैं उनके अव-लम्बन करनेका अपराधी होना है। *

किन्तु भेद केवल आचार सम्बन्धी नहीं है। जिस स्थूल वर्णन-की चर्चा ऊपर की गयी है यदि पाठक फिर उसपर विचार करें तो यह अवश्य दिखेगा कि महाशक्तिके कूटनीतिक असाधारण मूर्खता-का बर्त्ताव कर रहे हैं। युरोपकी वर्त्तमान शासनविद्याके उस पाखंडशास्त्रकी चर्चा मैं नहीं कर रहा हूं जिससे यह आक्रमण मानव-जीवन-प्रयासवाले नियमके अनुकूल दिखाया जाता है, यद्यपि वास्तवमें यह ठीक उस नियमका उलटा है; प्रत्युत हम अब इस बातको जानते हैं कि वे ऐसी राहपर चल रहे हैं जिसमें उनकी ही दृष्टिसे वे जितना उद्योग करेंगे उसकी अपेक्षा उन्हें फल अत्यन्त कम ही मिलेगा।

स्पेन, फ्रांस, पुर्त्तगाल सरीखे सैनिक साम्राज्योंके और इंगलैंड सरीखे अधिक उद्योगी साम्राज्योंके इतिहासमें जो परस्पर भेद है जिसकी चर्चा गत अध्यायमें हो चुकी उसका रहस्य भी यहां खुल जाता है। स्पेनका प्रभाव जो मिट गया और ब्रिटेनका प्रभाव जो आधे संसारमें फल गया उसका कारण केवल युद्धके जोखिममें

---

* इस भेद और अमली राजनीतिपर और भी उदाहरणके लिए पाठक पहले भागके आठवें अध्यायको फिर कृपा करके देखें।

पड़ना वा शक्तिप्रयोगमें दक्षतामात्रका प्रश्न नहीं है, किन्तु इनकी तहमें काम करनेवाले सिद्धान्तोंमें जो मौलिक और वास्तविक भेद था वह ही उसका कारण है चाहे इन सिद्धान्तोंको किसीने पूर्णतया न समझा हो। इंगलैंडका शक्तिप्रयोग स्थूलतः पुलीसकी भांति रहा है, स्पेनका शक्तिप्रयोग उसी मानी हुई महाशक्तिके कूटनीतिकोंका सा था जिसका दृष्टान्त ऊपर दिया जा चुका है। इंगलैंडकी शक्तिने सहकारिता संस्थापित की और स्पेनकी शक्तिने उसे तहस-नहस करनेका प्रयत्न किया। इंगलैंडका शक्तिप्रयोग मानव प्रयासके प्रकृत नियमके अनुकूल था और स्पेनका उस पाखंड नियमके अनुकूल था जिसका "रक्तपात करने और लोहेसे लोहा बजानेवाले" शास्त्री सदैव प्रमाण दिया करते हैं। राजकर चूसनेके सारे प्रयत्नोंका फल क्या हुआ? सब निष्फल हुए—यहांतक कि आज राजकर उगाहना आर्थिक रीतिसे असंभव हो गया है।

यदि हमारे दृष्टान्तके महाशक्तिवाले कूटनीतिकोंने कर मांगनेके बदले यह कहा होता कि "तुम्हारा देश व्यवस्थाहीन हो रहा है, तुम्हारी पुलीस-शक्ति अपर्य्याप्त है, हमारे व्यापारी लुट जाते हैं, मार डाले जाते हैं, हम तुम्हें अपनी पुलीस मँगनी देंगे कि तुम्हारे-देशमें सुव्यवस्था स्थापित करनेमें सहायता दे, तुम्हें पुलीसको ठीक ठीक तलब देना पड़ेगा और बस" और ईमानदारीसे इसी बातपर टिके रहते तो उनके शक्तिप्रयोगसे मानवी सहकारिता रुकनेके बदले उत्तेजित हो जाती। ऐसी दशामें वही मनुष्यके विरुद्ध नहीं किन्तु अत्याचारके विरुद्ध प्रयास वा लड़ाई होती और वह परिदमनकरनेवाली शक्ति दूसरे मनुष्योंको अपना आहार न बनाती किन्तु प्रकृतिसे मनुष्यकी लड़ाईकी अधिक क्षमतासम्पन्न व्यवस्था करती।

यही बात है कि मैंने इस पुस्तकके पहले भागमें इस सत्यपर बहुत ज़ोर दिया है कि अगले समयके युद्धके कारणोंका सम्बन्ध हमारे सामने उपस्थित प्रश्नसे कुछ भी नहीं है; डेढ़सौ बरस पहले ठीक ठीक जिस दरजेके युद्धकी आवश्यकता थी वह अब प्रायः शास्त्रवाद ही रह गया। आज जिस दरजेके युद्धकी आवश्यकता है वही प्रश्न हमारे सामने उपस्थित है और जबसे इंगलैंडने भारतवर्ष

* देखो सातवां अध्याय, पहला भाग।

और उत्तरीय अमेरिकाको ले लिया तबसे इसमें और बहुतसे कारण आ गये। दुनियाका रूप बदल गया है और झगड़ेके कारण बदल गये हैं, इन बातोंसे आंखें मूंद लेना सत्यकी अवहेलना है और कोरी भाववादिता और तर्कणामात्रके सबसे बुरे रूपके सहारे चलना है, क्योंकि यह ऐसी तर्कणा है जो सत्यको मानती ही नहीं। इंगलैंडको जर्म्मनीकी सुव्यवस्थाका बन्दोबस्त करनेकी आवश्यकता नहीं है और न जर्म्मनीको फ्रांसकी; और इन राष्ट्रोंका परस्पर झगड़ा प्रकृति विपरीत है, मानवप्रयासका कोई अंग नहीं है, मानवप्रयासके प्रकृत नियमके अनुसार युक्तिसंगत नहीं है, समयके विपरीत है, और यदि किसी युक्तिसे ठीक भी हो सकता है तो उसी पाखंड-शास्त्रकी युक्तियोंसे जो सत्य घटनाओंकी कसौटीपर नहीं ठहर सकता और किसी वास्तविक आवश्यकताके अनुसार और किसी उद्देश-विशेषका साधक न होनेसे ज्यों ज्यों संसारमें ज्ञानका प्रकाश होता जाता है त्यों त्यों अपने अन्तको पहुँचता जाता है।

क्या अच्छा होता यदि मुझे सदैव वारबार इस सत्यको दोहराना न पड़ता कि संसार ज्योंका त्यों नहीं है, बदल गया है। किन्तु इस वादके लिए दोहराना पड़ता ही है। यदि आज बिना कहे सुने इटलीका कोई लड़ाऊ जहाज लिवरपूलपर गोले बरसाने लगे तो रोममें बूर्सकी ऐसी दशा हो जायगी और बंककी दर इस तरह चढ़ जायगी कि लाखों इटालियनोंका तहसनहस हो जायगा और इंगलैंडकी अपेक्षा प्रायः इटलीकी कहीं बढ़कर हानि होगी। किन्तु पांच सौ बरस पहले यदि इटलीके जलडाकू टेम्ससे चढ़ आते और लंडनको ही लूट लेते तो भी इटलीकी किसी व्यक्तिका एक पैसेका नुकसान न होता।

क्या यह बहस जानबूझकर की जाती है कि इन दो दशाओंके बलप्रयोगमें कोई भेद नहीं है और क्या सच्चे दिलसे यह हठवाद किया जाता है कि बलप्रयोगके साथ साथ जो मनोवैज्ञानिक घटनाएं अवश्यम्भाविनी हैं उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता?

जिन आर्थिक सत्योंका प्रतिपादन इस पुस्तकके प्रथम भागमें हुआ है, उनका ही ऐतिहासिक प्रमाण वस्तुतः गत अध्यायमें वर्त्तमान संसारकी घटनाओंकी परिभाषामें दिया गया है, जिससे यह प्रकट होता है कि जीवितावशेषका प्रधान कारणत्व शारीरिकसे

मानसिकको, आधिभौतिकसे आध्यात्मिक लोकको चला जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें विकासक्रम ऐसी दशाको पहुँच गया है जिससे सैनिक बल आर्थिक दृष्टिसे एकदम व्यर्थ हो जाता है। मनुष्यकी साधारण क्रियाओंके स्वभावमें ऐसा गभीर परिवर्त्तन हो जानेसे जो आध्यात्मिक परिणाम होता है तीसरे अध्यायमें मैंने उसका वर्णन किया है, और यह स्पष्ट दिखाया है कि जैसे कामोंमें मनुष्य साधारणतः लगा रहता है और अपने जीवनके अधिकांशको —और बहुधा अपने सारे जीवनको—लगाता है, उसका स्वभाव धीरे धीरे उन कामोंके ही अनुकूल होता जाता है, और असाधारण और असामान्य कर्म्मवाली प्रवृत्तियां उसके स्वभावसे मिटती जाती हैं।

मैंने घटनाओंको इस क्रमसे क्यों दिखाया है और इस परिवर्त्तनमें जो आध्यात्मिक परिणाम होते हैं उनको इस परिवर्त्तनके पहले ही क्यों दरसाया है? मैंने इस क्रमका अवलंबन इसलिए किया है कि रणवादी अपने हठवादकी पुष्टिमें बहुधा मनुष्य-स्वभावके स्थायित्वकी दुहाई देता है और कहता है कि इस मामलेमें यही प्रधान बात है। इस विषयपर जो अध्याय लिखा गया है उससे तो यह स्पष्ट ही है कि खोज करनेसे यह बात कसौटीपर नहीं ठहरती। मनुष्यका स्वभाव तो ऐसा बदला जा रहा है कि पहचानना कठिन है। केवल लड़नेमें ही मनुष्य कमी नहीं कर रहा है किन्तु सब तरहके शारीरिक बलप्रयोगको कम कर रहा है, और उसका स्वाभाविक परिणाम यह हो रहा है कि शारीरिक बलप्रयोगके साथ साथ जिन मानसिक गुणोंका होना अनिवार्य्य है उन्हें खोता जाता है। और वह शारीरक बलप्रयोगको इसलिए घटा रहा है, कि बहुसंख्यक प्रमाणोंसे उसे अधिकाधिक यही स्पष्ट होता जाता है कि मेरा काम दूसरे दूसरे उपायोंसे अधिक सुगमतापूर्वक होगा।

हमलोग इस बातको बहुत कम समझते हैं कि आर्थिक दबावने —जिसके ठीक ठीक अर्थमें रुपयेके लिए प्रयत्न करना ही नहीं शामिल है बल्कि रुपयेसे जितना कुछ अभिप्राय हो सकता हो, अपना कुशल क्षेम, सुखसे जीवन बिताना, सामाजिक सुदशा आदि सब ही बातें जिसके अन्तर्गत हैं—उस आर्थिक दबावने मनुष्यके मामलोंमें शारीरिक बलका कहांतक बहिष्कार किया है।

प्रारम्भिक जंगली बुद्धिमें ऐसा संसार नहीं आ सकता था जिसके सारे कामकाज बलद्वारा न होते हों। प्राचीन कालके बड़े बड़े शास्त्री भी यह विश्वास नहीं करते थे कि सिवाय उस उपायके कि सर्व-साधारणसे बलपूर्वक—अर्थात् दास बनाकर—काम कराया जाय, और किसी तरह सारा संसार कभी रणशीलके बदले उद्योगशील बन सकेगा। रोमके परम सौभाग्यके दिनोंमें जितने लोग उस भूभागमें रहते थे जिसे आज इटली कहते हैं उनमें तीनचौथाईसे अधिक दास थे जो खेतोंमें बेड़ियां पहने काम करते थे, रातको अपने शयनागारमें भी बेड़ियां पहने सोते थे और दरबान भी फाट-कोंपर ज़ंजीरोंमें बँधे होते थे। वह दासोंका ही समाज था। सिपाही दास, मजूरे दास, किसान दास, केरानी और हाकिम दास, और गिबन तो यहांतक कहता है कि सम्राट स्वयं दास था, "वह जो रीतियां चलाता उसका पहला दास आप ही होता था।" प्राचीन कालके बड़े बड़े बुद्धिमानोंकी कैसी पैनी बुद्धि थी कि उनमेंसे एकके भी लेखसे ऐसा नहीं स्पष्ट होता कि उनकी समझमें समाज-की ऐसी अवस्था भी हो सकती थी जिसमें बलपूर्वक काम लेनेकी प्रवृत्तिको उठाकर उसके स्थानमें आर्थिक उद्देश्योंसे स्वयं परिश्रम करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाय।* और उस प्राचीन कालमें यदि उनसे यह कहा जाता कि एक समय ऐसा आवेगा कि आर्थिक-उद्देश्य-जैसी-मानसिक-कल्पनासे प्रवृत्त होकर मनुष्य कहीं कठोर परिश्रम करेगा, तो वे इस कथनको भाववादियोंकी कल्पनामात्र समझते। दूर क्यों जायँ, साठ ही बरस पहले दासोंसे काम लेने-वाले अमेरिकन स्वामीसे यदि कोई कहता कि एक समय ऐसा आवेगा कि आर्थिक शक्तियोंके स्वतंत्र दबावमें दासत्वकी अपेक्षा कहीं अधिक रूई दक्षिण अमेरिकामें पैदा हो सकेगी, तो वह भी उपर्युक्त ही उत्तर देता। उसने इसका उत्तर यों दिया होता कि "न एक अच्छा सा चमड़ेका कोड़ा न लाख आर्थिक दबाव", और प्रायः इसी तरहके वाक्य आजकलके साधारण युद्धवादियोंके मुखसे भी सुने जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सुननेमें यह बड़ा अमली

---

* अरस्तूको सत्यकी झलक अवश्य देख पड़ी थी। उसने लिखा है "यदि हथौड़ी और ढरकी अपने आप चल सकती तो दासत्व अनावश्यक हो जाता"।

और वीरतायुक्त वाक्य है किन्तु इसमें दोष इतना ही है कि यह असत्य है।

और तमाशा यह है कि शारीरिक बलप्रयोगकी मानी हुई आवश्यकता दासत्वतक ही समाप्त नहीं हुई। जैसा हम कह आये हैं, राजनीतिमें यह बात स्वतःसिद्ध मानी जाती थी कि मनुष्योंके धार्म्मिक विश्वासको भी बलपूर्वक अधिकारमें रखना आवश्यक है, और केवल धर्म्मसम्बन्धी विश्वास ही नहीं, किन्तु पहिरावा भी। इसका परिणाम यह हुआ कि सैकड़ों बरसतक बड़े जटिल व्ययसम्बन्धी आईन जारी रहे, और सैकड़ों बरसतक भाव और बनिजको ज़बरदस्ती मुट्ठीमें रखनेका यदि वास्तविक अनुसन्धान नहीं तो प्रयत्न अवश्य था, इजारोंका बड़ा लम्बा चौड़ा प्रबन्ध था, किसी किसी विदेशी मालके आनेकी तो बिलकुल मनाही थी और इस मनाहीका उल्लंघन राजदंडयोग्य दोष गिना जाता था। मनमाने सिक्केतक ज़बरदस्ती चला दिये जाते थे जिनको लेनेसे इनकार करना भी राजदंडयोग्य अपराध गिना जाता था। बरसोंतक कई देशोंमें सोनेको बाहर भेजना भी अपराध गिना जाता था—इन सब बातोंसे यही ध्वनि निकलती है कि मनुष्यकी बुद्धिपर इसी भ्रमका परदा पड़ा हुआ था कि मनुष्यजीवन भौतिक शक्तिसे ही शासित हो सकता है, और मनुष्यने इस सत्यको बहुत धीरे धीरे अनेक दुःख उठाकर सीखा है कि मनुष्य अदृश्य और अदृष्ट शक्तियोंके भरोसे छोड़े जानेपर ही सबसे उत्तम रीतिसे कार्य्य कर सकता है। जिस तीन चार हज़ार बरसके इतिहाससे हमारा विशेष सम्बन्ध है, उसके बड़े बुद्धिमानोंके निकट भी ऐसे संसारकी कल्पना असंभव होती जिसमें मनुष्यके उद्योग, धर्म्म, पहिरावा, बनिज, बोली और यात्रा आदि सभी कामोंसे शारीरिक बलप्रयोग एकदम उठ गया हो। जो बड़ा गंभीर परिवर्त्तन यहां दिखाई दे रहा है—अर्थात् जहांतक व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध है वहांतक मनुष्यके सारे मामलोंके शक्ति-केन्द्रका प्रमेय भौतिक शक्तियोंसे निकलकर एकदम अप्रमेय आर्थिक शक्तियोंमें स्थित हो जाना—इस गभीर परिवर्त्तनकी वास्तविक व्याख्या क्या है? चाहे कितनी ही अनोखी लगे पर व्याख्या निस्संदेह यही है कि भौतिककी अपेक्षा आर्थिक शक्तियोंसे इच्छित परिणाम अधिक योग्यता और अधिक शीघ्रतासे निकलता है, और भौतिक शक्तियां

जहां एकदम व्यर्थ भी न हों वहां भी आर्थिककी अपेक्षा वृथाव्ययी और मूर्खाचरण करानेवाली ठहरती हैं। उद्योगके सद्व्ययका यही नियम है। इसमें तो सन्देह नहीं कि जिस स्वतंत्रताकी जितनी कमीके लिए बलप्रयोग किया जाता है, प्रयोगकर्त्ताकी उसी स्वतंत्रताकी उतनी ही कमी सहज ही हो जाती है। इस क्रमका हर्बर्ट स्पेन्सर इन भावपूर्ण वाक्योंमें उदाहरण देते हैं—

मालिकी जतानेमें स्वयं मालिकके ही मनपर किसी न किसी रूपमें कुछ न कुछ निश्चित दासत्व आ ही जाता है। समस्त अव्युत्पन्न जनसमुदाय और अधिकांश व्युत्पन्न भी इस कथनको स्वतःशीर्ण—असमंजस—समझेंगे, और यद्यपि छोटी छोटी बातोंको छोड़ तत्वोंकी दृष्टिसे इतिहासका अनुशीलन करनेवालोंमें बहुतेरे यह जानते हैं कि यह ठीक ठीक विरोधाभास ही है—अर्थात् वस्तुतः सत्य होते हुए भी असत्य प्रतीत होता है—तब भी वे पूर्णतया उन अपरिमित प्रमाणोंसे अभिज्ञ नहीं हैं जिनसे यह विरोधाभास सिद्ध होता है और यदि इसके उदाहरणोंकी उन्हें याद दिलायी जाय तो लाभ अवश्य होगा। मैं सबसे आदिके और अत्यन्त सीधे उदाहरणसे उठाता हूं जो थोड़ा बहुत सबपर लागू है।

एक क़ैदी है, उसके हाथ पांव बँधे हुए हैं और उसे उसका कठोरहृदयी विजेता दास बनानेको अपने घर लिये जाता है, [Assyria आसुरीयाके प्राचीन स्मारकोंके शिलाचित्रोंसे ऐसी ही सूचना मिलती है।] आप कहेंगे कि एक पराधीन है दूसरा स्वाधीन। क्या सचमुच दूसरा स्वाधीन है? उसके हाथमें रस्सीका दूसरा छोर है और यदि उसका उद्देश्य यह है कि क़ैदी भागने न पावे तो वह अवश्य ही रस्सीसे स्वयं ऐसा बँधा रहेगा कि उसके तनिकसे ग़ाफ़िल वा ढीले पड़ जानेपर भी क़ैदी भाग न सके। जैसे क़ैदी उससे बँधा हुआ है उसी तरह उसे भी क़ैदीसे बँधा रहना पड़ेगा। अर्थात् उसके बहुतेरे काम रुके हुए हैं और उसमें कई तरहकी बाधाएं हैं। उसके मार्गसे एक जंगली जानवर निकल जाय तो वह पीछा नहीं कर सकता। अगर वह पासके सोतेसे अपनी प्यास बुझाना चाहे तो उसे अपने क़ैदीको अच्छी तरह बांधकर लाचार कर देना होगा नहीं तो पानी पीनेकी अरक्षित दशामें क़ैदी ही उसके ऊपर आक्रमण कर सकता है। इसके सिवाय उसे दोनोंके लिए भोजनका बन्दोबस्त करना है। अनेक रीतिसे यही दिखता है कि वह पूरा पूरा स्वाधीन नहीं है और मोटी रीतिसे इन्हीं झंझटोंसे उस परम सत्यका कुछ पता लगता है कि जिन उपायोंसे दूसरोंको

यह प्रकट नहीं होता कि वस्तुतः भौतिक शक्तिका प्रयोग अत्यन्त संकुचित सीमाके भीतर होता है? यह कहना अत्युक्ति नहीं है किन्तु सत्यमात्र है कि अनियंत्रित शासनमें मनुष्यके प्राण लेना सहज है किन्तु रुपया लेना प्रायः असंभव है। और स्पष्ट है कि जितना ही बलप्रयोग हुआ उतना ही रुपयेपर अधिकार अधिकाधिक कठिन होता गया। इसका जो कारण है वह बहुत सीधा सा है और उससे सैनिक बलकी निरर्थकताका जो सिद्धान्त हमारा विषय है वह स्थूलरूपसे व्यक्त हो जाता है। एक मोटे से उदाहरणसे यह बात बड़ी उत्तमतासे समझमें आ सकती है। यदि आज कोई मध्य एशियाके किसी स्वतंत्र अनियंत्रित राज्यमें जाय तो प्रायः प्रगाढ़ दरिद्रताका चित्र देख पड़ेगा। क्यों? क्योंकि राजाको जब जहां धन पावे छीन लेनेका पूरा अधिकार है। भांति भांतिकी यातनाएं देकर अथवा मारकर भी छीन सकता है। निदान अनियंत्रित शारीरिक बलकी चरम-सीमातक जैसे बने वह ले सकता है। इसका परिणाम क्या है? सम्पत्ति नहीं बनती और किसी प्राणीको केवल पीड़ा देकर जो वस्तु नहीं है वह पैदा नहीं की जा सकती। कहावत प्रसिद्ध है कि "बांधे बनिया बाजार नहीं लगता।" अब उस देशकी सीमा नांघकर ब्रिटेन वा रूसद्वारा रक्षित किसी राज्यमें आइये जहां (राजा) ख़ानके अधिकार सीमाबद्ध हैं। दोनोंमें जो भेद है वह तुरन्त लख पड़ेगा। पहलेकी अपेक्षा दूसरेमें सुख सम्पत्तिकी बहुतायत होगी और अन्य सब बातोंके बराबर होते हुए भी, जिस राजाके अधिकार प्रजापर अनियंत्रित हैं उसकी अपेक्षा नियंत्रित अधिकारवाला शासक अधिक धनी है। शब्दान्तरमें यों कहना होगा कि सम्पत्तिके उपार्जनमें शारीरिक बलसे मनुष्य जितना ही दूर हटेगा उतना ही उसके प्रयत्न अधिक फल फलेंगे। एक ओर तो स्वेच्छाचारी राजा चीथड़े लपेटे एक ऐसे प्रदेशपर शासन करता है जो दरिद्र होनेपर भी बहुत सी सम्पत्ति उत्पन्न करनेकी क्षमता रखता है, किन्तु अपने स्वेच्छाचारसे लाचार हो किसी प्रजाको भांति भांतिकी यातना देकर केवल इतने ही धनके लिए उसके प्राण लेने पड़ते हैं, जितना

कर देता था, वही ऐसा धनहीन था कि अपने नौकरोंका वेतन नहीं दे सकता था और अपनी कचहरीका प्रतिदिनका खरच नहीं चला सकता था!

कि दूसरी ओर एक लंडनका व्यापारी किसी रईसके साथ होटलमें भोजन करनेके लिए खर्च कर देता है, वा जितनेका सहस्रगुणा धन वही व्यापारी परोपकार वा किसी और काममें दे डालता है अथवा किसी कोरी उपाधिके लिए ख़र्च कर डालता है और सो भी ऐसे राजासे लेनेके लिए जिसके पास बलप्रयोगका रत्तीभर अधिकार बाकी नहीं रहा।

मनुष्यकी इच्छाके जितने विषय हैं उनकी कसौटीपर कसनेसे कौन सी प्रक्रियाका फल उत्तम ठहरता है, रक्त और लोहेके प्रयोग-वाला शारीरिक बल जो हम देख सकते हैं उसका, अथवा मानसिक बलका जिसे हम देख नहीं सकते? जिस सिद्धान्तका उदाहरण मैंने संकीर्ण सीमाके भीतर दिया है वही आजकलके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिके विस्तृत क्षेत्रमें भी उतनी ही शक्तिसे काम कर रहा है। संसारकी सम्पत्ति वह सोना वा रुपया नहीं है जो आज किसी महाशक्ति और कल किसी महाशक्तिके पास है, प्रत्युत वह किसी जातिके वर्त्तमान कालके समस्त भिन्न भिन्न अनिरुद्ध उद्योगोंपर निर्भर है। उस उद्योगमें कैसी ही रुकावट पड़े, चाहे कर लगनेसे चाहे असुविधाजनक व्यापारी स्थितिसे, चाहे कुराज्यके द्वारा वृथा राजनीतिक आन्दोलन फैलनेसे हो, परिणाम एक ही होगा कि सम्पत्ति कम होगी, विजेताके लिए भी और विजितके लिए भी। मोटी रीतिसे इस विषयको यों वर्णन किया जा सकता है कि अनुभवसे—विशेषतः जिस अनुभवका वर्णन गत अध्यायमें हुआ है उससे—यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस शारीरिक बलप्रयोग-में एक पक्षसे छीनकर दूसरेको लाभ पहुँचाया जाता है उसकी अपेक्षा परस्पर लाभदायक मुक्तद्वार व्यापारमें उद्योगका फल अधिक मिलता है। इस पुस्तकके प्रथम भागके विषयपर मैं फिरसे वादानुवाद नहीं कर रहा हूं किन्तु, जैसा अभी स्पष्ट हो जायगा सांसारिक मामलोंमें शारीरिक बलरूपी क्षीयमाण कारणवाले साधारण सिद्धान्तमें मानवी स्वभावका वह मानसिक परिवर्त्तन भी सम्मिलित है जो शारीरिक युद्धवाली मानवी प्रवृत्तिको जड़से बदल देता है। हमारे यंत्रशास्त्रके अभ्युदयसे शारीरिक बलप्रयोगमें जो कमी आ रही है अभी उसका ही असीम उत्कर्ष याद रखना अत्यन्त आवश्यक है। यह प्रकट है कि ब्रिटेनके लिए यह सिद्धान्त जितना सत्य है उतना रोमके लिए नहीं था। कितनी ही अपूर्णतासे हो;

रोमका काम प्रायः राज्य-करसे ही चलता था। आजकलके संसारमें जो यंत्रका अभ्युदय हुआ है उससे रोमके समयका राजकर लेना असंभव हो गया है। रोमको न तो अपनी हाट बनानी थी और न अपनी पूंजी लगानेके लिए क्षेत्र ढूँढ़ना था। हमको यह सब करना पड़ता है। इसका परिणाम क्या होता है? अपने सूबोंकी सम्पत्तिके बढ़ानेकी परवाह यदि रोम न करता तो कोई हरज न था। हम ऐसा नहीं कर सकते। यदि हमारा सूबा सम्पत्तिवाला न हुआ तो हमारी हाट गयी, अपनी पूंजी कहां लगावें? यही बात है कि रोमवालो काररवाई करनेमें पदपदपर हमको रुकावट हुई। किसी हद-तक बलपूर्वक राज-कर लिया जा सकता है, किन्तु जिस आदमीके पास रुपया नहीं है अथवा जो नहीं लेना चाहता उसके हाथ ज़बरदस्ती बिक्री नहीं हो सकती। यहां जो भेद हमें दिखता है उसका कारण यंत्राभ्युदय-शृंखलाके सिवाय कुछ नहीं है अर्थात छापाखाना, बारूद, भाफ, बिजली, डाक तार बेतार आदि परस्पर समाचारके उपाय। इनसे ही साखको उत्पत्ति हुई। और साख क्या है? रुपयेके प्रयोगका बढ़ा हुआ रूप। जिस तरह हमारा छुटकारा रुपयेके राज्यसे नहीं हो सकता उसी तरह साखके राज्यसे भी छुटकारा नहीं हो सकता। यह बात दिखलायी जा चुकी है कि क्रूरसे क्रूर नवाब रुपयेका दास है क्योंकि उसे लाचार हो रुपयेका प्रयोग करना ही पड़ता है। उसी तरह आजकल किसी शारीरिक बलसे साखकी शक्तिको व्यर्थ नहीं किया जा सकता।* आजकल किसी बड़े राष्ट्रका काम जिस तरह बिना रुपयेके नहीं चल सकता उसी तरह रुपयेके रूपान्तरके, अर्थात साखके, बिना भी नहीं चल सकता। क्या यहां वही बात सिद्ध नहीं होती कि अस्पृश्य और अदृश्य आर्थिक शक्तियां शस्त्रबलको व्यर्थ कर रही हैं।

इस यंत्र सम्बन्धी अभ्युदयमें तथा उसके गभीर मानसिक फलोंमें एक अद्भुत बात यह है कि इसके प्रत्येक पदके वास्तविक परिणामको साधारणतः लोग नहीं समझ सकते। छापेको पहले पहल एक नये सिरेका ऐसा तरीका समझा गया जिससे अनेक लेखकोंका रोजगार मारा जायगा। किसने समझा था कि छापेके सीधे

---

* "साखसे" मेरा अभिप्राय उस समस्त विनिमय-यंत्रसे है जो धातुके सिक्कों वा उनके स्थानापन्न नोटोंके वास्तविक प्रयोगका स्थान ले लेता है।

सादे आविष्कारसे ऐसी महाशक्ति निकल पड़ेगी जो राजाओंसे भी अधिक बलवती होगी ? हमें तो यही दिखता है कि उस समय यों ही किसी इक्के दुक्के लेखकको ऐसे आविष्कारोंके राजनीतिक परिणामोंकी झलक दिख जाती थी, यों ही किसीको यह सत्य झलक जाता था कि प्रकृतिके रगड़ेमें मनुष्य जितना ही जय पाता है उतना ही मनुष्योंमें परस्पर बलप्रयोगकी कमी होती जाती है क्योंकि प्रकृतिके विरुद्ध विजयी होनेसे मनुष्य-समाजका शरीर प्रतिदिन सर्वांगपूर्ण होता जाता है। अर्थात् उसके अंगोंका अन्योन्याश्रय बढ़ गया है और यह प्रतिदिन असंभव होता जाता है कि एक अंग बिना अपने आपको हानि पहुँचाये किसी और अंगको हानि पहुँचा सके। प्रत्येक अंग और और अंगोंपर अधिकाधिक निर्भर हो गया है इसलिए हानि पहुँचानेका स्वाभाविक वेग आप हीं घट गया है। और इसी बातसे दिनपर दिन मनुष्यके युयुत्सु स्वभावको फिर जाना चाहिए, और फिरता जाता भी है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रकृति-विरुद्ध-युद्धके हथियारोंकी उन्नतिसे सबसे अधिक लाभ तो यह हुआ कि मनुष्योंका परस्पर सम्बन्ध बढ़ गया। कल और भाफके अंजनने केवल माल तय्यार करनेवालों-को मालदार ही नहीं बनाया है वरन् जैसा कि अरस्तूने आगेसे ही सोच रक्खा था उससे गुलामी भी उठ गयी। किताबोंके छपनेके पहले साधारण जनसमुदायका अन्धविश्वासी और बेसमझ होना अनिवार्य्य था।* "जो मार्ग कि सम्पत्तिके प्रवाहके लिए बनते हैं उनसे ही विचारका भी प्रवाह होने लगता है और एक ही कालमें दोनों काम होना, जिसपर सारी स्वाधीनता निर्भर है, सम्भव हो जाता है।" तारद्वारा जो साहूकारी होती है वह दलाली-द्वारा साहूकारीकी अपेक्षा अधिक विस्तृत सम्बन्ध रखती है। उससे राष्ट्रोंका वास्तविक अन्योन्याश्रय स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष हो जाता है। और उससे शासकोंकी मतिमें परिवर्त्तन हो जाना अवश्यम्भावी है।

---

* Rationalism in Europe नामक ग्रन्थके पृ० ७६पर लेकी (Lecky) कहता है "बैबिलका लोकमें प्रचार न होता तो प्रोटेस्टंट मत रह न सकता और यदि छापा और कागजवाले दो आविष्कार न होते तो वह प्रचार असम्भव होता।......उन आविष्कारोंके पहले चित्र और मूर्त्ति आदि धर्म्मोपदेशके विशेष उत्तम उपाय थे"।...और इसी तरह खीष्टीय धार्म्मिक विश्वास मनुष्य-रूपानु-कूल, स्थूल और विवशतः सांसारिक हो गये।

हमारा रगड़ा हमारे परिनिवेशसे हमारी परिस्थितिसे है, हममें परस्पर नहीं है। और जो लोग इस तरह बातचीत करते हैं मानों एक ही शरीरके भिन्न भिन्न अंगोंमें परस्पर रगड़ेका जारी रहना अपरिहार्य्य है और मानों जो चित्तवृत्तियां प्रतिदिन पलटा खाती जाती हैं उन्हें राज्योंके परस्पर रगड़ेके परित्यागके कारण बदला हुआ मार्गविशेष कभी न मिलेगा, वे लोग विज्ञानके सूत्रका प्रयोग अज्ञानसे करते हैं और आधी बातपर विचार करना ही भूल जाते हैं। जिस तरह प्रवृत्तिया बदलेंगी उसी तरह रगड़ेकी प्रकृति भी बदल जायगी। हम अपनी आवश्यकताओंमें बुद्धिकी, परिश्रमकी, सच्चरित्रकी, सहनशीलताकी, आत्मसंयमकी तथा मस्तिष्ककी शक्तियां लगाएंगे। और वह युयुत्सा और झगड़ालूपन जो व्यर्थ जगद्व्यापी विनाशकारक झगड़ोंमें लगा रहता था अब बुद्धि-संचालित उद्योगमें लगेगा और लगता है। अब वीर-वृत्तियां मस्तिष्क-रूपी शासकके लिए निर्दयी स्वामी बननेके बदले हथियार और सेवकका काम देती हैं।

जो शक्तियां अमूर्त्त और अस्पृश्य हैं उनका भान मनुष्यके मनको अत्यन्त धीरे धीरे होता है। समस्त मानव इतिहास इस बातको ही प्रकट करता है। धर्म्म-पौराणिकोंको सदा इसी कठिनाईका सामना करना पड़ा है। हज़ारों बरसतक खीष्टीय मनुष्य समझते थे कि पाप देहधारी है, उसके सींग और पूँछ हैं और संसारमें घूमता और लोगोंको खाता जाता है। सूक्ष्म विचारोंको समझानेके लिए उन्हें स्थूल रूपकमें वर्णन करना पड़ता था। शायद इसमें ही भलाई सोची गयी कि जगत्‌की महत्वपूर्ण किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म बातोंकी थोड़ी सी भी झलक, चाहे वह दैत्यों, भूतों और चुड़ैल डायनोंकी कथाओंद्वारा क्यों न हो, यदि साधारण मानवजातिको दिखे तो भी अच्छा है। किन्तु इस सत्यसे भी हम आंखें बन्द नहीं कर सकते कि इस क्रियामें प्रकृत घटनाओंको तोड़ मरोड़कर दिखाया जाता है और यह कि बुराईके वास्तविक रूपको—यद्यपि वह अमूर्त्त है—समझनेकी वास्तविक क्षमताके बढ़नेकी पहचान यही है कि उसके समझनेमें किसी झूठी व्यक्ति वा झूठी कथाका आश्रय न लेना पड़े।

जिस तरह इन स्थूल और असत्य रूपकोंके विना ही सदाचारको

समझने लगना हमारी बुद्धिके अभ्युदयके लक्षण हैं उसी तरह जिन सामाजिक प्रश्नोंका हमारे साधारण सुखोपजीवनपर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है उनके समझनेमें हमारी बुद्धिके अभ्युदयकी क्या ऐसी ही कुछ पहचान न होगी ?

इस पृथ्वीग्रहकी नैसर्गिक परिस्थितिसे रगड़ेमें मनुष्यकी औद्योगिक कल्पनाके बदले तोप छोड़ने, लड़ाऊ जहाज चलाने एवं मनुष्योंमें परस्पर लड़ मरनेमें ही शक्तिकी कल्पना क्या बाल-बुद्धि और गँवारपन नहीं है ? क्या वह समय नहीं आ रहा है जब वास्तविक रगड़ेमें हमारे मनमें वही आदरभाव और वही वीरत्वका उमंग उठेगा जो किसी युद्धमें आक्रमणोंपर उठता—विशेषतः इसलिए कि अब लड़ाइयोंमें एक दूसरेपर टूट पड़नेकी प्रथा उठती जाती है और कुछ दिनोंमें हमारी युद्ध-प्रणालियां एकदम उठ ही जायँगी ? जिस चित्तमें लड़ाईकी कल्पना गोला बरसाने और वैरीपर टूट पड़नेसे ही की जाती है वह चित्त अवश्य ही अफ्रिकाके सूदानी दरवेशोंका सा होगा। यह बात नहीं है कि वह भलेमानस नहीं हैं। वे पुरुषार्थी हट्टेकट्टे सर्द-गर्म सहनेवाले हैं एवं साधारणतः कोई युरोपीय युद्ध और साहसमें उनकी बराबरी नहीं कर सकता। किन्तु ऐनक लगाये दुबला सा अंग्रेज़ उनपर शासन करता है और उसके जैसे सौ पचास अंग्रेज़ कई हज़ार वीर अफ्रिकाके सूदाननिवासियोंपर शासन कर सकते हैं। अंग्रेज़ जो उनकी अपेक्षा कम योद्धा हैं सारी एशियामें ऐसा ही कर रहे हैं और सब अपनी तीव्रतर बुद्धि और सच्चरित्रके ही बलसे, सुविचार, सुमति तथा नियमित और सुव्यवस्थित उद्योगसे ही कर रहे हैं। यह कहा जा सकता है कि उत्कृष्ट सैन्यबलसे ही यह बात होती है। किन्तु उत्कृष्ट सैन्यबल भी क्या उत्कृष्ट बुद्धि और उद्योगका फल नहीं है ? और यदि उत्कृष्ट-सैन्यबल भी न होता, तब भी बुद्धिकी अधिक तीव्रतासे यही फल अवश्य होता, क्योंकि जो बात आज अंग्रेज़ कर रहा है, रोमने भी अगले समयमें अपने पराजितोंके से शस्त्रास्त्रसे वही किया था। शक्तिके हाथमें स्वामित्व अवश्य है किन्तु यह शक्ति है बुद्धिकी, सच्चरित्रकी, सुविचारकी।

जिस घृणाकी दृष्टिसे शारीरिक बलवादी उपर्युक्त वादको

देखता है उसकी कल्पना मैं कर सकता हूँ। "शब्दोंकी लड़ाई, वाग्युद्ध !" नहीं, नहीं, वाग्युद्ध नहीं, विचार-युद्ध, प्रत्युत विचार-से भी अधिक। विचारको औद्योगिक प्रक्रियामें, संगठनमें, संगठनकी व्यवस्था और शासनमें, एवं मानव जीवनके एचपेचकी चालोंमें परिणत करना है।

आजकलका युद्ध उच्चतम रूपोंमें इसके सिवा वस्तुतः है क्या? घोड़ेपर सवार कतार बांधकर चलना, जंगलोंमें पड़ाव करना, छोलदारियोंमें सोना, पर खोंसे, ब्रेस्टप्लेट पहने चमकीले रजिमंटोंके आगे आगे वीरतासे धावा करना, अपने निठुर वैरीकी बगमेल सेनाके सामने अपनी भी सुसज्जित सेना खड़ी करना, जिधर सेना टूट जाय उधर तहसनहस करना—निदान हेंटी साहबने बच्चोंके उपन्यासोंमें जैसा युद्धका चित्र खींचा है, युद्धकी वैसी ही कल्पना, क्या मूर्खता और दक़ियानूसी ख़याल नहीं है? वास्तविक बातसे—जर्म्मन रीतिसे—यह कल्पना कहांतक मिलती है? यदि सारेका सारा चित्र दक़ियानूसी नहीं हो गया है, तो आजकलकी सबसे योद्धा जातिका कौन सा अंश उस चित्रको देख सकेगा वा उसमें शामिल हो सकेगा? दस हज़ारमें एक भी मुश्किलसे। सैनिक युद्धका ही अब क्या रूप रह गया है सिवाय इसके कि अधिकांश बरसोंका कड़ा और अविरत परिश्रम है जो कुछ कुछ यंत्र सम्बन्धी है, कुछ अंश वास्तविक जीवनसे बिलकुल अलग है और तिसपर भी उसमें कुछ भी अधिक उत्साह नहीं है? सेनाके सब दरजोंकी यही दशा है। ऊंचे दरजेके नेताओंके लिए तो युद्ध प्रायः बुद्धिकी प्रक्रियारूप रह गया है। मृत W. H. Steevens स्टीवंसने ही तो यह दिखाया है कि हरोंडकी गोदामकी मैनेजरी लार्ड किचनर बहुत अच्छी करते, क्योंकि उनके सारे युद्ध विचारगृहमें हो गये और वास्तविक मारकाटवाले युद्धको वह सारी प्रक्रियाकी अन्तिम घटना तथा युद्धका गंदा और झंझटवाला अंश समझते थे और यदि इस अंशसे भी उन्हें एकदम छुटकारा मिल जाता तो बड़े प्रसन्न होते।

हमारे समयके वास्तविक सिपाही—जो सेनाओंके मस्तिष्क रूप हैं—उसी तरह जीवन बिताते हैं जिस तरह और मस्तिष्क लगाकर काम करनेवाले, बल्कि बहुतसे असैनिक कर्म्मचारियोंको

उनसे भी अधिक लड़ाई झगड़े अपने जीवनमें करने पड़ते हैं। इंजिनियरों, मांझियों, खानवाले इत्यादिकोंको उनसे अधिक लड़ाई भिड़ाई करनी पड़ जाती है। सेनाओंमें भी युयुत्साको शारीरिक उद्योगके बदले मानसिक उद्योगमें परिणत कर देना आवश्यक है।*

बहुत कालतक युद्ध एक ऐसा कार्य्य समझा जाता था जिससे शान्तिमय जीवनके मानसिक युद्धोंसे कुछ कालके लिए छुट्टी मिल जाती थी, आराम करनेको एक प्रकारका अवकाश मिल जाता था जिसमें परिश्रमकी जगह जोखिम, विचारकी जगह साहसिक लूट-मार आदिको स्थान मिलता था। यही बात कुतूहलका कारण थी। किन्तु जैसा हमने ऊपर दरसाया है युद्ध तो ऐसी बुरी तरहपर विद्या विषयक और वैज्ञानिक होता जा रहा है कि और कोई काम ऐसा कम होगा। अफ़सर लोग वैज्ञानिक हैं, सैनिक काम करने-वाले हैं, सेना यंत्र है, और युद्ध एचपेचकी प्रक्रियाएं हैं और "धावा" करना तो अब प्रचीन कथाके समान हो गया है। कुछ और दिन जाने दीजिए तो देखिए युद्ध सब व्यापारोंमें अत्यन्त कम कुतू-हलजनक रह जायगा।

और सब विषयोंकी तरह इसमें भी कोरे शारीरिक बलको हटा-कर बुद्धिकी शक्ति स्थान ले रही है, और इस प्रयासकी आवश्य-कताओंसे भी लाचार हो हमें युद्धके प्रति बुद्धिसे अधिक काम लेना पड़ता और उसके अनुशीलनको अधिकाधिक विवेकानुकूल बनाना पड़ता है। और ज्यों ज्यों इस विषयसे हमारा बर्त्ताव साधा-रणतः वैज्ञानिक होता जायगा त्यों त्यों विकारोंके शुद्ध वेगका प्रभाव हमारे हृदयसे मिटता जायगा। यह तो एक कारण हुआ, किन्तु इससे भी बड़ा एक कारण है। कभी कभी हमारी गति उलटी भी हो जाती है तब भी उन्हीं गुणोंके प्रति हमारे हृदयमें

* "अब युद्धोंमें प्राचीन कालके शूरताके तमाशे नहीं रहे। आजकलकी सेना एक बड़ा भारी अंजन है जिसमें वीरताके दृश्योंका सर्वथा अभाव है...... जिसके अलग अलग पुरज़ोंके बननेमें बरसों लगते हैं और उन्हें इकट्ठा करनेमें फिर बरसों लग जाते हैं और फिर कई बरसोंके उद्योगमें वह आसानीसे और बिना संघर्षके काम करने लगते हैं।" General Homer Lea in "The Valour of Ignorance", p. 49)

अन्तको आदर और श्रद्धाका भाव उत्पन्न होता है जिनसे हम सब लोगोंके सार्वजनिक उद्देशके फल प्राप्त होते हैं। यदि ये फल विशेषतः मानसिक हैं तो हमारे निकट केवल मानसिक गुण आदर पावेंगे। महामंत्रीका पद किसीको इसलिए नहीं मिलता है कि दंगलमें वही सबको पराजित करता है। कोई न तो जानता है न जानना चाहता है कि पोलोमें मिस्टर अस्किथ जीतेंगे या मिस्टर बालफ़ूर। किन्तु समाजकी उस दशामें जिसमें शारीरिक बल फिर भी आवश्यक रहे इन बातोंको ही विशेष गुण समझते। जब और और गुणोंपर मध्यवर्त्ती कालकी नाईं बहुत कुछ ज़ोर दिया जाने लगा तब भी शारीरिक बलका नम्बर बहुत कुछ बढ़ा हुआ था। चमकीले भड़कीले कवच धारण किये वीर अपने बाहुबलसे अपनी धाक जमा लेते थे और जिन देशोंमें द्वन्द्वयुद्धकी चाल है वहां अभी यह रीति थोड़ी बहुत चली ही जाती है। कुछ थोड़ा बहुत—अत्यन्त ही कम—रोम, (Budapest) बुद्धप्रस्थ या बर्लिनमें अब भी तलवार और पिस्तोल चलानेमें हाथकी सफ़ाई होनेसे मनुष्यकी राजनीतिक धाकपर प्रभाव अवश्य पड़ जाता है। यह बची बचायी रीति कुतूहलका कारण है और एंग्लो-सक्सन देशोंसे तो एकदम उठ गयी है। मेरे व्यापारी मित्रको—जो सड़क उसपारके अपने प्रतिस्पर्द्धीसे केवल बढ़े रहनेके लिए पन्द्रह घंटे रोज़ काम करता है—उसे शस्त्रबलसे नहीं किन्तु वाणिज्यबलसे जीतना है। पिछवाड़ेके बगीचेमें कमीजका आस्तीन चढ़ाकर भिड़ जानेसे दोमें एकका भी गर्व न मिटेगा। और इस बातका डर भी तिलभर नहीं है कि उनमें कोई अपने स्पर्धीके पेटमें छुरी भोंक देगा।

क्या इन सब कारणोंका प्रभाव राष्ट्रीय सम्बन्धोंपर न पड़ेगा? अथवा, क्या इनका प्रभाव पड़ा नहीं है? क्या रूस या टर्कीके सैनिक पराक्रमसे किसी तुर्क वा रूसी व्यक्तिके हृदयमें किसी प्रकारका सन्तोषविशेष होता है? क्या युरोपकी दृष्टिमें उन देशोंके प्रति कोई विशेष आदर वा सम्मान हो जाता है? क्या हममें प्रायः सभी ऐसे नहीं हैं जो लड़ाके तुर्ककी अपेक्षा शान्त अमेरिकन होना अधिक पसन्द करेंगे? निदान, क्या सभी कारण यही नहीं दरसाते कि कोरे शारीरिक बलकी धाक क्या व्यक्तिगत और क्या राष्ट्रीय, दोनों सम्बन्धोंमें बिगड़ती जा रही है?

मैं जर्म्मनीके मामलेको भूल नहीं रहा हूँ। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धमें जिस युयुत्साको ऐसी बलवती ठहराते हैं कि उसके सामने आर्थिक स्वार्थका प्रश्न एकदम टिक नहीं सकता क्या जर्म्मनीके गत पचास बरसके इतिहासमें ऐसी अंधी भावानुगामिनी युयुत्साका कोई प्रमाण मिलता है? सन् १८७०वाले युद्धके ठीक पहलेवाली कूटकी चालों और चालाकियोंके माने हुए इतिहाससे, अथवा जर्म्मनीके उस समयके भाग्यनायकों और कूटनीतिके सूत्रधारोंके चुपचाप अटकल कर लेनेसे, क्या यह प्रकट होता है कि जिस अन्धी युयुत्साकी अधीनतामें सैन्यपत्ती हमें प्रवृत्त करते हैं वह सदा अन्तर्राष्ट्रीय युद्धोंका एक अंग बनी ही रहेगी? उलटे यही बात क्या सिद्ध नहीं होती कि जर्म्मनीकी भावी बड़े निश्शंक और साभिप्राय स्वार्थसाधनोंके हाथमें थी, यद्यपि इन स्वार्थोंकी व्याख्या ऐसे राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तोंपर की जाती थी जो गत तोस चालीस बरसके भीतर ही व्यवहारातीत सिद्ध हो चुके हैं? ऊंचे कुलके रईसोंका सुदृढ़ सुरक्षित पद, और मूर्त्तिपूजक रईसोंका उच्च वंशके कारण ही विद्या बुद्धिमें दक्ष समझा जाना, और ईश्वर जाने और और जो कुछ बातें प्रशा-परम्पराकी हैं, उस परम्पराकी भी उपेक्षा नहीं कर रहा हूँ। प्रशाका एक एक ज़मीदार जितना विज्ञानवेत्ता* होता जाता है उतना ही कम प्रेतग्रस्त होता जाता है और यद्यपि जर्म्मन विज्ञानने इधर कुछ कालसे अपने परिश्रमको विशेष शाखाओंमें वृथाको लगा रक्खा है तथापि राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नोंपर जब पूरा पूरा विचार और अध्ययन होने लगेगा तो कभी न कभी शुद्ध समाजविज्ञान और शासनविज्ञानको जाननेका प्रभाव अवश्य ही दिखेगा। इसमें सन्देह नहीं कि पुराने स्वभावकी झलक कभी

---

* **जेनरल बर्णहार्डी** अपने अश्वारोही सेना सम्बन्धी ग्रन्थमें युद्धकौशलपर युद्धकी तड़कभड़कके इसी अनिष्ट प्रभावपर लिखते हैं। वह इस बातको मानते हैं कि यह तड़कभड़क अवश्य ही उठ जायगी और इस सम्बन्धमें यह उचित ही कहते हैं कि "परम्पराका भाव इसमें नहीं है कि पुराने व्यवहारातीत रूप बने रहें, किन्तु इसमें है कि जिस भावसे अगले समयमें बड़े बड़े विजय हुए उसी भावसे काम किया जाय।" इस बातका कि सिपाहीको उसके "भावके" लिए ही रखना चाहिए इससे अच्छा निबटारा क्या हो सकता है? (See p. 111 of the English edition of Bernhardi's work, Hugh Rees, London.)

कभी आ ही जाती है, परन्तु क्या सच्चे जीसे यह वाद किया जा सकता है कि जब हमारे यथेष्ट उद्देश्योंकी प्राप्तिमें शारीरिक बलप्रयोगका व्यर्थ होना सिद्ध हो गया है तब भी हमलोग केवल तमाशेके लिए ही युद्धको चलाये जायँ? अगले समयमें जब कभी हमारे भावके वेग और आखेटके व्यसन बढ़े हुए सामाजिक और आर्थिक लाभके आड़े आये तब भी क्या ऐसी कोई घटना हुई थी?

वाक्यान्तरमें, इन सब बातोंसे केवल इतना ही नहीं प्रकट होता कि युद्धकी रीतियोंमें परिवर्त्तन हो गया है, प्रत्युत यह भी कि उसके प्रति हमारी मानसिक प्रवृत्तिमें भी प्रधान परिवर्त्तन हुआ है। उससे केवल यही बात प्रकट नहीं होती कि चारों ओर, सैनिकपक्षमें भी, विरोधका कम प्रवर्त्तक और कम स्वाभाविक होना एवं अधिक विचारपूर्ण और प्रतिपन्न होना अनिवार्य्य है, और यह कि परस्पर विद्वेषियोंके अन्ध-युद्धका घटता जाना और उद्देश्य-विशेषके लिए विवेकपूर्ण उद्योगका बढ़ता जाना आवश्यक है, प्रत्युत यह भी प्रकट है कि आजकलके युद्धवादके मौलिक सिद्धान्तोंपर भी उसका प्रभाव पड़ेगा।

यह क्या बात है कि रूसवल्ट मोल्टके रेनन और अंग्रेज़ पादरी प्रमुख प्रामाणिक लेखक और वक्ता जिनके वाक्य इस भागके पहले अध्यायमें उद्धृत किये गये सभी युद्धको सदाचारशिक्षाकी एक सुयोग्य संस्था कहकर उसकी प्रशंसामें मग्न हैं?* क्या यह आग्रहवाद करते हैं कि युद्ध स्वयं वांछनीय है अथवा यह कि युद्ध हमारे लिए अच्छा है इसीसे अनुचित वा वृथा युद्ध ठानना चाहिए? कभी नहीं। अन्तिम विश्लेषणमें उनके वादसे यही प्राप्त होता है कि यद्यपि युद्ध बुरा है तथापि उसमें चीमड़ापन साहस आदि सिखलानेवाले निष्क्रियात्मक गुण हैं। यदि यही है तो टांगोंको काट डालने या पेटमें नश्तर देनेमें भी यही बात है। किन्तु नासूर वा अंत्रज्वरपर किसीने वीररसका काव्य नहीं लिखा है। ऐसे लोग किसी नगरमें उपयुक्त पुलीस रखनेपर भी अपवाद करेंगे क्योंकि नगर ठगोंसे भरा हो तब भी नागरिकोंको साहसकी

* पृष्ठ १४७–१५०के अवतरण देखिए।

शिक्षा मिलेगी। कोई चाहे तो ऐसी कल्पना भी कर सकता है कि जो लोग अपनी रक्षाके लिए पुलीसकी दुहाई देना चाहेंगे वह इन शिक्षकोंकी दृष्टिमें बड़े दुर्बलहृदय समझे जायँगे, घृणासे देखे जायँगे और उनसे यह वाक्य सुनेंगे "भाववादियों, कातरों और सुस्त सुखोपजीवियोंके लिए पुलीस है। यदि तुम पुलीसकी सहायता लोगे तो तुम्हारा परिश्रमी जीवन नष्ट हो जायगा"। *

---

* बोअर युद्धके समयमें *Manchester Guardian* नामक पत्रमें जो चिट्ठी प्रकाशित हुई थी, इस सम्बन्धमें उद्धृत करने योग्य है—

"महाशय—मुझे मालूम हुआ है कि Church Congress खीष्टीय धर्म्म-महामंडलमें "युद्धके विषयमें खीष्ट-धर्म्मका कर्त्तव्य" इस विषयपर विचार होना निश्चय हुआ है। यह ठीक है। सालभरसे धर्म्माध्यक्षगण हमको उपदेश करते रहे कि युद्ध क्या है, इसमें क्या होता है—यह सदाचारकी पाठशाला है, मनुष्योंको शान्त बनाता, शुद्ध और बलवान करता और उनमें परस्पर प्रेम कराता है, उन्हें वीर, सहनशील, नम्र और कोमल कर देता एवं आत्मत्यागका उसकी प्रकृतिमें समावेश कर देता है। एक धर्म्माध्यक्षका कहना है कि युद्धके रक्तजलसे सिंचित होकर सद्गुणका पौदा बढ़ता है और तोपखाना भजन-वादन है, युद्ध एक तरहकी पूजा है। सच है, मनुष्यलोग धर्म्मसंस्थाओंसे यही आशा रखते हैं कि हमारी आत्मा इस अच्छी पाठशालाके, इस अनुग्रहकी वर्षाके, इस पवित्र भजन-वादनके होते हुए सदाचार और मुक्तिकी बुभुक्षासे पीड़ित न रहने पावेगी। महासभाएं बहुधा बकवादमें ही अपना अमूल्य जीवन खो देती हैं। किन्तु हमारे उद्देश्यका मार्ग ऐसा सीधा है कि इस महासभाकी यह दशा न हो सकती है और न होगी। उसका कर्त्तव्य यह है कि युद्धपक्षमें हमारे समयके अभिनव संकलनका तथा सर्वोत्तम अर्वाचीन विचारानुसार बैबिल और प्रार्थनाग्रन्थके उन वाक्योंको सम्मानसहित किन्तु दृढ़तापूर्वक निकाल देनेका प्रस्ताव करे जिनसे सैकड़ों बार उत्तमोत्तम और सच्चेसे सच्चे धर्म्मज्ञ खीष्टीय युद्धको खोज खोजकर करनेके कर्त्तव्यसे वहिर्मुख रहे। तब भी मैं मानता हूं कि मनुष्यके सदाचारी स्वभावको युद्धसे ही सन्तोष नहीं हो सकता और न मैं बहुतेरोंकी तरह यह कहता हूं कि शान्ति नितान्त निकम्मी ही है। शान्तिकी भयानक दशामें भी महामारी और दुर्भिक्षकी, तूफ़ान और अग्निप्रकोपकी सुखदा और सामयिक वर्षासे सच्चरित्रके छोटे छोटे पौदोंकी वृद्धि हो जाया करती है। अंत्रज्वर, गठिया, पथरी आदि रोगोंकी पाठशालामें सहनशीलता और साहसके सुगम पाठ पढ़े जाते हैं, भजनवाद्य तो नहीं किन्तु जाड़ेकी लम्बी रातोंमें नश्तर और शलाकापर भद्दे किन्तु सीधेसादे भजन भी गाये जाते हैं। मैं कभी इन कृपाओंको कोसकर पाप नहीं लेनेका, और केवल संध्याके झुटपुटेको अन्धकार नहीं कहनेका। तिसपर भी अन्धकार होना सम्भव है, क्योंकि याद रहे कि ये युद्धोत्तर चरित्र-पाठशालाएं भी जो कभी कभी युद्धके अभावमें उसका स्थान ले सकती हैं, चाहे भूख, अदृष्ट दुर्घटना, अज्ञान, रोग, पीड़ा कुछ भी हो—सांसारिक वैद्यों, नलवालों, आविष्कर्त्ताओं, शिक्षकों और पुलीसवालोंकी दुष्टतासे इनकी नाकोंमें दम है और

इस तरह सारा वाद व्यर्थ हो जाता है और यदि हम अंत्रज्वर-पर वीररसके काव्य नहीं लिखते तो कारण यही है कि अंत्रज्वरमें वह मनोहरता नहीं है जो युद्धमें है। सब बातोंकी एक बात यही है और इस बातको चुपचाप मान लेनेसे बहुत सी कठिनाइयां दूर हो जाती हैं, कि रोगके दृश्यसे किसीके मनको कोई प्रोत्साहन नहीं होता पर युद्धके दृश्यसे बहुतेरोंके मनको होता है। रोगसे जो युद्ध रोगीका होता है उस दृश्यसे किसीका चित्त आकर्षित नहीं होता किन्तु मनुष्योंके परस्पर युद्धके दृश्यसे बहुतोंका चित्त आकर्षित हो जाता है। युद्धमें, उसकी कथामें और उसकी सामग्रीमें ऐसी कुछ बात है जो मनोवेगोंको एकदम स्फुरित कर देती है और बड़े बड़े शान्त वृत्तिवालोंके रगोंमें भी रक्त उबलने लगता है और न जाने किस प्राचीन स्वभावका आकर्षण करता है, और जो साहसके प्रति हमारा प्राकृतिक आदरभाव है, साहसिक पराक्रमसे हलचलसे और कठिन व्यवसायसे जो हमारा अनुराग है, उसकी तो चर्चा ही क्या है। किन्तु यह अद्भुत आकर्षण प्रायः युद्धके तमाशोंमें है और वर्त्तमान स्थिति इसी तमाशेका अंग युद्धसे दूर कर रही है।

ज्यों ज्यों हम अधिक शिक्षा पाते हैं त्यों त्यों हम समझते जाते हैं कि—

(१)-मनुष्यकी मनोवृत्ति अमिश्र नहीं है, मिश्रित है;

(२)-यद्यपि हम युद्ध-दृश्यपर मोहित हो जाते हैं, तथापि इससे यह बात नहीं ठहरती कि इस दृश्यके पीछे जो प्रक्रियाएं हैं, जो प्रकृति है वह सब यथेष्ट ही है;

(३)-वीरता वा उच्च और उत्तम स्वभावकी यही एक पहचान नहीं है कि मरनेके लिए कमर बांधे रहे।

जिस पुस्तककी मैंने अभी चर्चा की है (Mr. Steeven's "With

इनकी उपयोगितापर पानी फिर रहा है। प्रतिवर्ष जो हज़ारों मनुष्य शीतला वा मांस-संतानिका रोगसे वीरतापूर्वक भिड़कर बलवान और दृढ़ होते, हमारी नालियों और परनालोंमें बड़े बड़े परिवर्त्तन हो जानेसे अब वे उस पराक्रम-सुखसे वंचित रक्खे जाते हैं। अब प्रतिवर्ष हजारों स्त्रियों और बच्चोंको विधवा और अनाथ होनेके अध्यात्म-आनन्दानुभवसे बरबस वहिर्मुख रक्खा जाता है।"

Kitchener to Khartoum") उसमें निम्न अनुवादित अंश पढ़ने योग्य है—

और दरवेश ? युद्धका यश फिर भी उन्हींका है जिन्होंने प्राण दिये। हमारे सिपाही "सर्वोत्तम" थे किन्तु दरवेश लोग उनसे भी बढ़े हुए थे। महदी-मतके पक्षमें उनकी इतनी बड़ी, उत्तम और वीर सेना कभी हमारे सम्मुख नहीं आयी थी और जिस महासाम्राज्यको महदी-मतने हस्तगत करके अबतक अपने अधिकारमें रक्खा था उसके लिए उसने बड़ी योग्यतासे प्राण दिये। उनके रैफ़लवाले मनुष्यकल्पनासे जितने तरहकी यातनाएं और मृत्यु हो सकती है सबको सहते हुए निर्भीकतासे घरके बने दरिद्र और निकम्मे कारतूस ख़ाली करते हुए अपने काले और हरे झंडेके तले डटे रहे। उनके भालेवाले मिनिट मिनिटपर—यद्यपि वार निष्फल होते थे तथापि—जी छोड़कर वार करते थे। उनके सवार गोलियोंकी वर्षाके बीचसे होकर धावा मारते थे और प्राण दिये विना नहीं हटते थे।... एक दो या दस धावे नहीं, धावेपर धावा, दलपर दल टूटे पड़ते थे, मानों आगे टूट पड़नेवाला ही दल वैरी दल था और उसीपर धावे हो रहे हैं। एक काली लैन उठी आगे बढ़कर चढ़ आयी, झुक गयी, टूट गयी, अलग अलग हो गयी और लुप्त हो गयी। धुआँ फटा भी नहीं था कि दूसरी लैनकी भी यही दशा हो रही थी।......हरी वर्दीकी सेनासे अब मृत्युप्रेमी आततायी एक एक करके बन्दूकोंकी ओर टहलते आते थे, भाला लेनेको रुक जाते थे, किसी लाशको पहचाननेको ज़रा किसी ओर झुक जाते थे, इतने ही में अचानक क्रोधके आवेशमें आकर आगे उछलकर, फिर रुककर लँगड़ाते हुए भूमिपर गिर जाते थे। लाशोंकी ढेरके बीच अब केवल तीन मनुष्य काले झंडेके नीचे तृतीय ब्रैगेडके तीन हज़ारके मुक़ाबले खड़े थे। वे झंडेके डंडेके चारों ओर हाथ फैलाकर लपट गये और निश्चल भावसे सामने देखने लगे। दो गिरे। तीसरा उठकर खड़ा हुआ, दमसे सीना भरकर "अल्लाह-अकबर"का नारा मारते हुए उसपर भाला चलाया। फिर चुपचाप प्रतीक्षामें खड़ा रहा। उस दृश्यसे वह नितान्त लाचार होकर कांपने लगा, उसके घुटने झुक गये और हाथोंपर सिर टेके हुए अपने असंख्य विजेताओंके संमुख मुँहके बल गिर पड़ा।"

बात ईमानकी कहनी चाहिए। (Cambronne) कम्ब्रोन, लैट-ब्रिगेड वा और कोई युरोपीय सेनाके इतिहासमें, इससे बढ़कर भी कोई दृश्य है ? यदि हम सच्चे हैं तो कहेंगे कि नहीं।

पर यह भी याद रहे कि स्टीवनके वर्णनमें इसके आगे क्या आता है। हमारी समझमें उन जंगली वीरों सरीखा स्वभाव हमारे

देखनेमें आना चाहिए ? यदि हम क्रूर भी समझें तब भी उन्हें राज-भक्त तो मानना ही पड़ेगा। वे अपने सरदारको कभी न छोड़ेंगे। जो लोग इस तरह प्राण देते हैं वे नीच लोभके वशीभूत हो उसे दगा न देंगे। व्यापारकी बेईमानोसे वे अभी शुद्ध हैं। जिस दृश्यका अभी वर्णन हुआ है उसके दो तीन अध्याय आगे यह पढ़ने योग्य है—

शासकरूपसे ख़लीफ़ाका काम तब ही समाप्त हो गया जब वह अमदुरमान नामक स्थानसे सवार होकर निकल गया। जो बग्गरजातिके घुड़सवार उसकी ही रोटी खा खाकर मोटे हो रहे थे उन्हींने उसके चरवाहोंको मार डाला; और जिन ढोरोंसे वे पलते थे उन्हें ही लूट लिया। फ़ालतू ऊंटोंका किसीने पता दे दिया।...... उसके साथियोंने एक दूसरेकी हत्या प्रारंभ कर दी।......ख़लीफ़ाकी राजधानी-की सारी आबादी ख़लीफ़ाके ही अनाजको लूटनेको होड़ लगा लगा दौड़ रही थी......जंगली मनुष्योंके चित्तकी वृत्ति विचित्र है! दो पहर पहले वे जिस मालिकके लिए सेनामें प्राण दे रहे थे अब उसके ही अनाजको लूट रहे हैं। दो पहर हुए जो सिपाही हमारे घायलोंको टुकड़े टुकड़े काटे डालते थे, अब हमसे पैसे मांगने लगे।

सिपाहीकी मानसिक वृत्तिमें जो यह असंगत बात दिखती है यह कुछ दरवेशों वा जंगलियोंकी ही विशेषता नहीं है। एक योग्य सुशिष्ट और सभ्य ब्रिटिश सेनानायक लिखता है—

सिपाहियोंकी जाति ही ऐसी है जिसने नागरिक सदाचारके नियमोंकी एक-दम उपेक्षा की है। वे जानबूझकर उससे अजान बन जाते हैं। यही तो बात है कि सिविलियन उनसे नहीं मिलते। संसारके जुएमें वे स्थापित नियमोंका बर्त्ताव नहीं करते जिससे बड़ी बेसमझी पैदा हो जाती है; यहांतक कि अन्तमें सिविलि-यन सिपाहीकी संगति करनेसे एकदम इनकार कर देता है। सिपाहीकी निगाहमें झूठ, चोरी, मद्यपान, गाली देना आदि तनिक भी बेजा नहीं है। वे डोम-कौओंकी भांति चोरी करते हैं। मैं पहले जानता था कि मालके जहाज़ोंवाले मांझी बहुत नंगी बातें बकते हैं किन्तु गालियोंमें, भद्दे और फूहड़ शब्दोंमें, सिपाही उनसे भी बढ़े हुए हैं। यह तो मानों उनकी एक कलाविशेष है। झूठ बोलनेके प्रति भी उनका भाव अति उदार है। और सिपाहीकी झूठ और गप लोकोक्ति हो गयी है। उसे झूठ गढ़नेमें ऐसा स्वाद मिलता है कि वह बड़ी बड़ी कथाएं केवल रोच-कताके लिए गढ़ लेता है। लूटनेमें भी उसे विशेष आनन्द मिलता है, वह केवल

लाभके लिए ही नहीं लूटता वरन् सत्यानाश करनेमें जो आनन्द उसे मिलता है, उसके लिए लूटता है।*

प्यारे पाठको! कृपया यह न कहियेगा कि मैं ब्रिटिश सिपाहियोंकी निन्दा कर रहा हूँ। मैंने एक ब्रिटिश सेनानायकके वाक्य उद्धृत किये हैं और विशेषतः ऐसे सेनानायकके जो सिपाहियोंसे पूरी और आन्तरिक सहानूभूति रखता है। उसने आगे यों कहा है—

क्या चोरी, झूठ, लूट, गाली बहुत बुरी चीज़ें हैं? यदि हैं तो सिपाही बहुत बुरे ठहरे। किन्तु जबसे मैं उनसे परिचित हुआ तबसे किसी न किसी कारणसे उनकी इन बुराइयोंसे मुझे जो घृणा थी वह कम हो गयी है।

सैनिक शिक्षाका जो प्रभाव सदाचारपर पड़ता है उसकी टीका उपर्य्युद्धृत दोनों अंशोंमें किससे अधिक तीव्र होती है? इस बातसे कि सैनिक शिक्षाका फ़िलिप्स-वर्णित अनिष्ट प्रभाव पड़ता है, अथवा इस बातसे कि स्वयं कप्तान साहबका ही विचार उसके प्रभावसे सदाचारके प्रति दूषित हो गया, यह मैं नहीं कह सकता। हाबसन साहबने अपने Psychology of Jingoism नामक ग्रन्थमें ठीक लिखा है कि दूसरा निर्णय—कि चोरी, झूठ, लूट और गालीसे कुछ नहीं होता—किसी शुद्धाचारवालेको करना चाहिए। इन दोनोंमें कौन सी बातसे सैनिक शिक्षा और सैनिक व्यवहारके दुराचारपर अधिक कड़ी टीका होती है? युद्धके अनिष्ट प्रभावका गुरुतर प्रमाण कौन सी घटना है? †

सच्ची पूछिये तो सिपाही कभी यह दावा नहीं करते कि युद्ध सदाचार-शिक्षाका स्थान है। एक अफ़सरने ही एक प्रसंगपर कहा है कि—"युद्धमात्र नारकी और अत्यन्त अपवित्र काम है किन्तु

* Captain March Phillips, "With Remington". Methuen. इस कथनकी पुष्टिमें पृ० २२७—८पर ब्लचफ़ोर्ड साहबके कथनको पाठकगण फिर देख लें।

† और इस प्रसंगपर भी अफ़सरोंके विषयमें, मैं नहीं किन्तु एक बड़ा भारी युद्धवादी और साम्राज्यपक्षी पत्र स्पेक्टेटर (the *Spectator*, November 25, 1911) कहता है कि "यह बात मान ली जा सकती है कि वास्तविक काम करनेवाले होनेसे सिपाही छोटी छोटी बातोंसे परे रहते हैं किन्तु सब पेशोंमें सबसे अधिक सेनामें ही यह प्रसिद्ध अवगुण है कि सेनानायक एक दूसरेकी निन्दा करते हैं।"

संसारका अपवित्र काम किसी न किसीको करना आवश्यक है और मुझे यह सोचकर सन्तोष होता है कि सिपाहीका कर्त्तव्य युद्ध करना नहीं किन्तु उसे बन्द करना है।"

सिपाहीके हम बहुत उपकृत हैं, इस बातसे इनकार करना यहां मेरा अभीष्ट नहीं है। मैं यह नहीं समझता कि अगले समयके सामुद्रिक डाकू सरदारोंका उपकार भी हम क्यों न मानें। सब बातोंमें तो न वही घृणा योग्य थे न यही। दोनोंसे ही साहस, चीमड़ापन, सहनशक्ति, सुव्यवस्थित पुरुषार्थी क्रिया, बड़ी बड़ी चोटोंके लेनदेनकी क्षमता, सहचारिता और मोटी रीतिसे नियमित संगठन— यह सब और इनके सिवाय और और गुण भी हमको उत्तराधिकारमें मिले हैं। किसी मनोवेगको पूर्णतया और शुद्धरूपसे भला वा बुरा कह देना ठीक नहीं है। जिस मानसिक शक्तिने जलडाकुओंको सर्वनाशक और क्रूर लुटेरा बनाया उसीने उनकी ही सन्तानको परिश्रमी और दृढ़ रक्षानायक और अधिवासप्रवर्त्तक बनाया, और जो मनोवेग आज अफ्रिकाके एक भूभागको उजाड़ और रक्तप्लावित कर रहा है वही दूसरी दिशा और दूसरे विभागमें लगकर किसी भूभागको नन्दनवन बना रहा है। प्राचीन जलडाकुओंका रक्त क्या उस स्कन्दनवीय जातिके रगोंमें वृथा बह रहा है जिसने अपने ऊंचे नीचे पहाड़ी प्रायद्वीपको युरोपके लिए दृष्टान्तरूप समृद्ध सुव्यवस्थित राज्यसमूहोंमें परिवर्त्तित कर दिया और एँग्लो-सक्सन महाजातिके अंग अंगमें अपने उच्च आदर्शका कुछ कुछ संचार कर दिया? चाहे सत्य कितना ही कठिन दिखे और हमारे प्रिय अन्धविश्वासोंके प्रति कितना ही क्रूर हो, पर उसके लिए जो अपने प्राण निछावर कर दें, ऐसे साहसियोंकी दुःखद कमी अबतक जिस संसारमें है क्या उस संसारमें जलडाकू और सिपाहीके समस्त सर्वोत्तम गुणोंके स्वतंत्र व्यवहारके लिए स्थान नहीं है?

इस विषयमें शान्तिवादीको सत्य घटनाओंकी अवहेला करनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है। मनुष्यजाति सिपाहीकी चाह उसी तरह रखती है जिस तरह बाल्यावस्थामें हम जलडाकुओंको चाहते थे और हममें बहुतेरे अपने जीवनभर थोड़े बहुत बालक बने ही रहते हैं। किन्तु ज्यों ही हम बड़े हो जाते हैं इस दुःखद

बातसे अभिज्ञ हो जाते हैं कि हम जलडाकू नहीं हो सकते और अमेरिकाके जंगलियोंका शिकार नहीं कर सकते, न तो जासूस हो सकते हैं न ठगी कर सकते हैं। अतः अवश्य यह समझनेका समय है कि अब सिपाहीकी बातें पुरानी चालकी बातें हो गयी हैं। प्राचीन जलडाकुओंकी कथाओंमें युद्धकी ललकार वैसी ही ठीक थी जैसी पीछेके जलडाकुओंके सम्बन्धमें हुई! * तिसपर भी प्राचीन जलडाकुओंके पदसे भी हम ऊंचे हो गये और पीछेके जलडाकुओं-को हमने फांसी दी, यद्यपि निस्सन्देह फांसी देते हुए भी हम उसे चाहते ही थे और जहांतक मुझे मालूम है जिन्होंने जलडाका रोकनेको दृढ़ प्रयत्न किये वे डाकूमंडलके-अतिरिक्त-संसारमें कोरे भाववादीके नामसे बदनाम नहीं किये गये और जेनरल लीके वाक्या-नुरूप वे मानवी प्रकृतिकी अवहेला करते हुए, "जीवनप्रयासके मौलिक नियमकी अखंडताको न मानते हुए, अर्द्धशिक्षित मनकी कल्पना करनेवाले नहीं कहलाये। जो लोग अपने लिए ईमानकी कमाई करके जो कुछ इस अपूर्ण संसारसे मिल सकता है उसीपर सन्तोष करके जीविकोपार्जन करना चाहते थे उनके व्यापार और उद्योगमें जलडाका महा विघ्नका कारण था। जलडाका था बड़े ही मारकेका, किन्तु यह कोई व्यापार तो था नहीं। हम प्राचीन जल-डाकुओंकी कीर्त्ति भले ही गावें किन्तु समुद्रमें आज उनका होना सह नहीं सकते। वह लोग जो काव्य, कथानक उपन्यासादिमें सैनिकको उचित स्थान देनेको तय्यार हैं—जो लोग रूसवल्ट, फ़न मोल्टके आदिके साथ साथ यह माननेको बद्धपरिकर हैं कि हमने उनसे बहुतेरे ऐसे सद्गुण सीखे हैं जिनके बिना हम अवश्य बहुत हीना और दीना दशामें होते, वे ही लोग इतनेपर भी यह पूँछ रहे हैं कि क्या अभी वह समय नहीं आया कि सैनिकको, वा उसके एक बड़े अंशको, प्राचीन जलडाकूके साथ ही साथ काव्यसाहित्यकी अलमारीपर रक्षाके लिए रख दिया जाय, अथवा कमसे कम उन क्रियाओंके लिए जो यद्यपि हमारे चित्तको मोहती हैं तथापि वत्त-

---

* *McClure's Magazine*, August, 1910में प्रोफ़ेसर विलियम जेम्स यों कहते हैं—"यूनानी इतिहास तो व्यसनमात्रसे युद्ध करनेका एक विश्वदृश्य है .....जिसमें एक ऐसी सभ्यताका सर्वनाश दरसाया गया है जिसकी तुलनाकी सभ्यता विद्याकी दृष्टिसे इस संसारमें दूसरी हुई ही नहीं। युद्ध तो शुद्ध शुद्ध जल-डाकेके हुआ करते थे। अभिमान, धन, स्त्रियां, दास वा हुल्लड़मात्र उनका कारण होता था।"

मान रूपमें उनके लिए अब संसारमें स्थान नहीं है, और मैदान खोजे जावें, क्योंकि चाहे हम जर्म्मनोसे लड़ें वा न लड़ें, हारें वा जीतें, Bacon बेकनके इस कथनके विरुद्ध कि "मनुष्य संकट भले ही भोग ले किन्तु निरन्तरके आयाससे भागता ही है"—एवम् हमारी इच्छाके प्रतिकूल हो, (हमको शोकके साथ कहना पढ़ता है,) हमारे भाग्यमें लाचार हो उद्योगशील होना ही बदा है॥

छठा अध्याय

राष्ट्रकी व्यक्तिसे उपमा—मिथ्या दृष्टान्त और उसके फल

राज्यपर आक्रमण होनेकी तुलना व्यक्तिके ऊपर आक्रमणसे क्यों नहीं की जा सकती ?—समुदायगत दायित्वके विषयमें हमारी परिवर्त्तनशील कल्पना—इस सम्बन्धमें मानसिक अभ्युदय—जिन कारणोंसे राज्यों की व्यक्तिसे तुल्यता टूटती जाती है वे हालके ही हैं।

साधारण विचार यद्यपि इस बातके प्रतिकूल है तथापि सच्ची बात यही है कि हमें अमूर्त्त-विचार, प्रत्याहार, अत्यन्त प्रिय है विशेषतः स्पष्टरूपसे वह प्रत्याहार जो अधूरे सत्यपर ही निर्भर हो। गत अध्यायोंमें जो कुछ प्रमाणित हुआ हो कमसे कम यह तो अवश्य ही सिद्ध हुआ कि हमारे ही युगके लिए विशिष्ट नवीन कारणोंके एक समूहके उत्पन्न हो जानेसे आजकलका राज्य तत्त्वतः प्राचीनकालके राज्योंसे विभिन्न हो गया है। तिसपर भी जो इस विषयमें बड़े भारी और न्यायोचित प्रमाण हैं वे भी राज्यके विषयमें अरस्तूकी ही कल्पनाको सुनिर्णीत मानकर उसकी ही दुहाई देंगे जिसका भाव यह होगा कि जितनी घटनाएं अरस्तूके बाद हुई हैं चुपचाप सबकी उपेक्षा करनी चाहिए।

पिछले अध्यायोंसे विदित हो गया होगा कि वह घटनाएँ कौन सी हैं। पहली बात है, मनुष्यके स्वभावमें ही परिवर्तन, जिसमें भौतिक और शारीरिक बलके प्रयोगकी ओरसे क्रमशः निवृत्ति भी समाविष्ट है—और इस निवृत्तिकी व्याख्या इस सामान्य बातसे हो जाती है कि लगाया हुआ उद्योग भौतिक शक्तिप्रयोगमें उतना फलदायक नहीं होता जितना और भांति भांतिके शक्तिप्रयोगमें फल-दायक हो सकता है। इन सब बातोंमें जो शुद्ध यंत्राभ्युदय और मानसिक अभ्युदयमें परस्पर संबन्ध है उसको समझाना यहां आवश्यक नहीं है। फल स्पष्ट ही है। अब तो अपनी अभीष्टसिद्धिके लिए बलका प्रयोग यों ही कभी और अत्यन्त ही कम करते हैं। किन्तु इन कारणोंके अतिरिक्त, पर इनके साथ अत्यंत घनिष्ट सम्बंध रखनेवाले, एक और कारणपर विचार करना बाकी है—जिसका

प्रत्यक्ष प्रभाव राष्ट्रोंमें नित्यके परस्पर विरोधवाले प्रश्नपर और कारणोंकी अपेक्षा अधिक पड़ता है।

राष्ट्रोंमें परस्पर विद्रोह और अन्तर्राष्ट्रीय युयुत्सासे साधारणतः यही ध्वनि निकलती है कि राष्ट्रकी कल्पना यह है कि सम्पूर्ण एक-रंग और एकस्वभाव है और उसपर वैसाही दायित्व है जैसे किसी व्यक्तिपर समझा जाता है। जैसे एक आदमीने दूसरेको मार दिया तो स्वयं उसके द्वारा पिट जानेका कारण उत्पन्न करनेवाला हुआ और दायित्वका भार पहले मारनेवालेपर पड़ा। किन्तु आजकल राष्ट्र-की तुलना ऐसी व्यक्तिसे होनी अत्यन्त कम संभव है, तथा ऐसी तुलनाकी रही सही सीमा भी बड़ी शीघ्रतासे घटती ही जा रही है। संभव है कि कभी किसी कालमें—शायद अरस्तूके समयमें—ऐसी तुलना सच्ची उतरती रही हो। तथापि राष्ट्रोंमें परस्पर शस्त्रप्रयोगकी आवश्यकता जिन सूक्ष्म सिद्धान्तोंपर निर्भर है वे सिद्धान्त, और यह प्रतिज्ञा कि शस्त्रद्वारा ही राष्ट्रोंके परस्पर सम्बन्धका निबटारा हो सकता है और यह कि अन्तर्राष्ट्रीय युयुत्सा राष्ट्रोंमें परस्पर लोहा बजनेसे ही सदैव व्यक्त हुआ करेगी—सब इसी घातक तुलनापर निर्भर हैं, यद्यपि वस्तुतः यह तुलना अत्यन्त कम अंशोंमें सच्ची उतरती है।

अध्यापक स्पेन्सर विल्किंसनके ही लेखोंको लीजिए। इस विषयपर अध्यापकजीके लेख आदरणीय समझे जाते हैं। आपका अनुमान है कि जो सिद्धान्त राष्ट्रोंमें परस्पर शस्त्रव्यवहारके परि-त्यागको सदैवके लिए असंभव कर देगा वह यह है कि "अधिकार-रक्षाके लिए बलप्रयोग समस्त सभ्य मानवजीवनका मूल है, क्योंकि राष्ट्रका यह मूल कर्तव्य है, और राष्ट्रसे भिन्न न तो कोई सभ्यता है और न जानेयोग्य जीवन है।......राष्ट्रका लक्षण प्रभुत्व अथवा बल और अधिकारको एक समझना है और राष्ट्रकी पूर्णताका परिमाण इस एकीकरणपर ही निर्भर है।"

यह बात सच हो वा झूठ किन्तु हमारे विषयसे असंबद्ध है। अध्यापक विल्किंसन अपने कथनपर जो उदाहरण देनेका प्रयत्न करते हैं उसमें जिस मामलेकी चर्चा करते हैं उससे ध्वनित होता है कि जो लोग सैन्यबलकी आवश्यकताका विरोध करते हैं उनकी धारणा है कि बलप्रयोग ही बुरा है। ऐसे लोग हो सकते हैं,

किन्तु यहां अधिकारका प्रश्न छेड़ना आवश्यक नहीं है। यदि बिना बलप्रयोग थोड़े से ही उद्योगसे सहज ही काम निकल जाय तो अमूर्त अधिकारपर वादविवादसे क्या लाभ है, इस असंगत अमूर्त्त-वादपर वह जो उदाहरण देते हैं, दिखता है अवसरानुकूल, पर वह भी असंगत ही है। इस तरह उन्होंने सारे वादविषयको सफलता-पूर्वक गड़बड़ा दिया है। मत्तीकी इंजीलके पांचवे अध्यायसे तीन पदोंको उद्धृत करके अध्यापक विल्किंसन कहते हैं*—

ऐसे भी लोग हैं जिनका विश्वास है कि जो शब्द मैंने उद्धृत किये हैं उनमें यह सिद्धान्त भी सम्मिलित है कि मनुष्य मनुष्यमें वा जाति जातिमें बल वा अत्याचारका प्रयोग बुरा है। जो आदमी यह समझता है कि दूसरेका सामना करनेमें उससे क्रूरता करनेके बदले आप क्रूरता सह लेना वा हत हो जाना ही ठीक है उसे मैं कोई उत्तर नहीं दे सकता। संसार उसे पराजित नहीं कर सकता और भय उसके पास नहीं फटकेगा। किन्तु वह भी अपने मतका अनुसरण इतना ही कर सकता है कि अपनी दुर्दशा करा ले—मैं इस बातको अभी सिद्ध किये देता हूं। कई बरस हुए एक हत्याके मुकदमेंमें जो घटनाएं प्रकाशित हुईं उन्हें सुन-कर लंकशहरके लोग संत्रस्त हो गये थे। बात यह थी कि बोल्टन नगरके बाहरके किसी गावँमें एक युवती रहती थी जो किसी बोर्डस्कूलमें गुरुआनी थी। उसका बड़ा आदर होता था। स्कूलसे लौटते समय एक सूनसान जंगलकी पगडंडीसे नित्य आया करती थी। इसी जगह एक दिन शामको उसकी लाश पायी गयी। किसी दुष्टने इस एकान्तमें उससे बलात्कार करना चाहा किन्तु उसने सफलता पूर्वक उसे रोका, पर दोनोंमें जो हाथापाई हुई उसमें उस दुष्टने इस युवतीको गला घोटकर मार डाला। सौभाग्यवश वह हत्यारा पकड़ा गया और स्थित्यात्मक साक्षीसे जो बातें ज्ञात हुई थीं वह उसकी स्वीकारोक्तिसे प्रमाणित हो गयीं। इंजीलके उद्धृत वाक्यका पक्ष जो लेता हो उससे मैं अब यह प्रश्न करूंगा कि यदि तुम उस हाथापाईके समय टहलते टहलते पहुँच गये होते तो तुम्हारा कर्त्तव्य क्या होता? मेरा कहना है कि यह ऐसी पतेकी बात है जिससे बलप्रयोगको बुरा ठहरानेवाले मतका एकबारगी खंडन हो जाता है। भलाई बुराई बलप्रयोगमें नहीं किन्तु उसके उद्देश्यमें है। इस मामलेसे मेरी समझ-में यह सिद्ध होता है कि अत्याचारको रोकनेमें अत्याचारसे काम लेना केवल उचित ही नहीं वरन् आवश्यक है।

* "Britain at Bay." Constable & Co.

जिस मिथ्या दृष्टान्तकी पोल हम खोलना चाहते हैं, उपर्य्युक्त वाक्योंमें वह पूर्णरूपमें दिखता है। अध्यापक विल्किंसनने इसमें वास्तवमें कुछ थोड़ी सी मखवल्लीकी सी चतुराईसे काम लिया है क्योंकि जो लोग सैन्यबल-सम्बन्धमें राष्ट्रोंमें परस्पर सन्धि कराना चाहते हैं उन्हें आपने उनकी पांतीमें बैठाला है जो हद दरजेके अप्रतीकारी हैं। यह बेमेल बात है क्योंकि जो लोग ऐसे कारणोंसे सैन्यबल घटाना चाहते हैं उनकी संख्या इतनी थोड़ी है कि इस वादविवादमें उनकी उपेक्षा की जा सकती है। युरोपके मामलोंमें अत्यन्त गंभीर और सूक्ष्म विचार करनेवाले जिस बातको चला रहे हैं उसको ऐसे सिद्धांतसे सम्बन्ध जोड़कर रफ़ा दफ़ा कर देना संभव नहीं है। परन्तु भ्रान्तिका मूल तो राष्ट्रकी तुलना व्यक्तिसे करनेमें है। राष्ट्र व्यक्ति नहीं है, परन्तु दिनपर दिन उसका रहा सहा व्यक्तिभाव भी क्षीण होता जा रहा है। जिस कठिनाईकी ओर अध्यापक विल्किंसनका निर्देश है वह वास्तविक नहीं है, केवल साम्प्रदायिक है। अध्यापक विल्किंसन यह चाहते हैं कि हम अनुमान कर लें कि जैसे किसी व्यक्तिको उसी तरह राष्ट्रको भी हानि पहुँचाना वा मार डालना संभव है और जैसे व्यक्तिपर चढ़ाई रोकनेको बलकी आवश्यकता होती है उसी तरह राष्ट्रको भी बलकी आवश्यकता होती है और जब व्यक्तियोंके सम्बन्धमें अदालतके फ़ैसलेके अमलदरामदके लिए बलप्रयोगको आवश्यकता है उसी तरह दो राष्ट्रोंके झगड़ेमें जो फ़ैसला हो उसके अमलदरामदके लिए भी बलप्रयोग अवश्य चाहिए। यह अनुमान असत्य है, और तब ही निकलता है जब व्यक्ति और राष्ट्रमें भेद दिखानेवाली असंख्य बातोंकी अवहेला करके व्यक्ति और राष्ट्रमें समानता दिखायी जाती है।

हम यह कैसे जानें कि यह कठिनाइयां साम्प्रदायिक ही हैं? इसका उत्तर ब्रिटिश साम्राज्यसे मिलता है। ब्रिटिश साम्राज्य अधिकांश वास्तविक स्वतंत्र राष्ट्रोंका बना हुआ है और इतनी ही बात नहीं है कि ब्रिटेन उनकी काररवाइयोंपर कोई प्रभुत्व नहीं रखता, बल्कि यह भी है कि उनके सम्बन्धमें भविष्यत्में भी बल-प्रयोग करनेके विचारको पहलेसे ही उसने छोड़ दिया है*। ब्रिटिश

* इस स्थलपर पृ० ८८पर Sir C. P. Lucasके उद्धृत वाक्य देखने योग्य है।

राज्योंमें परस्पर अनबन है। वे चाहें झगड़ेका निबटारा ब्रिटेनकी सरकारसे करावें या न करावें उनकी ख़ुशी है, किन्तु यदि वे करावें तो क्या अपना फ़ैसला मनवानेको ग्रेटब्रिटेन कनाडामें सेना भेजनेको तैयार है? सब कोई जानता है कि यह असंभव है। जो कभी ऐसा भी हुआ कि एक राज्य दूसरेसे ऐसा आचरण करे जिससे अन्तर्राष्ट्रीय मेलमें वास्तविक और बड़ी भारी बाधा उत्पन्न हो, तो केवल इतना ही नहीं होता कि ग्रेटब्रिटेन स्वयं कुछ नहीं करता, बल्कि जहांतक वह बीचमें पड़ सकता है वहांतक उसका यही प्रयत्न होता है कि आपसमें लोहा न बजे। आज कितने बरस बीत गये कि नेटाल राज्यमें ब्रिटिश भारतवासियोंसे अत्यन्त क्रूर एवं अनुचित व्यवहार होता आया है।* ब्रिटिश सरकार प्रकाशरूपसे इस व्यवहारको अत्यन्त अनुचित और क्रूर समझती है। नेटाल यदि कोई बाहरी राज्य होता तो सम्भव है कि वह स्वयं लोहा लेती, परन्तु साम्राज्यके अन्तर्गत होनेसे उसे सर ल्यूकसके इस सिद्धान्तका अनुसरण करना पड़ता है कि "चाहे उनकी चाल जा हो या बेजा—शायद बेजा होनेपर और भी अधिक—बलपूर्वक उन्हें राज़ी नहीं किया जा सकता," और नेटाल और भारत दोनों राज्यों-पर यह बात छोड़ दी जाती है कि जैसे बन पड़े, बिना लोहा लिए इस झगड़ेका निबटारा कर लें। अन्ततः ब्रिटिश साम्राज्य इसी आशापर अवलम्बित है कि हमारे उपनिवेश सभ्य जातियोंका सा व्यवहार करेंगे और इसमें सन्देह नहीं कि अन्तको यह आशा सफल ही होगी क्योंकि यदि ऐसा व्यवहार न करेंगे तो साधारण सामाजिक और आर्थिक शक्तियोंकी क्रियासे उन्हें ऐसा निश्चय दंड मिलेगा जैसा शस्त्रबलसे भी संभव नहीं है।

अकेला ब्रिटिश साम्राज्य ही इसका उदाहरण नहीं है। सच तो यह है कि संसारके लगभग सब ही राज्य परस्पर ऐसा सम्बन्ध रखते हैं कि शस्त्रप्रयोग न करना पड़े। संसारमें आधे राज्य तो ऐसे हैं कि यदि दूसरे राज्य उनके साथ अनुचित व्यव-हार करें तो उसका बदला चुकाने वा उनको दबानेके लिए उनके पास कोई शस्त्रबल-प्रयोगका उपाय ही नहीं है। जैसे हज़ारों अंग्रेज़ स्विटसरलैंडमें बस गये हैं, और स्विस सरकारके हाथों उन्हें

---

* पहले भागके सातवें अध्यायमें इस विषयको विस्तृत रूपसे वर्णन किया गया है।

अत्याचार सहने पड़े हैं। यदि दोनों राज्योंमें और भी अच्छा सम्बन्ध होता वा स्वित्सरलैंडमें ब्रिटिश प्रजाकी रक्षाका वास्तविक दरजा और भी ऊंचा होता, तो क्या स्वित्सरलैंड बराबर ब्रिटेनकी प्रबला शक्तिसे संत्रस्त रहता? स्वित्सरलैंड इस बातसे अभिज्ञ है कि ऐसा बलप्रयोग संभव नहीं है और न इसकी तनिक भी चिन्ता है, तब भी इस निर्भीकताका यह परिणाम नहीं हुआ कि ब्रिटिश प्रजाके साथ वह साधारणतः ऐसा व्यवहार करने लगे जो सभ्यजातियोंको उचित नहीं है।

वस्तुतः वह कौन सी बात है जिससे यह बिल्कुल निश्चय समझ लिया जाय कि एक राज्य दूसरेसे अच्छा ही बर्त्ताव करेगा? केवल आर्थिक रीतिसे नहीं, प्रत्युत सब तरहसे, इस बातकी पूरी ज़मानत वह विकट अन्योन्याश्रय है जिसका फल यह होता है कि यदि एक राज्य दूसरेपर अनुचित आक्रमण करे तो अन्तको आक्रमणकारी राज्यके ही स्वार्थपर उसका अनिष्ट परिणाम पड़ेगा। ब्रिटिश प्रजाको सम्पूर्ण सुरक्षित स्थान देनेमें स्वित्सरलैंडका हर तरहका लाभ है, वहां जो ब्रिटिश प्रजाकी रक्षा होती है उसका कारण यही है; ब्रिटिश साम्राज्यकी शक्ति उसका कारण नहीं है। और जहां कहीं ब्रिटिश प्रजाको अन्य राज्यमें रहकर अपनी ही सरकारकी रक्षापर अवलम्बन करना है, वहां उसकी रक्षा सचमुच नाममात्रको है, क्योंकि जिस शक्तिके सहारे रक्षा होती है उसका प्रयोग इतना क्लिष्ट, इतना व्ययसाध्य है कि जबतक और उपाय हो सकते हैं तबतक उसका प्रयोग नहीं किया जाता। जिस समय यूनानमें अंग्रेज़ यात्रीकी रक्षा ब्रिटिश सेनाके सहारे होती थी यद्यपि सैन्यबल बहुत बड़ा था तथापि उससे रक्षा अत्यन्त कम हो सकती थी। उसी तरह जब दक्षिणी और मध्य अमेरिकन राज्योंमें धनसम्बन्धी इकरारनामोंके मनवानेके लिए बलप्रयोग होता था, तो वह प्रयत्न बिल्कुल व्यर्थ हो जाता था और ऐसी बुरी तरह निष्फल होता था कि अन्तको ब्रिटेनने ऐसे सैन्यप्रबन्धसे एकदम हाथ उठा लिया। फिर और कौनसे उपाय सफल हुए? उपाय यही था कि वे देश भी हमारे युगके आर्थिक महानदोंके प्रवाहमें पड़ गये, जिसका फल यह है कि आज मेक्सिको और अर्जेंटिनामें जानमालकी जैसी रक्षा है वैसी उस कालमें नहीं थी जब कि उसके बन्दरोंपर ब्रिटिश युद्धपोत गोले बरसाया करते थे। शस्त्रबल-प्रयोगका

स्थान अब दिनपर दिन अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंमें शुद्ध आर्थिक प्रयोजन ले रहा है—और कई सम्भव हेतुओंमें एक आर्थिक हेतुका ही प्रयोग हो रहा है। अभी कलकी बात है कि बोस्निया और हर्ज़िगोविनाको चुपचाप आस्ट्रियाने हड़प लिया तो टर्कीने अपनी सेनाको धमकी नहीं दी किन्तु अब तुर्कोंने सफलतापूर्वक आस्ट्रियाके माल और जहाज़ोंका व्यापारिक बहिष्कार कर दिया तो आस्ट्रियाके वणिक्समुदाय और लोकमतने आस्ट्रियन सरकारके समीप यह तुरन्त स्पष्ट कर दिया कि इस प्रकारके दबावकी अवहेला नहीं की जा सकती।

मैं पहलेसे जानता हूँ कि यह बहस की जायगी कि जहांतक राष्ट्रोंके आर्थिक लाभका सम्बन्ध है बस वहांतक आर्थिक सम्बन्धोंके विकट बन्धनसे राष्ट्रोंमें परस्पर शस्त्रप्रयोग अनावश्यक हो जाता है, किन्तु राष्ट्रोंका जो मानसिक स्वत्व है उसपर आक्रमण होनेमें इन बन्धनोंसे रुकावट नहीं पड़ सकती। इस पुस्तकके प्रथम संस्करणपर* एक आलोचकने यों लिखा है—

मानवसमाजका एकमात्र पूरा शरीर राष्ट्र ही है और मानवजीवनकी असंख्य घटनाएं समाजके रूपमें राजनीति-बन्धनसे राष्ट्रमें बँधी हुई हैं। ऐसे समाजसे ही आईन, साहित्य, कला, विज्ञान आदि हुए हैं, अतः यह अभी सिद्ध नहीं हुआ है कि समाजके उस रूपके व्यतिरिक्त भी, जिसे राष्ट्र कहते हैं, कुटुम्ब वा शिक्षा वा चरित्रकी उन्नति संभव है। निदान, राष्ट्र भी एक प्राणी है जो हताहत हो सकता है और अन्य जीवोंकी भांति आघात वा नाशसे उसकी रक्षा होनी चाहिए।... सदसद्विचार-शक्ति और सदाचार व्यक्तिगत जीवनके नहीं किन्तु सामाजिक जीवनके फल हैं और यह कहना कि राज्यका एकमात्र उद्देश्य यह है कि मनुष्य प्रतिष्ठापूर्वक वित्तोपार्जन कर सके वैसा ही हुआ जैसे कोई कहे कि मानवजीवनका एकमात्र उद्देश्य जीवित रहनेके साधन हैं। मनुष्य भोजनाच्छादन बिना किसी तरहका जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। यह ठीक होते हुए भी औद्योगिक जीवन

---

* *Morning Post*, April 21, 1910. मैं इस बातको इस बहसमें बिल्कुल छोड़ देता हूं कि सैन्यपक्षमें इनको उद्धृत करना व्यर्थ है। क्या वस्तुतः मार्निङ्ग-पोस्ट यह समझाना चाहता है कि जर्म्मन लोग इसलिए इंगलैंडपर आक्रमण करना चाहते हैं कि वे अंग्रेज़ोंकी कलाएं, उनका गाना बजाना वा पकाना पसन्द नहीं करते? यह कल्पना कि इस तरहकी बातोंके लिए लड़ाऊ जहाज़ोंद्वारा रक्षा वाञ्छनीय है, सारे वादको एकदम भद्दा और असमंजस कर देता है।

अथवा विद्या वा कलारसिक जीवनकी उपयोगिताका ह्रास वा नाश नहीं हो सकता। इन सब जीवनोंकी स्थितिका नाम राष्ट्र है और उसका उद्देश्य इनका पालन करना है। यही कारण है कि राष्ट्रको अपनी रक्षामें वैरीका उत्तर देना चाहिए। आदर्श तो यह है कि अपनी समस्त प्रजाके सत्य, सौन्दर्य्य और धर्म्मके विचारका प्रतिनिधि वा विराटरूप राष्ट्र ही है। धर्म्म और अधिकारके विषयमें स्वजातीय विचारसे भिन्न किसी विचारको यदि कोई बलपूर्वक मनवाना चाहे, तो मनुष्यस्वभावका यह बड़ा उच्च गुण है कि प्रत्येक राष्ट्रमें ऐसे नागरिक भी हैं जो राष्ट्रीयताके लिए, ऐसी जबरदस्ती रोकनेको, हथेलीपर प्राण रक्खे फिरते हैं।"

Morning Post मार्निंगपोस्टमें उपर्य्युद्धृतको देखकर आश्चर्य्य होता है। अन्तिम वाक्योंसे भारतवर्ष, मिश्र वा अयर्लैंडमें जो ब्रिटिश शासनके विरुद्ध आन्दोलन हो रहा है वह न्यायसंगत सिद्ध हो जाता है। वह आन्दोलन है क्या? यही कि अपने विचार-से भिन्न विचारकी नीति वा धर्म्मका जब किसी बाहरी शक्तिने दबाव डाला तो उन देशोंकी प्रजाने रोकनेका प्रयत्न किया! सो तो ब्रिटिश साम्राज्यके सौभाग्यसे यह आवश्यक है ही नहीं कि शासित-के धर्म्माधर्म्म सत्यासत्यके भावसे, वा उस भावकी रक्षासे, शासन-पद्धतिका सम्बन्ध हो, क्योंकि "राष्ट्रकी" कल्पना शासन वा देशका प्रबन्ध मात्र है। उपर्य्युद्धृत अंश जिस हेत्वाभाससे परिपूर्ण है, जिसके कारण उसकी सारी दलील निकम्मी हो जाती है, वही है जो अध्यापक विल्किंसनके ग्रन्थ "Britain at Bay"के उद्धृतांशमें व्याप रहा है—अर्थात् राष्ट्रकी व्यक्तिसे तुलना, यह मान लेना कि राजनीतिक सीमा वही है जो आर्थिक और आचारनीतिक सीमा है। संक्षेपतः यह कि सत्य, सौन्दर्य्य और धर्म्मके विषयमें सारी प्रजाकी जो कल्पना है सबकी मूर्त्ति "राष्ट्र" है। "राष्ट्रसे" इन बातोंसे वस्तुतः कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ब्रिटिश साम्राज्यका ही उदाहरण लीजिए। यह "राष्ट्र" एक ही तरहके विचारकी मूर्त्ति नहीं है। सत्य, सौन्दर्य्य और धर्म्मके इसमें बहुधा पूरे विरोधी विचार हैं। इसमें सत्य और धर्म्मके विषयमें मुसलमान, बौद्ध, काम्ट, कथलिक, प्रोटेस्टंट और प्रतिमापूजकोंके भिन्न भिन्न विचार हैं। राष्ट्रके विषयमें यह सम्पूर्ण विचार जिस बातसे दूषित हो जाता है वह यह है कि जिन बातोंको मार्निंगपोस्टके समालोचकने गिनाया है उनकी सीमा और राष्ट्रकी सीमामें एकता नहीं होती। ऐसी कोई

आचारनीति कला वा व्यवसाय नहीं है जिसे हम कहें कि यह फ्रेंच वा जर्म्मन नहीं किन्तु ब्रिटिश है। जीवनके अंग्रेज़ी आदर्शकी चर्चा हो सकती है क्योंकि उसमें विशेषतः इंगलैंडका ढंग है और उससे राज्यके अन्तर्गत और भागोंके, अयलैंड, स्काटलैंड, भारतवर्ष, मिश्र, जमैका आदिके विचारसे विरोध होगा। और जो बात इंगलैंडके लिए है वही आजकलके सभी बड़े बड़े राज्योंके लिए है। प्रत्येक भागमें प्रजावर्गके ऐसे ऐसे विचार हैं जो परस्पर एकदम विरुद्ध हैं किन्तु उनमें बहुतेरे विचार दूसरे राज्योंके विचारसे पूर्णरीतिसे मिल जाते हैं। ब्रिटिश राज्यके ही अन्तर्गत अयलैंड है जहांके विचार कथलिक हैं और इटलीसे अधिक मिलते हैं किन्तु स्काटलैंडके प्रोटेस्टंट विचारसे अथवा बंगालके महम्मदी* विचारसे उसे पूरा विरोध है। जिन आदर्शोंको समालोचक गिनाता है उनके वास्तविक विभागोंसे राज्यकी सीमाएं आरपार हो जाती हैं तथा उनकी उपेक्षा होती है। तिसपर भी युद्धवादी लोग राज्यके इन्हीं सीमाविभागोंपर दृष्टि रखते हैं।

राष्ट्रोंमें परस्पर धर्म्मविषयक युद्ध जो हुआ करते थे उनके बन्द हो जानेका एक कारण यह भी है कि धर्म्मसम्बन्धी विचार राज्यकी सीमाओंके आरपार हो गये और युरोपके धर्म्मविषयक और राज्यविषयक विभाग एक नहीं रहे और ऐसी परिस्थिति हो गयी कि प्रोटेस्टंट स्वीडेन और कथलिक फ्रांसमें मित्रताकी सन्धि हो गयी। ऐसे ही कारणोंसे झगड़े व्यर्थ हो गये और धर्म्मसम्बन्धी युद्धोंकी पुरानी कहानियां बच रहीं।

जीवनके आदर्शोंमें परस्पर भेदके कारण जो युरोपके लोग अलग हैं, क्या उन भेदोंके सम्बन्धमें भी यही दशा नहीं हो रही है? क्या ब्रिटेनमें आज वैसे ही मतभेदका झगड़ा नहीं है जैसा फ्रांस जर्म्मनी और अमेरिकामें है? युरोपीय सामाजिक झगड़ोंको ही लीजिए। सब जगह यही हाल है कि एक ओर तो नियम, प्रभुत्व, बलहीनके सुखका विचार न करते हुए व्यक्तिस्वातंत्र्य आदिपर सारे स्वार्थ बँधे हुए हैं, दूसरी ओर मानवसमाजका पुनः संगठन ऐसी रीतिपर हो रहा है जिसकी परीक्षा अबतक नहीं हुई

* ग्रंथकारने यहां बंगालकी जगह मिस्र लिखा होता तो अधिक युक्त होता। (अनुवादक)

है। राज्यविभाग-सम्बन्धी किसी भी आदर्श वा विचारकी अपेक्षा ये प्रश्न अधिकांश मनुष्योंके लिए बड़े गंभीर, बड़े महत्वपूर्ण एवं मौलिक हैं—यदि सम्प्रति नहीं भी हैं तो बहुत शीघ्र ही हुए जाते हैं। जब इस बातको सोचते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्यके अन्तर्गत संसारकी प्रायः सभी जातियां और सभी धर्म्म हैं, तो कोई बताये कि वे कौन से आदर्श हैं कैसे विचार हैं जिनकी सीमा ब्रिटिश साम्राज्यकी राजनीतिक सीमासे संलग्न है? यह अवश्य कहा जा सकता है कि जर्म्मनी और रूसके समाजसंगठनका आदर्श अनियंत्रित राज्यात्मक है, और उससे भिन्न इंगलैंड और अमेरिकाका है जहांका आदर्श व्यक्तिगत स्वातंत्र्यपर निर्भर है। मिस्टर हइंडमन और मिस्टर ब्लचफ़ोर्ड दोनोंका मत यही जान पड़ता है। हइंडमन साहब कहते हैं कि "मेरी समझमें यह स्पष्ट है कि यदि हम समष्टिवादी कृतकार्य्य हों तो बाहरसे हमारे ऊपर सैनिक शक्तियां आक्रमण कर सकती हैं," किन्तु आप इस बातपर विचार करना भूल जाते हैं कि समष्टिवाद और युद्धविरोध स्वयं सैनिक राज्योंमें बड़ी उन्नतिपर है और उनकी व्यवस्था इंगलैंडकी अपेक्षा उन राज्योंमें कहीं अच्छी है। और सैनिक सरकारोंकी तो यह दशा है कि अपने ही राज्यमें उन प्रवृत्तियोंको रोकनेके लिए काम बढ़ा हुआ है और पर्य्याप्त नहीं होता फिर बाहर और और राज्योंमें वे क्या पागल हो गये हैं जो यही काम करने निकलेंगे?

यह विचार कि राष्ट्र एक ही तरहके मतोंकी राजनीतिक मूर्त्ति है प्रायः झूठी तुलनाके तोड़ मरोड़से ही नहीं उत्पन्न हुआ है, किन्तु उसका कारण ऐसे शब्दोंका व्यवहार भी है जो अब प्रयोगातीत हैं और वस्तुतः इन दोनोंके ही कारण यह सारा विषय दूषित हो गया है। प्राचीन कालमें राष्ट्र आजकी अपेक्षा बहुत कुछ व्यक्तिके तुल्य था और विशेषतः आधुनिक प्रवृत्तियोंने ही उसकी मतसम्बन्धी एकताको तोड़ डाला है, जिसके परिणाम जो अन्तर्राष्ट्रीय युयुत्सापर पड़े हैं बड़े ही महत्वके हैं। यह विषय यत्नपूर्वक परीक्षाके योग्य है। अध्यापक विलियम (McDougal) मकडूगल अपने मनोहर ग्रन्थ "An Introduction to Social Psychology"के युयुत्सावाले अध्यायमें कहते हैं—

जंगली लोग जो छोटी छोटी सुव्यवस्थित और दृढ़ जातियोंमें विभक्त होकर

रहते हैं, इसमें ही व्यक्तिगत युयुत्साके स्थानमें सामाजिक युयुत्साके स्थापित हो जानेका उदाहरण मिलता है। ऐसी जातियोंके भीतर व्यक्तिगत झगड़ों और व्यक्तिगत क्रोधको प्रायः पूर्णरूपसे दबा देना सम्भव है, किन्तु जिन जातियोंका परस्पर सम्बन्ध किसी आईनके शासनमें नहीं है उन्हें युयुत्सावाली प्रवृत्ति सदा लड़ाती रहती है। इन युद्धोंमें प्रायः न तो कोई आर्थिक लाभ होता है और न वह वांछित ही होता है।......सदैव वैरीके चढ़ आनेका डर लगा रहता है, बहुधा गावँके गावँ निर्जन कर दिये जाते हैं और इस तरह आबादी इतनी कम रक्खी जाती है कि जीविकाके उपायपर कोई दबाव पड़ना संभव नहीं है। यह झगड़ा वैसा ही हुआ जैसा कि एक कमरेमें लड़ाके बालक लड़ते हों और इसका कारण युद्ध-प्रवृत्तिकी अव्यवस्थित क्रिया है। किसी आर्थिक सुविधाकी कामना नहीं होती और युद्धकी जीतमें एकाध वैरीका सिर अथवा दो एक गुलाम मिल जाते हैं। और यदि कोई किसी समझदार सरदारसे पूछे कि ऐसी बुद्धिहीन लड़ाई क्यों जारी रखते हो तो सबसे उत्तम कारण वह यही बताता है कि यदि मैं ऐसा न करूं तो मेरे पड़ोसी मेरी और मेरे लोगोंकी प्रतिष्ठा न समझेंगे, वरन् चढ़ आवेंगे और हमें निर्म्मूल कर देंगे।"

अब यह प्रश्न होता है कि आजकलके अन्तर्राष्ट्रीय भेदोंसे जो विरोध उत्पन्न होता है उसमें और उपर्युक्त विरोधमें क्या भेद है? वह भेद कई स्पष्ट बातोंमें है। अंग्रेज़ोंके सम्बन्धमें केवल परदेसी होनेसे ही उसे मार डालनेकी प्रवृत्ति नहीं होती, इस प्रवृत्तिके लिए कोई स्वार्थका झगड़ा अवश्य होना चाहिए। स्कन्दनवीय, बेलजियन, डच, स्पेनी, आस्ट्रियन और इटालियनसे अंग्रेज़ पूर्णतया उदासीन हैं किन्तु इस समय फ्रेंचसे उनकी विशेष प्रीति दिखती है। जर्म्मन वैरी है। परन्तु दस बरस हुए कि फ़रासीसी ही वैरी था और मिस्टर चेम्बरलेन जर्म्मनोंसे मैत्री करनेकी चर्चा कर रहे थे और उन्हें अपने स्वाभाविक राष्ट्रीय मित्र कहते थे और सारी बौछार फ्रांसपर ही थी।* अतएव ऐसा नहीं हो सकता कि अंग्रेज़ोंके राष्ट्रीय चरित्रमें कोई आन्तरिक जातीय विरोध हो, क्योंकि दस ही बरसमें जर्म्मन वा फ्रेंच किसीने भी अपनी प्रकृति नहीं

---

* मैं यहां मि० चेम्बरलेनकी उस विख्यात वक्तृताकी ओर निर्देश करता हूं जो लंडनके दैनिकपत्रोंमें २८ नवम्बरसे ५ दिसम्बर सन् १८९९की तारीख़ोंमें छपी थी जिसमें उन्होंने फ़्रांसको धमकाया था कि अपनी चाल सुधारे नहीं तो उसका फल भुगतना पड़ेगा।

बदली। यदि आज फ्रांस अंग्रेज़ोंका मित्र-तुल्य और जर्म्मनी वैरी है तो कारण यह है कि अपने अपने स्वार्थमें वा कमसे कम जो कुछ स्वार्थ प्रतीत होता है उसमें गत दस सालमें परिवर्त्तन हो गया है और साथ ही साथ अंग्रेज़ोंके राजनीतिक पक्षपातका भी रंग बदल गया है। अर्थात् उनका राष्ट्रीय विरोध उनके वास्तविक वा आनुमानिक राजनीतिक स्वार्थकी आवश्यकताओंका अनुसरण करता है। इस बातपर विशेष व्याख्याकी तो आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि बारी बारीसे अपने रागद्वेषको अंग्रेज़ोंने समस्त युरोपमें घुमाया है और क्रमशः स्पेनीय, डच, अमेरिकन, डेन, रूस, जर्म्मन, फ़रासीसी और फिर जर्म्मनसे द्वेषका प्रकाश किया है। व्यक्तिगत सम्बन्धोंमें यह विकार नित्यके व्यवहारमें देखा जाता है। किसीने अपने प्रतिद्वन्द्वीके विषयमें ठीक ही कहा कि "जबतक वह मेरे संमुख नहीं आया था तबतक मुझे क्या पता था कि उसमें ऐसे ऐसे अवगुण भरे हैं?"

अध्यापक मकडूगलके जंगलीमें और अंग्रेज़में यह भी भेद है कि जब वह भिड़ जाते हैं तो सारी जातिको झगड़ेमें नहीं घर घसीटते। बैबिलवालोंकी नाईं स्त्री, पुरुष, बालक, पशु सबको निर्मूल नहीं कर डालते। बाबा आदमका इतना असर अवश्य है कि स्त्री और बच्चोंसे घृणा करते हैं, यहांतक कि हमारे अंग्रेज़ी राजकवि उन्हें "हत्यारे वैरियोंकी मदिया और पिल्ले"तक कह डालते हैं किन्तु फिर भी हम अंग्रेज़ उन्हें मार नहीं डालते।*

---

* यह भी बात नहीं है कि इन रीतियोंके छोड़े अंग्रेज़ोंको बहुत काल हो गया हो। सरकारमें माल्टबीने जो रिपोर्ट भेजी थी उसको फ्रूड साहब यों उद्धृत करते हैं—"मैंने उनके सारे अन्न और घर जला दिये और जिस किसीको पाया क़तल कर डाला। इसी तरह मैंने एक राजगढ़ीपर चढ़ाई की। जब गढ़की सेनाने आत्मसमर्पण किया तो मैंने उन्हें अपने सिपाहियोंकी मरज़ीपर छोड़ दिया। वे सब मार डाले गये। फिर मैं आगे बढ़ता गया, मेरे सामने जो आया मैंने एकको भी न छोड़ा। इस क्रूरतासे उनके साथी ऐसे घबराये कि उन्हें यह नहीं सूझती थी कि किधर भागें।" अयर्लैंडके मंस्टरमें अंग्रेज़ी सेनानायकके विषयमें यों लिखा है—"उसने अपनी सेनाको पूर्व क्लनविलियमकी ओर संचालित किया और देहातमें हड़बड़ी डाल दी। जिस प्राणीको पाया मार डाला...मनुष्य, पशु, अनाज आदि कुछ न छोड़ा...चाहे जिस गुण, जिस अवस्थाके हों, स्त्री वा पुरुष सब कट गये। बहुतसे जला दिये गये, उनके अतिरिक्त पुरुष, स्त्री, बालक, घोड़े, पशु आदि जो मिला हमने सबको मार डाला।"

किन्तु अभी एक तीसरी बात भी विचारणीय है ? अध्यापक मकडूगलका राष्ट्र एक ही वंश-समुदायका था एवं सम्पूर्ण एकरंग था। यदि कोई नदीपार भी रहता था तो उसे पराया समझते और उसे मार डालनेकी प्रवृत्ति हुआ करती थी। उस अवस्थासे उन्नति करते करते अब जिन दो कारणोंका वर्णन हो चुका है उनके अतिरिक्त यह भी शामिल हो गया है कि अब ऐसे बहुतसे लोगोंको भी स्वदेशी कहते हैं जिन्हें अगले विचारके अनुसार हम विदेशी कहते। आर्थिक और अन्य उन्नतिकी प्रक्रियासे वे ही विदेशी—जिनसे होमर लीके अनुसार "युद्ध-प्रवर्त्तक स्वाभाविक विरोध होना चाहिए—राष्ट्रका एक अंग बन रहे हैं, जिससे स्वार्थका झगड़ा एकदम नहीं है। आजकल जो फ्रांसका राज्य है उसमें ऐतिहासिक कालमें ही अस्सी स्वतंत्र राज्य थे जो सदा लड़ा करते थे, क्योंकि उस समय एक एक नगरी एक एक राज्यकी राजधानी थी। इतिहाससे सिद्ध है कि बहुत दिन नहीं हुए बीसों जातियां इंगलैंडमें एक दूसरेका गला काटनेमें समय बिताती थीं। आज वे ही हमारे सहनागरिक हैं, जिनसे हमसे किसी तरहका स्वार्थ-विरोध नहीं है। अब तो हम इस बातको स्वीकार करते हैं कि वेल्स और अंग्रेज़ वा ऐरिश और स्काचमें जैसा गभीर जातिभेद है, ऐसे जातिभेदसे यही नहीं कि कोई स्वार्थविरोध न होना चाहिए, प्रत्युत कोई विलग राजनीतिक स्थिति भी नहीं होनी चाहिए।

हालमें ही राष्ट्रीयताके क्रमशः पुनरुज्जीवनकी चर्चा होने लगी है और साधारणतः यह कहा जाता है कि राष्ट्रीयताका सिद्धान्त राज्योंकी परस्पर सहकारिताके आड़े आवेगा। किन्तु प्रकृत घटनाओंके सामने ऐसा अनुमान एक क्षण ठहर नहीं सकता। राज्यकी बनावटमें राष्ट्रीय विभागकी तनिक भी उपेक्षा नहीं की गयी है। यदि झगड़े बिलकुल राष्ट्रीय विभागके अनुसार होते तो वेल्सको नारमंडी और इंगलैंडके विरुद्ध तथा ब्रिट्टनी और अयर्लैंडकी सहकारितामें चलना चाहिए, एवं प्रावेंस और सवायको सारडीनियाका साथ देना चाहिए और मैं नहीं जानता कि फ्रांसके किस प्रदेशका विरोध करना चाहिए क्योंकि युरोपीय सीमाओंके अन्तिम पुनर्विभागमें जातियां और प्रदेश ऐसी विकट रीतिसे मिलजुल गये हैं और स्वाभाविक तथा आंतरिक विभागोंकी ऐसी उपेक्षा की

गयी है कि अब उन्हें सुलझाकर अलग अलग करना संभव नहीं है।

आरंभमें एक एक वंश वा एक एक कुटुम्बसे ही एकरंग राष्ट्र बने और आर्थिक तथा सामाजिक अभ्युदयकी क्रियामें धीरे धीरे ये विभाग इस तरह टूट गये कि अन्तको ब्रिटिश राष्ट्रकी नाईं एक ही राज्यमें मातृदेशमें ही पांच छ जातियां नहीं, वरन् संसारके भिन्न भिन्न भूभागोंमें भी, गोरे, काले, पीले, भूरे, तामड़े, हज़ारों तरहकी भिन्न भिन्न जातियां फैली हुई हो सकती हैं। निस्संदेह प्राकृतिक इतिहासकी यह एक सर्वव्यापिनी प्रवृत्ति है जो कि किसी विकट आर्थिक जीवनके प्रारंभ होते ही प्रबलतापूर्वक काम करने लगती है। फिर हमारा निश्चयपूर्वक यह कह देना कहांतक युक्त है कि जिस सहकारिताकी प्रवृत्तिने गभीर जातीय भेदोंको और सामाजिक तथा राजनीतिक विभागोंको अपनी धाराप्रवाहमें बहा दिया, जो प्रक्रिया कि मनुष्यके सहजीवन और सहव्यवसायके उदयकालसे ही बराबर चली आयी है, वही आजकलके उस राष्ट्रविभागवाली भीतके सामने रुक जायगी जिसकी नींव मानवजातिके गभीर भेदोंपर नहीं प्रत्युत शासनकी सुविधामात्रपर स्थित है और जो ऐसे विचारकी मूर्त्ति है जो दिनपर दिन एकदम बदलता जाता है?

पाठकगण स्मरण रक्खें कि इस भागके दूसरे अध्यायमें, ऐसी उन्नतिकी प्रक्रियाओंका लक्षण बताया गया है। मैंने वहां यह स्पष्ट कर दिया है कि शारीरिक बलसे आर्थिक प्रवृत्तिकी ओर प्रवाहके साथ ही साथ युयुत्सामें भी उतनी ही कमी आती जाती है यहांतक कि युयुत्साका ठीक उलटा मानसिक विकार आर्थिक हेतुसे भी अधिक बलवान हो जाता है। आर्थिक प्रश्नको यदि बीचमें न लावें तब भी, अब यह संभव नहीं है कि ब्रिटिश सरकार बैबिलवाली घटनाओंकी नाईं सारी आबादीको, स्त्री और बालकोंको, निर्म्मूल करनेकी आज्ञा दे दे। उसी तरह आजकलके परस्पर व्यवहारके बढ़े हुए उपायोंसे जो अधिकाधिक आर्थिक अन्योन्याश्रय बढ़ता जाता है, इससे आचारनीतिक अन्योन्याश्रय भी बढ़ता जायगा और जिस प्रवृत्तिने ऐसे गभीर राष्ट्रीय विभागोंको तोड़ डाला है—जैसा केल्ट और सक्सनोंमें था—वह मानसिक पक्षमें

भी उन विभागोंको अवश्य तोड़ डालेगी जो स्पष्टतः अधिक काल्पनिक और कृत्तिम हैं।

जिस प्रवृत्तिके बलवान प्रवाहका अभी स्थूल रूपसे वर्णन हुआ है उसमें कई कारण सम्मिलित हैं जिनमें दो एक ऐसे हैं जो उस मानसिक विरोधके विध्वंसपर प्रत्यक्ष प्रभाव रखते हैं जो राष्ट्र-विभागमात्रमें मूर्त्तिमान है। आजकलके राज्यमें जनसमुदायकी बेमेल खिचड़ीसे जो परस्पर समष्टिदायित्वका भाव उत्पन्न हो गया है उसका धीरे धीरे घटता जाना ऐसा ही एक कारण है। इस समष्टिदायित्वसे मेरा अभिप्राय क्या है? उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा। चीनी बाक्सरोंके लिए कोई भी युरोपीय हो "विलायती पिशाच" ही है, उनके लिए जर्म्मन, अंग्रेज़, रूस, किसीमें भेद नहीं है। अफ़्रिकाके हबशीके लिए गोरे गोरे सब बराबर हैं। इंगलैंडका हलवाहा भी "विदेशी" वा "विलायती" कहकर विदेशवालोंकी चर्चा करता है। यदि कोई फ़रासीसी किसी बाक्सरको हानि पहुँचावे तो वह बाक्सर जर्म्मनको ही पाकर मार डालता है और बदला चुकाकर मनमें सन्तुष्ट हो जाता है। जब कोई अफ़्रिकाकी जाति बेल्जिक वणिकके हाथ लुट जाती है तो दूसरा गोरा चाहे फ़रासीसी वा अंग्रेज़ ही हो उस देशमें आते ही अपने जीवनसे हाथ धोता है और उस जातिवाले समझते हैं कि हमने वैर चुका लिया। किन्तु यदि चीनीको हमारी तरह विविध युरोपीय राष्ट्रोंकी स्पष्ट पहचान होती तो फ़रासीसीके बदले जर्म्मनकी हत्या करके उन्हें कभी मानसिक सन्तोष न होता। अतः चीनीके मनमें दो युरोपियनोंके बीच और हबशीके मनमें दो गोरोंके बीच अवश्य कोई समष्टि-दायित्वका भाव है, नहीं तो उन्हें मानसिक सन्तोष न मिलता। यदि वह समष्टि-दायित्व न हो तो एक गोरेके बदले दूसरे गोरेके साथ वैर भावका तो कोई कारण ही नहीं हो सकता।

जिन जिन राज्योंसे हमसे विरोध है उनमें हम समष्टि-दायित्वका आरोप करते हैं, बस इतनेपर ही हमारे अन्तर्राष्ट्रीय विरोधोंका अवलम्ब है, यद्यपि वस्तुतः ऐसे समष्टि-दायित्वका सर्वथा अभाव है। इस समय आजकल इंगलैंडमें जर्म्मनके विरुद्ध वैमनस्य फैला हुआ है। और बात सच्ची यह है कि जर्म्मन कोरी कल्पनामें ही

स्थित है। प्रकृतिमें उसका अभाव है। हम जर्म्मनसे इसलिए रुष्ट हैं कि वह जानबूझकर हमारे विरुद्ध लड़ाऊ जहाज बना रहा है। किन्तु बहुतेरे जर्म्मन सैन्यवृद्धिसे उतनाही विरोध करते हैं जितना हम, और हमारे हलवाहेकी यह इच्छा कि जर्म्मनोंपर चढ़ाई होनी चाहिए उतनी ही वा उससे भी अधिक गड़बड़ीसे उत्पन्न हुई है, जो विविध युरोपीय जातियोंमें भेद न समझनेवाले बाक्सरोंके मनमें होती है। जिन लेखोंसे वैमनस्य इतना बढ़ गया है, उस लेखमालाको मिस्टर ब्लचफ़ोर्डने इस वाक्यसे प्रारम्भ किया है—

"जर्म्मनी जानबूझकर ब्रिटिश साम्राज्यको विनष्ट करनेकी तय्यारियां कर रहा है।"

और आगे अपने लेखोंमें यह भी लिखा है—

"ब्रिटेनमें एकता नहीं है, जर्म्मनी एक है। हम लार्डलोगोंके प्रतिषेधाधिकार, स्वराज्य आदि घरेलू राजनीतिके बीसों प्रश्नोंपर झगड़े किया करते हैं। हमारे यहां लघु-नौ-पक्ष और सैन्य-विरोधी-पक्ष हैं। किन्तु जलसेना-विवृद्धिके प्रश्नपर जर्म्मनीमें मतभेद नहीं है।"

इससे अधिक भयानक असत्यको इतने थोड़े से वाक्योंमें ठूस देना सहज नहीं है। यदि "जर्म्मनी" शब्दसे अधिकांश जर्म्मन राष्ट्रसे अभिप्राय है तो मिस्टर ब्लचफ़ोर्डने जानबूझकर असत्य लिखा है। अधिकांश जर्म्मन राष्ट्रको यह दोष देना कि वे जानबूझकर ब्रिटिश साम्राज्यको विनष्ट करनेकी तय्यारी कर रहे हैं, सर्वथा असत्य है। अधिकांश जर्म्मन राष्ट्रका यदि कोई पक्ष प्रतिनिधि कहला सकता है तो वह (Social Democrats) समष्टि-पंचायतियोंका पक्ष है, और इस पक्षने आदिसे ही दृढ़तापूर्वक ऐसे विचारसे विरोध प्रकट किया है। बात यह है कि युद्धपक्षमें लोकमतको उत्तेजित करनेके लिए प्रकृत घटनाओंपर इस तरह झूठा रंग चढ़ाना पड़ा। यदि बातें सच सच कही जावें तो उत्तेजना संभव ही नहीं है।

मिस्टर ब्लचफ़ोर्डके इस अनुमानपर एक विशिष्ट प्रमाणिक जर्म्मन लेखक क्या कहता है? *Die Friedenswarte* नामक पत्रके सम्पादक मिस्टर फ्रीड (Mr. Fried) यों लिखते हैं—

"न तो कोई एक जर्म्मन राष्ट्र है और न एक जर्म्मनी ही है।......जर्म्मन जर्म्मनमें इतना भेदभाव है जितना जर्म्मन और भारतीयमें न होगा। जर्म्मनीके

भीतरकी ही प्रजामें परस्पर ऐसे दूरगामी भेद हैं जो जर्म्मन और किसी भी अन्य देशवासीमें न होंगे। जर्म्मनों और अंग्रेज़ोंमें, वा जर्म्मनों और फ़रासीसियोंमें परस्पर मैत्रीका प्रयत्न सफल हो सकता है, एक राष्ट्रसे दूसरे राष्ट्रके सम्मिलनकी व्यवस्था हो सकती है, किन्तु जर्म्मन समष्टि-पंचायतियों और प्रशन किसानोंमें, तथा जर्म्मन *(Anti-Semites)* शैमारियों और जर्म्मन यहूदियोंमें मेल करानेका प्रयत्न असंभव होगा। *

प्रकृत घटनाओंसे पूरी अभिज्ञता हुई नहीं कि बहुतेरा अंतर्राष्ट्रीय विरोध मिटा, और इन प्रकृत बातोंके जाननेमें, भूगोलविद्या प्राप्त करनेमें जो कुछ कठिनाई होगी, उतनी भी नहीं है। और यह अभिज्ञता भी भूगोल विद्याके सिवाय कुछ नहीं है जिसकी अनभिज्ञतासे एक गँवार अंग्रेज़ इटालियनद्वारा ठगे जानेपर फ़रासीसीको पीटकर बदला चुकाना चाहता है।

यह कहा जा सकता है कि अगले समयमें कभी प्रजा और उसकी सरकारकी कारवाईमें ऐसी एकता नहीं हुई थी जिससे एक देशका दूसरे देशसे वैर करना न्यायसंगत होता, किन्तु अब वह वैर उत्पन्न हुआ है। यह सच है, परन्तु हालमें ही कुछ ऐसे ऐसे कारण बीचमें आ पड़े कि प्रश्नका रूप बदल गया। एक तो यह है कि संसारके इतिहासमें कभी राष्ट्रोंमें ऐसा विकट सम्बन्ध नहीं था जैसा अब है। और दूसरा यह है कि पहले कभी ऐसा नहीं हुआ था कि मानवजातिके बड़े बड़े स्वार्थ इतनी पूर्णतासे राष्ट्रकी सीमाओंका उल्लंघन करके आरपार रहें। तीसरा कारण यह है कि पहले कभी ऐसा संभव नहीं था जैसा परस्पर व्यवहारकी सुविधासे, रेल तारादिसे, संभव है कि कल्पित-राष्ट्रकी घनिष्ट एकताके विरुद्ध जातियोंकी और विचारोंकी घनिष्ट एकताको खड़ी कर दें।

इन राष्ट्रसीमाके पारगामी स्वार्थों और भिन्न भिन्न जातियोंके

---

* "The Evolution of Modern Germany" (Fisher Unwin, London) नामक ग्रंथमें यही लेखक कहता है कि "जर्म्मनी शब्दसे एक राष्ट्रसे नहीं, बल्कि बहुतसे राष्ट्रोंसे अभिप्राय है......जिनका भिन्न अनुशीलन, भिन्न राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएं,.........भिन्न मानसिक और आर्थिक जीवन है।.........साधारण अंग्रेज जो जर्म्मनीकी चर्चा करता है, उसका वास्तविक अभिप्राय प्रशासे हुआ करता है, और जानबूझकर अथवा बेजाने ही वह इस बातको भूल जाता है कि यों ही किसी बातमें कभी हो सके तो हो सके नहीं तो प्रशा समस्त साम्राज्यका नमूना कभी नहीं समझा जा सकता।"

समान विचार एवं आदर्शोंको एकमें ही व्यक्त करनेकी जैसी व्यवस्था आज है संसारके अभ्युदयके इतिहासमें किसी युगमें ऐसी व्यवस्था नहीं रही है। लोग साधारणतः यह नहीं जानते कि हमारी कौन कौन सी क्रियाएं अन्तर्राष्ट्रीय हो गयी हैं। दो बड़ी शक्तियां अन्तर्राष्ट्रीय हो गयी हैं, एक ओर तो पूंजी और दूसरी ओर व्यवसाय और समष्टिवाद।

श्रमजीवियों और समष्टिवादियोंके आन्दोलन सदैव अन्तर्राष्ट्रीय रहे हैं तथा प्रतिवर्ष अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय होते जाते हैं। किसी देशमें ऐसी ही कोई बड़ी हड़ताल होगी जिसमें दूसरे देशोंकी श्रमव्यवस्थासे हड़तालियोंको सहायता न मिले और इस तरह विविध देशोंकी श्रमसंस्थाओंने बहुत बड़े बड़े चन्दे दिये हैं।

पूंजीके विषयमें तो यहांतक कहा जा सकता है कि उसका सहज ही ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हो गया है कि किसी नियमित संगठनकी आवश्यकता नहीं है। जब इंगलैंडका बंक संकटमें पड़ता है तो फ्रांसका बंक तीव्र राजनीतिक द्वेषके समय भी बिना मांगे ही सहायता करता है। सौभाग्यसे पिछले दस बरसोंसे एक ओर तो बंकवालोंसे और दूसरी ओर मज़दूरों और कारीगरोंके नेताओंसे इन विषयोंपर चर्चा करनेका अवसर मिला है और मैं सदैव इस बातसे चकित रहा कि दोनोंकी प्रवृत्ति ठीक ठीक एक ही तरहके अन्तर्राष्ट्रीयत्वकी ओर पायी गयी है। अन्तर्राष्ट्रीयत्व धनसम्बन्धमें जितनी पूर्णताको पहुँचा हुआ है उतनी पूर्णता मनुष्यके और किसी क्रियाविभागमें नहीं पायी जाती। पूंजीवाला किसी देशविशेषका नहीं होता और यदि वह नयी रोशनीका हुआ तो अवश्य जानता है कि देशोंकी सीमाओंके नामपर युद्ध, विजय और बाज़ीगरी जो की जाती है उससे मेरा लाभ नहीं किन्तु हानिका होना संभव है। किन्तु पूंजीवालोंके सिवा मज़दूर लगानेवाले भी धीरे धीरे एक सुदृढ़ और चीमड़ी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बना रहे हैं। १८ एप्रिल १९१०के Times टैम्स नामक पत्रमें जो बर्लिनका पत्र-व्यवहार प्रकाशित हुआ है उसमें ढाई लाखके लगभग राजगीरोंकी हड़तालकी चर्चा है। इस बड़ी हड़तालके सम्बन्धमें North German Gazette नामक जर्म्मनपत्रके एक लेखको उद्धृत करते हुए पत्रप्रेरक यों लिखता है—

और बड़ा हानिकारक मृगजल है? इसकी थोड़ी सी परीक्षा कर लीजिए।

जो आदमी अपनी मिलकियतकी डींग मारता है वह प्रशंसा वा संगतिके योग्य कम समझा जाता है। पर उसकी मिलकियत उसीके कामकी होती है और उससे उसको वास्तविक और मानसिक दोनों तरहका भोग्य सुख मिलता है। उसका इष्ट यही है कि धनके कारण उसका कुछ आदर हो और इस आदरका कोई बड़ा हेतु भी नहीं सिवाय इसके कि बाहरका दिखावा हो जिससे अभिमानियोंको सुख और सन्तोष होता है। अमीराल महान कितना ही कहें हम यह पूछते हैं कि क्या एक बड़े भारी राज्यकी किसी व्यक्तिके विषयमें किसी छोटे राज्यकी उसी दरजेकी व्यक्तिके मुकाबलेमें उपर्य्युक्त बात सच्ची उतरती है? क्षेत्र-फलपरिमाणसे सबसे बड़े साम्राज्यका होनेसे क्या कोई रूसी कंजड़का आदर करता है? क्या कोई (Ibsen) इबसेन वा (Bjornsen) ब्योर्नसेन सरीखे योग्य महापुरुषों वा किसी स्कन्दनवीय बेल्जियन वा डच शिक्षित पुरुषसे इसलिए घृणा करता है कि वे युरोपके सबसे छोटे राज्योंकी प्रजा हैं? यह सर्वथा अयुक्त है और ध्यानपूर्वक विचार न करनेसे ही ऐसी कल्पना होती है। जिस तरह हम इस बातको भूल जाया करते हैं कि राष्ट्रके राज्यविस्तार-से उस राष्ट्रकी किसी व्यक्तिपर वास्तविक प्रभाव नहीं पड़ता, यह कि यदि डचोंका देश जर्म्मनीमें मिल जाय तो भी छोटे राज्यसे बड़े राज्यका नागरिक होकर डचको कोई आर्थिक लाभ नहीं हो सकता, उसी तरह उसकी मानसिक स्थिति भी ज्योंकी त्यों रह जाती है। और यह कल्पना कि जब जब रूस एशियाके किसी नये प्रदेशको ले लेता वा फ़िनलैंड जैसे प्रदेशोंको रूसी बना देता है तब तब रूसी व्यक्तिके "बड़प्पन और प्रतिष्ठामें वृद्धि" होती जाती है, अथवा यह कि नारवेका निवासी अपने देशके रूसद्वारा जीते जाने एवं रूसी हो जानेपर अपनेको अधिक प्रतिष्ठित समझने लगेगा, ये भावात्मक लम्बी लम्बी धोखा देनेवाली गप हैं इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यह बात और भी पुष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि रूसके सबसे उत्तम लोग बड़ी अभिलाषासे उस दिन-की बाट जोह रहे हैं जिस दिन विस्तारके बदले यह बड़ा भारी-साम्राज्यरूपी दैत्य अन्तर्द्धान हो जायगा—"यह दैत्य जिसमें

दैत्योंकी ही मूढ़ता और उनकी ही भयंकरता है"—और उसकी जगह अनेक स्वतःपूर्ण और आत्मपरिचित जातियां बन जायँगी "जिनमें लोग एकही ढंगसे एक ही पुलीसवालेकी अधीनताके बदले, आपसमें सामाजिक-शरीर और सामाजिक-प्राण-विषयक सहानुभूतिके सूत्रमें बँधे होंगे।"

नित्यके सामाजिक व्यवहारकी साधारण घटनाओंद्वारा व्यक्त व्यक्तिगत सम्बन्धमें जब राष्ट्रकी चिरप्रतिष्ठित गौरववाली मायाकी परीक्षा की जाती है तो उसकी सारी चर्चा ढोंगमात्र जान पड़ती है। सामाजिक व्यवहारमें कौन किस राष्ट्रका है इसका विचार सबके पीछे होता है, यहांतक कि जिस मंडलीमें अंध-देशानुरागी होते हैं उसमें भी राष्ट्रका विचार नहीं किया जाता। ब्रिटिश साम्राज्यके होनेमें जो बड़प्पन है, उसके विषयमें हमारे राज्यवंशियोंका विचार इससे स्पष्ट है कि वह युरोपके तुच्छसे तुच्छ राज्यसे विवाहसम्बन्ध कर लेंगे किन्तु ब्रिटिश साधारण पुरुषसे विवाह होनेको अश्रुतपूर्व बेमेल सम्बन्ध कहेंगे। इस तरहका सामाजिक विचार युरोपमें ऐसा व्याप रहा है कि आज युरोपका एक भी शासक उस जातिका नहीं है जिसका वह राजा है। समस्त सामाजिक सम्बन्धोंमें इसी तरहके नियमका पालन होता है। हमारी "चुनीसे चुनी रईस-मंडली में" इटालियन, रूमानियन, पुर्त्तगाली वा तुर्क रईसका भी सहर्ष स्वागत होता है किन्तु अंग्रेज़ सौदागरको ऐसी मंडलीमें जगह नहीं मिलती।

जिन विद्वानोंने आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंकी खोज वैज्ञानिक रीतिसे की है, प्रायः सभी इस प्रवृत्तिसे चकित हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आईनके प्रसिद्ध प्रमाण मिस्टर (T. Baty) टी. बेटी यों लिखते हैं—

सारे संसारमें समाजका संगठन तहबतह हो रहा है। अंग्रेज़ सौदागर अपने कारबारसे वारसा (रूस), हम्बर्ग (जर्म्मनी) वा (इटलीके) लेगहार्नको जाता है। उसे इटली, जर्म्मनी और रूसके सौदागरोंके विचार, जीवनविधि राग और द्वेषके भाव अपने ही यहांके से दिखते हैं। छापा, रेल, तार, अग्निबोट आदिसे देशविशेषका गौरव अत्यन्त कम हो गया और अबके युगके बच्चे अपने पड़ोसके वायुमंडलमें नहीं रहते किन्तु अपने साथियोंके मानसिक वायुमंडलमें जीवन बिताते हैं। चाहे Revue des Deux Mondes पढ़ता हो चाहे Tit-Bits, आजकलका नागरिक सर्वत्रवासी और स्वजात्यनुरागी हो रहा है। कुछ बरस और यही दशा

रही तो देखनेमें आएगा कि सर्वत्रवासियोंका समान स्वार्थ राज्योंकी प्रजाके आभासमात्र समान स्वार्थकी अपेक्षा कहीं अधिक बलिष्ठ कारण है। अर्जेंटैनका सौदागर और ब्रिटिश माल लगानेवाला दोनों समानभावसे (Trades Union) व्यापारगोष्ठीमात्रको अपना भावी शत्रु समझते हैं चाहे वह ब्रिटिश हो चाहे अर्जें-टैन। हम्बर्गके नौकागारवाले और उसके लंडनके सजातीय अपनी बिरादरीके प्राथमिक अधिकारोंके सामने राष्ट्रीय स्वार्थका आदर नहीं करते। अन्तर्राष्ट्रीय जातिभाव अब वास्तविक घटना है, छाया-मात्र नहीं है, क्योंकि जो पहले छाया-मात्र दिखती थी अब बटुरकर घन हो गयी है। अभी उस दिनकी बात है कि सर विलियम रंसिमन (Sir W. Runciman) जो निश्चय कन्सर्वेटिव (अनुदार) दलके नहीं है एक सभामें सभापति हुए थे जिसमें (International Shipping Union) अन्तर्राष्ट्रीय-नौ-समवेतकी नींव डाली गयी। इस समवेतका उद्देश्य यह है कि किसी भी देशके हों, संसारके सभी नौकास्वामी एक ही संस्थामें सम्मिलित हो जायँ। जिस समय यह बात समझ ली जायगी कि आजकलकी मानव-जातिका वास्तविक स्वार्थ राष्ट्रीय नहीं किन्तु सामाजिक है, उस समय परि-णाम आश्चर्यजनक होगा।"*

मिस्टर बेटी इस प्रवृत्तिको "तह-परतह हो जाना" कहकर यह ठीक ही कहते हैं कि इसका विस्तार सब वर्गोंके मनुष्योंमें हो रहा है।

प्रत्येक लम्बी छुट्टीको अपना लेनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय महासभाओंके—केवल समष्टिवादकी ही नहीं, वरन् शान्ति, विश्वभाषा, नार्यधिकार, कला, विज्ञान आदि किसी महासभाके—महत्वसे अजान बन जाना असंभव है। जगन्मैत्री-भावके सामने संकुचित करनेवाली राष्ट्रीयताकी शक्ति टूटती जा रही है। अपनी शक्तियोंको अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतमें प्रवाहित करनेमें समष्टिवादियोंको तनिक भी कठिनता न पड़ेगी।†......भविष्यत्में ऐसी दशा आनेवाली है जिसमें

---

* "International Law." John Murray, London.

† Royal Society of Arts राजकीय कलासमाजमें [November 15, 1911,] अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारवृद्धिकी चर्चा करते हुए अपने व्याख्यानमें Lord Sanderson लार्ड संडरसेनने कहा—"मेरी समझमें हालके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार-का देखनेयोग्य रूप हर तरहके विषयोंपर हर तरहकी प्रदर्शनियां, सभाएँ और महासभाएं आदि हैं। कोई पचास बरससे अधिक हुए होंगे कि जब मैंने पहले पहल परराष्ट्र विभागमें प्रवेश किया उस समय कई राज्योंसे सम्बन्ध रखनेवाले किसी आवश्यक भूविभाग वा राजनीतिविषयक प्रश्नका निबटारा करनेको कभी कभी नियमित कूटनीतिक सम्मिलन जो हो जाते थे, प्रायः वही महासभाएं थीं।

जाति बन्धनकी शक्तिके सामने राष्ट्रीयताकी शक्ति बिलकुल धीमी पड़ जायगी; जिसमें जातियोंका संगठन अन्तर्राष्ट्रीय होनेसे उनकी शक्ति प्रभावशालिनी होगी। इस भावीको सोचकर कुछ विचित्र विचार उत्पन्न होते हैं।"

उपर्य्युद्धृत अंशमें अभी पिंडरूपमें ही ऐसी प्रवृत्तियोंका एक समुदाय दिखाई पड़ता है जो और बातोंमें तो एक दूसरेसे विरुद्ध हैं किन्तु एक बातमें सबकी सब एकरस हैं। वह यह कि समाजका संगठन अब देशीय वा राष्ट्रीय विभागोंके अनुसार नहीं हो रहा है। जब ऐसी ऐसी उदार प्रवृत्तियां शक्तिमती होती हैं तो यह कहा जा सकता है कि इसी उद्देश्यके अनुकूल सभी ग्रह नक्षत्र और योग हैं।

समयके साथ साथ केवल राजनीतिक महासभाओंकी संख्या और उनके अधिवेशन ही नहीं बढ़े, प्रत्युत सरकारी और गैरसरकारी सब तरहके मनुष्योंकी सभाएं उत्पन्न हो गयीं जिन सबके नाम बिना विवेचनाके कानफ़रेंस और कांग्रेस पड़ गये।"

तीसरा भाग

व्यवहारिक परिणाम

पहला अध्याय

बचावका चढ़ाईसे सम्बन्ध

चढ़ाईका कोई हेतु होनेसे ही बचावकी आवश्यकता होती है—असारवाक्य जिनकी असारतापर लोग कम ध्यान देते हैं—आक्रमणके हेतुको क्षीण करना बचावका उपाय करना है।

इस पुस्तककी साधारण प्रतिज्ञा—कि संसार अब उस दरजे-की वृद्धिसे आगे निकल गया है जिसमें एक सभ्य समुदायका दूसरे सभ्य समुदायपर सैनिक प्रभुत्व करके अपनी भलाई करना संभव था—या तो विस्ताररूपसे सच ही होगी, या विस्ताररूपसे असत्य ही होगी। यदि असत्य है तो उसका कोई प्रभाव हमारे समयके वास्तविक प्रश्नोंपर नहीं पड़ सकता और न उसका कोई व्यवहारिक परिणाम निकल सकता है, एवं युद्धद्वारा संयमित अपार सैन्यबलका बना रहना ही न्यायसंगत और स्वाभाविक दशा होगी।

किन्तु इस पुस्तककी सामान्यसे सामान्य परीक्षा जिसका इसे सामना करना पड़ा है, यह है कि यद्यपि इसकी मुख्य प्रतिज्ञा तत्वतः ठीक है तथापि उससे कोई व्यवहारिक लाभ नहीं है, क्योंकि—

(१) सैन्यबल रक्षाके लिए होता है, चढ़ाईके लिए नहीं।

(२) ये सिद्धान्त कितने ही सच हों, संसार इन्हें न तो मानता है और न मानेगा, क्योंकि मनुष्य अपने आचरणमें विवेकसे काम नहीं लेते।

पहली बात लीजिए। संभव है कि जिन सत्योंको हम असार

समझकर छोड़ दिया करते हैं उन्हें यदि हम वस्तुतः समझ जाय तो हमारे बहुतेरे प्रश्न हल हो जायँ।

यह कहना कि "हमें बचावके उपाय करने चाहिए" यही कहनेके बराबर है कि "कोई हमपर चढ़ाई अवश्य करेगा" और यह इस कथनके बराबर है कि "किसीको हमारे ऊपर चढ़ाई करनेमें कुछ मतलब है।" या यों कहिये कि वह मूल बात जिससे सैन्यबलकी आवश्यकता पैदा होती है और जो युरोपकी सैनिकताकी अन्तिम व्याख्या है वही है कि "चढ़ाईकी ओर प्रवृत्ति करानेका कोई हेतु है और उसकी शक्ति काम करती है।" (इस "चढ़ाई" के अर्थमें मैं केवल वास्तविक आक्रमणको ही नहीं वरन प्रबलाशक्तिके प्रयोगकी वास्तविक वा व्यक्त "धमकीको"—चढ़ाई करनेकी धमकीको—भी अन्तर्गत समझता हूँ।)

वह हेतु या तो वास्तविक होगा या मानसिक, वास्तविक स्वार्थके झगड़ेसे उत्पन्न हुआ होगा अथवा शुद्ध काल्पनिक होगा। किन्तु जब होनहार आक्रमणका लोप हो जाय तो बचावकी आवश्यकताका भी लोप हो ही जाता है।

पाठकोंकी दृष्टिमें युद्धपक्षकी सारहीन बातें लक्ष्यसे दूर हैं, वा नहीं?

मैं कुछ थोड़ीसी परीक्षाओंका नमूना देता हूँ जो इस पुस्तकपर लिखी गयी थीं। Daily Mail डेलीमेलमें यों है—

बड़े बड़े राष्ट्र ससैन्य हैं इसलिए नहीं कि वे लूटसे लाभ उठाना चाहते हैं प्रत्युत प्रायः इसीलिए कि लूटकी भयानकताको रोक सकें; सेना रक्षाके लिए है।" *

और टैम्स यों कहता है—

निस्संदेह विजयीकी हानि होती है किन्तु किसकी हानि सबसे ज्यादा होती है, उसकी वा पराजित की? †

Daily Mail डेलीमेलने बृहन्नौसेना-आन्दोलनमें जो बड़ा ऊधम मचाया था उसे तीन महीने भी नहीं हुए थे जब उसने इस

---

* January 8, 1910.

† March 10, 1910.

पुस्तककी परीक्षा की। इस परीक्षाकी जड़ यह धारणा है कि जर्म्मनी "युद्ध करके लूटना चाहता है" और अंग्रेज़ी जलसेनाकी वृद्धि इसी हेतुका प्रत्यक्ष परिणाम है। ऐसा न होता तो अंग्रेज़ोंके पक्षमें वृद्धिका प्रश्न ही न उठता। * वृद्धिपक्षमें जो हायतोबा मची हुई थी उसका एकमात्र दोषनिवारक यही डर था कि हमारे ऊपर आक्रमण होगा। युरोपका प्रत्येक राष्ट्र इसी भांति अपने सैन्यबल-वृद्धिको इसी हेतु न्याय्य बताता है तथा हरेक राष्ट्र यों ही इस आक्रमणहेतु-की विश्वव्यापक स्थितिपर विश्वास करता है।

जर्म्मनीके आक्रमणके डरपर टैम्सने मेलकी अपेक्षा कम ज़ोर नहीं दिया किन्तु उसकी आलोचनासे यह ध्वनित होता है कि ऐसी चढ़ाईका उद्देश्य कोई राजनीतिक लाभ वा सुविधा नहीं है। प्रकाशमें जर्म्मनी केवल यही नहीं समझता कि चढ़ाईका कुछ फल ही नहीं किन्तु उलटे उसे अत्यन्त व्ययसाध्य और कष्टदायक मानता है, तथापि उसने चढ़ाईके लिए निश्चय कर लिया है इसलिए कि हमको कष्ट होगा सही, पर और किसीको हमसे भी अधिक कष्ट होगा। †

चढ़ाई और बचावके परस्पर सम्बन्धकी जड़में जो निःसारता है उसे समझनेमें डेलीमेल और टैम्सके साथ ही अमीराल महान भी अशक्य हैं।

इसी पुस्तककी परीक्षामें, इस बातके प्रमाणमें कि प्रबल

---

* मार्निङ्गपोस्ट (March 1, 1912) कहता है, "जर्म्मन सरकार अपनी प्रजाके उत्सुक समर्थनसे इस देशसे युद्ध करनेकी अपनी सारी शक्तियोंको निचोड़कर एकत्र कर रही है। जब अवसर मिलेगा ससैन्य राज्यकी असंतुष्ट इच्छा उसके प्रायः सभी संतुष्ट पड़ोसी राज्यों-पर बिना विवेक ही आक्रमण करावेगी और क्रूरतासे सत्यानाश कराएगी।" (Dr Dillon, *Contemporary Review*, October, 1911)

† मैंने एक पिछले अध्यायमें (भाग २, अध्याय ६) दिखला दिया है कि ये अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष झगड़के कारण नहीं हैं किन्तु झगड़ोंके वा माने हुए कूटनीतिक भेदोंके फल हैं। यदि राष्ट्रीय मानसका—राष्ट्रीय स्वभावकी अयुक्तताका—भेद ही इसका कारण होता है तो इसका क्या मतलब होगा कि दस ही बरस हुए फ़रासीसियोंको हम शैतानकी नाईं समझकर उनसे द्वेष करते थे और जर्म्मनोंसे सामकी चर्चा हो रही थी। यदि कूटनीतिक चालसे फ़रासीसियोंके विरुद्ध जर्म्मनोंसे मेल हो जाता तो यह बात कभी खटकती भी न, कि हमें जर्म्मनोंसे द्वेष करना था।

सैन्यशक्तिधारीको ही व्यापारिक सुविधाएं मिलती हैं, नेपोलियनके समयमें वे ब्रिटेनकी दशाका उदाहरण इस अंशमें देते हैं—

उस समय समुद्रपर ब्रिटेनका सैनिक अधिकार होनेसे उसका व्यापार और उद्योग वैरीकी छेड़छाड़से बचा था और इसी अधिकारसे वह व्यापारमें अग्रणी था।

अतएव सैन्यबल वाणिज्यके लिए उपयोगी है; यह अनुमान यों निष्पन्न हुआ कि दो वादियोंके मामलेमें एक वादीकी ओर ध्यान ही नहीं दिया गया।

इंगलैंडके बड़प्पनका कारण सैन्यबलप्रयोग नहीं था किन्तु उसका कारण यह था कि अपने विरुद्ध सैन्यबलप्रयोगके रोकनेमें उसे पूरी क्षमता थी और इस बातकी आवश्यकता यों पड़ी कि नेपोलियनकी प्रवृत्ति उसपर चढ़ाई करनेकी थी। वास्तविक वा मानसिक जा या बेजा, जैसी कुछ प्रवृत्ति इस चढ़ाईकी रही हो। यदि यह प्रवृत्ति न होती तो ब्रिटेन विना ही किसी बलप्रयोगके अधिक सुरक्षित और समृद्ध होता और अपनी आयकी तिहाई युद्धमें व्यय न करता और न उसके किसान भूखों मरते।

जैसे टैम्सने लिखा है वैसी ही कुछ आलोचना स्पेक्टेटरने भी की है।

मिस्टर एंजेलका विशेष वाद यह है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता और स्वरक्षासे सामान्यतः जो सुविधाएं समझी जाती हैं, लोगोंकी कल्पनामात्र हैं।......जर्म्मन शासनमें अंग्रेज़ बड़े आनन्दसे रहेंगे एवं अंग्रेज़ी शासनमें जर्म्मन बड़े सुखी रहेंगे। वर्त्तमान युरोपीयन व्यवस्थाको चिरस्थायी रखनेके लिए किसी उपायकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि भाववादी ही उसके स्थायित्वसे लाभ समझता है।...अपने व्यक्तिगत जीवनमें मिस्टर एंजेल शायद इस सिद्धान्तके अनुकूल कम चलते होंगे और चोरकी इस धर्म्मकथाका कम प्रचार करते होंगे—कि बुद्धिमानके समीप 'मेरा' और 'तेरा' एक ही बात है। जो मिस्टर एंजेल अपने अनुयायी बनाना चाहें तो उन्हें चाहिए कि अपने सिद्धान्तको नित्यकी बातोंमें लगावें और साधारण मनुष्यको यह विश्वास करा दें कि देशानुरागकी भांति विवाह और व्यक्तिगत स्वत्व भ्रममात्र है। यदि भावको राजनीतिसे निकाल दें तो आचारनीतिमें उसका रखना युक्तियुक्त न होगा।"

इस किंचित असामान्य आलोचनापर जो उत्तर दिया गया है

उस उत्तरसे, और जिस बातको स्पष्ट करना है उससे प्रत्यक्ष घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः मैं यदि स्पेक्टेटरमें दिये हुए अपने उत्तरका अंश उद्धृत करूँ तो पाठकगण मुझे क्षमा करेंगे।

पूर्वोक्त अंशमें आलोच्य ग्रन्थके विषय और रूपका कहांतक ठीक वर्णन है इस बातकी अटकल निम्न लिखित यथार्थ बातोंसे की जा सकती है। देशभक्तिके भावपर मेरी पुस्तकमें आक्रमण नहीं है (यदि द्वन्द्वयुद्धवालोंकी गौरव-कल्पनापर तीव्र आलोचना ऐसा आक्रमण न समझा जावे)। हां, देशभक्तिकी चर्चा इसलिए नहीं है कि यह ग्रन्थ उस विषयपर लिखा नहीं गया। मेरी ऐसी राय कभी नहीं है और आपका आलोचक ऐसी एक पंक्ति भी नहीं दिखला सकता जिससे यह परिणाम निकले—कि अंग्रेज़लोग यदि जर्म्मनोंके शासनमें आ जायँ तो भी पूर्ववत् सुखी रहेंगे। मेरा यह भी सिद्धान्त नहीं है कि वर्त्तमान युरोपीय व्यवस्थाके स्थायित्वके लिए उपाय करना मूर्खता है। "राष्ट्रोंमें स्वरक्षाकी मूर्खताका उद्घाटन" मैंने कभी नहीं किया। इस समय सैन्यबलपर धनव्यय करनेके विरुद्ध मैं कदापि नहीं हूं। प्रत्युत विशेष दृढ़तापूर्वक मेरी यही धारणा है कि जबतक वर्त्तमान तत्वदर्शनकी स्थिति नहीं बदलती तबतक शक्तियोंके संमुख अपनी सापेक्ष स्थिति बनाये रहना अनिवार्य्य है। मैं मानता हूं कि सम्प्रति जर्म्मन आक्रमणका भय है और जबतक है तबतक सन्नद्ध रहना आवश्यक है। मैं कभी चोरोंके इस धर्म्मका उपदेश नहीं करता कि 'मेरा' 'तेरा' एक ही बात है, प्रत्युत मेरी पुस्तककी सारी प्रवृत्ति इसके बिलकुल विरुद्ध ही है, और वह यह है कि तस्कर धर्म्म—जो वस्तुतः आजकलका शासन धर्म्म ही हो रहा है—अब राष्ट्रोंमें नहीं चल सकता और समाजकी विकटतावृद्धिके साथ ही साथ मेरे तेरेका भेद इतना स्पष्ट होना चाहिए जितना इतिहासमें आजतक नहीं हुआ है। मेरा यह आग्रह कभी नहीं है कि भाव —यदि भावसे उसी समान्य आचारनीतिसे अभिप्राय है जो विवाह और व्यक्तिगत स्वत्वविषयमें हमारा पथप्रदर्शक है—वह भाव राजनीतिसे निकाल बाहर कर दिया जाय। मेरी समस्त पुस्तकका उद्देश्य यही है कि ऐसे मतका सम्पूर्ण दृढ़तासे प्रतिवाद करे, और यह प्रतिपादन करे कि जो आचारनीति हमारी आवश्यकताओंसे व्यक्तियोंके समाजमें उन्नति पा गयी है उसे राष्ट्रोंके समाजमें भी लगाना चाहिए क्योंकि हमारे अभ्युदयसे अब यह समाज अधिक स्वतंत्र हो रहा है।

आपके समालोचकके पृष्ठभरके लेखसे थोड़ा सा अंश लिया है, किन्तु यह कहना मेरी समझमें अत्युक्ति न होगा कि जिस अंशको मैंने उद्धृत किया है वैसा ही असत्य और मेरे कथनका तोड़मरोड़ लगभग सभी है। जिस बातको स्पष्ट करनेका प्रयत्न मैं करता हूं वह यह है कि बचावके उपायोंकी आवश्यकतासे— जिसे मैं सम्पूर्ण रूपसे मानता और जिसके पक्षमें मैं दृढ़तापूर्वक राय देता हूं—

यही मतलब निकलता है कि किसीको चढ़ आनेकी प्रवृत्ति है और उस प्रवृत्तिकी उत्पत्ति इस वर्त्तमान जगद्व्यापी विश्वाससे है कि सफल विजयसे सामाजिक और आर्थिक सुविधाएं प्राप्त होंगी।

शासनपद्धतिके इस स्वतःसिद्ध सर्वमान्य सिद्धान्तका मैंने प्रतिवाद किया और यह सिद्ध करना चाहा है कि गत तीस चालीस बरसके यंत्राभ्युदयसे, विशेषतः परस्पर व्यवहारके उपायोंकी वृद्धिसे कई आर्थिक विकार उत्पन्न हो गये—जिनकी सबसे बड़ी पहचान प्रायः परस्पर प्रभाव डालनेवाले सर्राफ़ें और संसारके भिन्न भिन्न आर्थिक केन्द्रोंका अन्योन्याश्रय है—जिनसे आधुनिक धन और व्यापार इस अर्थमें अस्पृश्य हो गया कि सैनिक चढ़ाई करनेवालेके हाथ न लग सकता है, न उसे कुछ लाभ हो सकता है; जिसका यह फल होता है कि चढ़ाईके दिन गये, यद्यपि बचाव करनेके दिन अभी बाकी हैं। और जब चढ़ाई बन्द हो जायगी स्वरक्षोपायकी कोई आवश्यकता न रह जायगी। इसलिए मैंने यह दिखाया कि शायद इस सैन्य-संकटसे बचावका मार्ग इन्हीं यथार्थ बातोंमें निकलेगा जिन्हें कम लोग जानते हैं और यह कि यदि यह दिखा दिया जावे कि चढ़ाईकी मानी हुई प्रवृत्तिका अभाव है तो युरोपीय राज्योंकी परस्पर खींचातानी बहुत कम हो जायगी और चढ़ाईकी प्रवृत्तिके ढीले हो जानेसे उसका डर अत्यन्त कम हो जायगा। मेरा प्रश्न था कि इन आर्थिक यथार्थोंसे—जिन्हें युरोपका साधारण राजनीतिज्ञ नहीं समझता किन्तु कुछ थोड़ेसे महाजन अवश्य समझते हैं—शासनके अनेक सिद्धान्त खंडित हो गये या नहीं; और मेरी राय यह थी कि इन यथार्थोंकी दृष्टिसे ऐसी शासनपद्धतिपर फिर विचार करना चाहिए।

आपके समालोचक महाशय इस तरह उठाये हुए प्रश्नको छोड़कर उलटे मुझपर दोषारोपण करते हैं कि मैंने देशानुरागभावका खंडन किया और यह कि मेरी रायमें अंग्रेज़ जर्म्मन शासनाधीन होकर भी उतने ही सुखी रहेंगे, तथा यह कि इसी तरहके अनाप-शनाप मैंने अनेक कहे यद्यपि इस दोषारोपके लिए कोई भी बुनियाद, कोई भी हेतु नहीं है। इसीको गभीर आलोचना कहते हैं? क्या ऐसी आलोचना स्पेक्टेटरको शोभा देती है?

पूर्वोद्धृत पत्रपर स्पेक्टेटरका समालोचक इस तरह उत्तर देता है—

यदि मिस्टर एंजेलकी पुस्तकसे मुझे वैसे ही भाव समझमें आये होते जैसे उनके पत्रसे समझमें आये तो मैंने उनकी पुस्तककी समालोचना कुछ और ही भावसे की होती। मैं इतना ही कह सकता हूं कि जो भाव वस्तुतः मुझे पुस्तकसे व्यक्त हुए उन्हींके अनुसार मैंने लिखा। उनके 'यथार्थ-विवरण'के उत्तरमें मैं

यह शुद्धियां करना चाहता हूं,—(१) यह कहनेके बदले कि मिस्टर ऐंजेलके कथनानुसार जर्म्मनीके अधीन रहकर अंग्रेज़ 'उतने ही आनन्दित' होंगे मुझे यह कहना चाहिए था कि 'उतने ही आरामसे रहेंगे'। किन्तु उनके इस मतसे कि राजनीतिकका सर्व्वोच्च उद्देश्य आरामसे जीवन काटना है, दोनों वाक्य पर्य्यायवाची से जान पड़ते हैं। (२) वर्त्तमान "युरोपीय व्यवस्था" राजनीतिक शक्तिकी मानी हुई आर्थिक उपयोगितापर निर्भर है। मेरे निकट ऐसी व्यवस्थाके स्थायित्वके लिए उपाय करना जो भ्रममूलक है "बुद्धियुक्त कभी नहीं" है। (३) मैंने यह कभी नहीं कहा कि "वर्त्तमान नीतिदर्शनकी जैसी स्थिति है वैसी ही रहे तो ऐंजेल सेनापर धनव्यय करनेमें आपत्ति लावेंगे। (४) देशानुराग जैसा साधारणतः समझा जाता है उसकी आर्थिक मूर्खतापर जो ज़ोर दिया गया है उससे अवश्य मेरे निकट यही ध्वनित होता है कि भावको राजनीतिके हातेसे बाहर कर देना चाहिए। परन्तु मैं इस बातको मानता हूं कि यह अनुमानमात्र है, यद्यपि मैं इसे अबतक 'बेठीक अनुमान' नहीं समझता। (५) "चौरशास्त्र" शब्दके प्रयोगके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं। इस शब्दमें अलंकारके जो दोष हो सकते हैं अवश्य हैं, अर्थात् सटीक नहीं बैठता किन्तु भावपूर्ण है"।

जिस भ्रमने पहली समालोचना लिखवायी उसीकी झलक इस प्रत्युत्तरमें भी दिखायी पड़ती है। मैंने जो बहस की थी कि जर्म्मनी हमारी हानि बहुत कुछ नहीं कर सकता क्योंकि हमको जो हानि वह पहुँचावेगा उसका अनिष्ट फल उसके ही सुखसमृद्धिपर सद्य ही पड़ेगा, उसपर मेरे समालोचकने यह धारणा कर ली कि इसका अर्थ यही हुआ कि अंग्रेज़ जर्म्मनीके अधीन भी उतने ही सुखी वा समृद्ध रहेंगे। वह इस बातको बिलकुल भूल जाता है कि जब जर्म्मनोंको निश्चय हो जायगा कि हमको जीत लेनेमें उन्हें कुछ भी लाभ नहीं है तो वे चढ़ाई ही न करेंगे, और जर्म्मनाधीन रहकर कम वा अधिक सुखी और धनी रहनेका कोई प्रश्न ही न उठेगा। बात यह नहीं है कि अंग्रेज़ कहेंगे कि जर्म्मन "आकर करेंगे क्या?" किन्तु यह है कि जर्म्मन कहेंगे कि "हम जाकर करेंगे क्या?" समालोचककी दूसरी बात लीजिए। मैंने साफ़ समझा दिया है कि हमारा व्यवहार इस बातके अनुसार नहीं होगा कि हमारे प्रतिस्पर्द्धीका स्वार्थ वस्तुतः किसमें है किन्तु इसके अनुसार होगा कि वह अपना वास्तविक स्वार्थ किस बातमें समझता है। आर्थिक दृष्टिसे सैन्यबल अवश्य ही व्यर्थ है किन्तु जबतक सैन्यबलकी

मानी हुई आर्थिक उपयोगितापर जर्म्मन कूटनीति निर्भर है तबतक उस बलका प्रत्युत्तर हमें उसी तरहके बलद्वारा देना पड़ेगा।

कुछ बरस हुए अमेरिकाकी किसी खानिवाली बस्तीके बंकको डाकू घेर लिया करते थे क्योंकि यह प्रसिद्ध था कि मज़दूरोंकी भुगतानके लिए खानिकम्पनी, जो बस्तीकी मालिक थी, बहुत सा रुपया बंकमें रखती है। इसपर कम्पनीने सानफ्रांसिस्को बंकके नाम चेक लिख लिखकर मज़दूरोंका भुगतान करना शुरू कर दिया। उस बस्तीमें भुगतानकी इस सीधी रीतिसे सिक्के और सोनेका प्रचार बहुत कम हो गया।

इस क्रियासे यह प्रत्यक्ष हो गया कि बंकमें सोनेकी जगह काग़ज़ रह गये। डाका बन्द हो गया। इस तरह उतनी ही रक्षा हो गयी जितनी लाखों रुपये लगाकर गढ़ और गढ़ी उठवाकर और बस्तीके चारों ओर तोप लगवाकर शायद हो सकती। दोनों रीतियोंमें चेक लिखकर भुगतान करनेकी रीतिसे सस्तेमें ही रक्षा हो गयी और अधिक सफलतापूर्वक हुई।

अगर स्पेक्टेटरके अनुमान सच्चे भी होते—क्योंकि अधिकांश वे झूठे हैं—तो भी लेखक एक बड़ी आवश्यक बातको भूल जाता है। यदि सचमुच इस पुस्तकमें देशानुरागकी मूढ़ता दिखायी गयी है, तो वादग्रस्त विषयसे उसका सम्बन्ध ही क्या है, क्योंकि मेरा मत यह भी है कि जातियोंको अपनी मूढ़ताकी रक्षाके लिए भी लड़ना युक्तियुक्त है। मेरी समझमें खीष्टीय वैज्ञानिक जो बैबिलकी सत्यता विज्ञानसे प्रतिपादित करना चाहते हैं वा ओझाई करनेवाले बड़े मूर्ख हों और थोड़ा बहुत हानिकारक भी हों किन्तु यदि पार्लिमेंट उनको बलपूर्वक रोकनेको आईन बनाने चले तो मैं यथाशक्ति अवश्य रोकूँगा और ऐसा आईन न बनने दूँगा। यह दोनों बातें किस तरहपर परस्पर असंगत समझी जाती हैं? मेरी धारणा है कि संसारभरके शिक्षित लोगोंका ऐसा ही व्यवहार है। यद्यपि यह न तो कोई महत्वकी बात है न उपस्थित विषयसे इसका सम्बन्ध है तथापि मेरी समझमें आईन, समाज और राजनीति-सम्बन्धी अंग्रेज़ोंके नित्यके विचार जर्म्मनोंके विचारकी अपेक्षा कहीं अच्छे हैं और यदि मैं ऐसा समझता कि इन विचारोंकी रक्षाके लिए सदैव सैन्यबलकी आवश्यकता होगी तो मैं यह पुस्तक कभी न लिखता। मेरा तो यह मत है कि इस आवश्यकताकी कल्पना बिलकुल

भ्रममूलक है। केवल इसलिए ही भ्रममूलक नहीं है कि वर्त्तमान दशामें अथवा अपनी राजनीतिकी वर्त्तमान अवस्थामें जर्म्मनीको ऐसी इच्छा तनिक भी नहीं है कि आईन, साहित्य, कला, समाज-संगठन-विषयक हमारे विचारोंको बदलनेके लिए हमसे लोहा ले, किन्तु इसलिए भी कि यदि जर्म्मनीकी ऐसी इच्छा होती भी तो भ्रममूलक ही होती जिसका उच्छेदन किसी न किसी दिन अवश्य ही होता, क्योंकि इन विषयोंमें साधारण युरोपीय प्रवृत्तिके वेगको जर्म्मन कूटनीति अनन्त कालतक रोकनेमें उसी तरह असमर्थ है जिस तरह राजबलपूर्वक धर्म्मप्रचारवाली कूटनीतिको दमन-करनेवाले युरोपीय आन्दोलनसे बाहर रहनेमें कोई भी बड़ा उद्योग-शील युरोपीय राज्य समर्थ नहीं हुआ। और ऐसे युरोपीय मतकी सुदृढ़ स्थापनामें सहायता करना मेरे निकट स्वरक्षाका एक आवश्यक अंश है, और उतना ही आवश्यक अंश है जितना कि लड़ाऊ जहाज़ बनानेमें जबतक जर्म्मनी हट न जाय तबतक स्वयं बनाते जाना।

अभी जिस भ्रमका वर्णन हुआ है वह अधिकांश इसी अस्पष्ट भयसे उत्पन्न होता है कि 'ऐसे ही विचारोंसे जिनका प्रतिपादन इस ग्रंथमें हुआ है हमारी स्वरक्षाशक्ति घट जायगी और हम पहलेकी अपेक्षा अपने वैरीसे अधिक हीन हो जायँगे'। किन्तु इसके साथ साथ यह बात भूल जाती है कि जिन विचारोंकी उन्नतिसे हमारी स्वरक्षाशक्ति घट जाती है उनसे ही हमारे शत्रुओंकी आक्रमणशक्ति भी तो घट जायगी और दोनों पक्षोंका सापेक्ष बल उतना ही रह जायगा जितना पहले था। भेद केवल इतना ही रहता है कि हम इस क्रियासे युद्धके बदले शान्तिकी ओर कदम बढ़ाते हैं, और सैन्यबलकी अनवरुद्ध वृद्धिमात्रसे अन्तमें युद्ध अवश्यम्भावी हो जाता है।

किन्तु स्वरक्षा और चढ़ाईके परस्पर सम्बन्धको समझनेमें जो कठिनाई होती है उसका एक रूप और भी है जिसपर विचार करनेसे यह प्रश्न कि इन सिद्धान्तोंका प्रभाव व्यवहारनीतिपर क्या पड़ता है जल्दी समझमें आ जाता है।

दूसरा अध्याय

सैन्यबल आवश्यक है किन्तु अकेले सैन्य-बलसे ही काम न चलेगा

सत्यके अनुकूल नहीं, किन्तु सत्यविषयक जैसा मनुष्यका विश्वास हो उसके अनुकूल आचरण होता है—दो कारणोंवाले प्रश्नको एक कारणकी अवज्ञा करके तय करना—इस रीतिका घातक परिणाम—जर्म्मन जलसेना 'शौक' मात्र है—यदि दोनों पक्ष सैन्यबलवृद्धि-पर ही तुल जायँ तो ?

किसी विचारकने कहा है कि "हमको मतलब प्रकृत घटनाओं एवं स्थितियोंसे नहीं है; किन्तु उनके विषयमें लोकमत जैसा हो उससे है।" इसका तात्पर्य्य यह है कि मनुष्य जिस अनुमानको ठीक समझता है उसके ही अनुसार आचरण करता है चाहे वह अनु-मान ठीक हो वा न हो।

युरोपके मनुष्य जादूगरनियोंको जो जला देते थे सो उनके विश्वासके अनुकूल था, उनका विश्वास सत्य होता तब भी यही आचरण होता। तात्पर्य्य, जबतक उन्होंने सत्यको, प्रकृतको, नहीं पहचाना तबतक उनके आचरणपर सत्यका प्रभाव भी नहीं पड़ा। राजनीतिका भी यही हाल है। जबतक युरोपपर पुराने विश्वासका अटल राज्य है तबतक उस असत्य विश्वासका राजनीतिपर ऐसा ही प्रभाव पड़ता रहेगा कि मानों वह वस्तुतः ठीक ही है।

जैसे मत बदल जानेसे जादूगरनियोंका जलाया जाना बन्द हो गया, आचरण बदल गया—जिसका मूल कारण यह था कि प्रकृति-की वैज्ञानिक छानबीन अधिक योग्यतासे की गयी—वैसे ही विचारके पलट जानेपर युरोपके राजनीतिक व्यवहारमें परिवर्त्तन होगा। परन्तु यह विचार-परिवर्त्तन तबतक नहीं होगा जबतक मानवी शक्तियां युद्धसामग्रीको ही पूरी करनेमें लगी हुई हैं। प्रकृतिके वास्तविक अभिप्रायपर ध्यान देनेसे ही अच्छे विचार उत्पन्न हो सकते हैं, इतनी ही बात नहीं है। बात यह भी है कि युद्धकी तय्यारीसे—जिससे अपने प्रतिपक्षीके मनमें सन्देह एवं मलिनता

उत्पन्न होना अनिवार्य्य है—लोकमत और समझके सुधारमें मानसिक और भौतिक बाधा पड़ जाती है। जेनरल फ़न बर्णहार्डीका ही उदाहरण लीजिए। आपने अभी एक पुस्तक प्रकाशित की है जिसमें युद्धको राष्ट्रोंको पुनरुज्जीवित करनेवाला कहकर उसका पक्ष लेते हुए जर्म्मनीको यों उसकाया है कि अमुक अमुक वैरी युद्धके लिए तय्यार न होने पावें तभी उनपर धावा कर देना चाहिए। मान लो कि इसके उत्तरमें हम अपनी सेना बढ़ा देते हैं। यह बर्णहार्डीके अनुकूल ही होता है, क्योंकि सोचना चाहिए कि ब्रिटिश सेनाकी इस वृद्धिका प्रभाव उन जर्म्मनोंके मनपर कैसा पड़ेगा जो शायद बर्णहार्डीके मतके विरोधी हैं। हमारे आचरणसे उन्हें चुप रह जाना पड़ेगा और बर्णहार्डीकी पुष्टि होगी। उनकी कूटनीति जो वस्तुतः असत्य थी पहलेकी अपेक्षा अब ठीक जँचने लगेगी क्योंकि उनकी दलीलोंका उत्तर शक्तिवृद्धिद्वारा दिया गया। उसके होनहार विरोधियोंके चुप्पी साध लेनेसे दूसरे देशोंके लोग जो जर्म्मनीके इस लोकमतसे भीत हो रहे हैं अपनी सेना बढ़ानेको उत्तेजित हो जायँगे। इन वृद्धियोंका फल यह होगा कि बर्णहार्डीका दल और भी पुष्ट हो जायगा और उसके प्रतिपक्षी और भी चुप हो जायँगे। दुर्भाग्यवश समझदारीको शक्ति जिस तरह ध्वस्त कर रही है वह प्रक्रिया वर्द्धमान एवं उन्नतिशील है। यह अनिष्ट चक्रव्यूह तभी टूटेगा जब किसी ओरसे इसमें बुद्धिका प्रवेश होगा।

मेरे समालोचकोंका भी ठीक यही आग्रह है कि इन्हीं उपर्य्युक्त कारणोंसे हमें केवल शक्तिसामग्री जुटानेमें ही तन मन धनसे लग जाना चाहिए।

साधारण बाज़ारू आदमी इस सारे वादानुवादमें निश्चल रीतिसे कुछ इसी तरहका भाव रखता है कि "व्यवहारियोंकी भांति हमारा कर्त्तव्य यही है कि हम अपने वैरीसे अधिक बलवान रहें, शेष और बातें तो कोरे सिद्धान्त हैं, उनसे कुछ नहीं होता।"

अब ऐसे भावका अनिवार्य्य परिणाम विपत्ति ही है। यह भाव सुलझानेके बदले और भी उलझनमें डालता है।

इस पुस्तककी पहली आवृत्तिमें मैंने यों लिखा था—

जब हमारी हारसे वैरीका भला नहीं हो सकता और न अन्तको उससे हमारी हानि ही है तो क्या हम लड़ाईकी तैयारी करना तुरन्त बन्द कर दें? यहां जिन

बातोंपर विस्तृत विचार किया गया है उनपर ध्यान दें तो ऐसा कोई परिणाम नहीं निकलता। यह स्पष्ट है कि जो भ्रम हमारा विषय है वह जबतक युरोपमें व्याप रहा है, जबतक राष्ट्रोंको विश्वास है कि दूसरोंकी सैनिक और राजनीतिक अधीनतासे किसी न किसी तरह विजेताको प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ होगा, तबतक वास्तवमें हम सबको आक्रमणका डर अवश्य ही लगा हुआ है। हमारे होनहार वैरीके व्यवहारका वास्तविक प्रवर्त्तक उसका प्रकृत स्वार्थ न होगा, प्रत्युत जिसमें वह अपना स्वार्थ समझता है वही प्रवर्त्तक होगा। और जिस भ्रमको हम दरसा रहे हैं वह जबतक युरोपीय राजनीतिके सबसे अधिक कार्य्य करनेवालोंके मनपर प्रभुत्व जमाए हुए है, तबतक हमें यह समझना चाहिए कि मिस्टर हरिसेनद्वारा पूर्व-दृष्ट आक्रमण भी व्यवहारिक राजनीतिमें संभव होंगे। (असंभव तो केवल उस दरजेकी बरबादी है जो उनकी रायमें ऐसी चढ़ाईसे हो सकती है, किन्तु जिसका निराकरण गत पृष्ठोंमें पूर्णतया हो चुका है)।

मेरी समझमें इसी दलीलपर हमारा और अन्य राष्ट्रोंका ऐसी चढ़ाईसे रक्षा-का उपाय करना युक्तिसंगत होता है। अतएव यह दलील इस बातकी नहीं है कि और राष्ट्रोंके व्यवहारकी परवाह न कर अपनी सेना हम तोड़ दें। जबतक कि युरोपकी प्रचलित राजनीति नहीं बदलेगी, तबतक मेरी रायमें युद्धके बजटमें एक रुपया भी घटाना न चाहिए।

इस अंशसे एक शब्द भी बदलनेके लिए मुझे कोई कारण नहीं दिखता। किन्तु इस विषयमें अगर युद्धकी सामग्री ही जुटानेमें हम अपनी सारी शक्ति लगा देंगे—यदि राष्ट्रीय उद्योग अन्य सभी कारणोंकी उपेक्षा करेगा—तो सच्चे देशभक्तोंको अपने देशी सैन्यबल-को बराबर बढ़ाते जानेकी नीतियुक्ततामें अधिकाधिक सन्देह होता जायगा। इसमें दो बातोंका डर है, एक तो अपना प्रतिपक्षी यदि सैन्यबलमें बढ़ जायगा तो उसकी चढ़ाईका भय होगा और दूसरे यह कि युद्धकी सामग्रीपर ही अपनी सारी शक्तियोंको युक्त करनेमें हमने इस मामलेको ठीक ठीक समझनेकी कोशिश न की, इससे भी झगड़ेमें प्रवृत्त हो जानेका डर है। इन दोनोंमें कमसे कम दलीलसे यह सिद्ध हो सकता है कि दूसरा डर अधिक महत्वका है। इस तरह अपना मत मैं प्रकट करता हूं तब भी जन्मसे जो यह मेरा कट्टर विश्वास रहा है कि जिस राष्ट्रपर चढ़ाई हो वह जबतक पैसा पास हो और जबतक दममें दम रहे अपने वैरीसे पीछे न हटे, इस विश्वास में मैं तनिक भी नहीं डिगता।

इस मामलेमें दो कार्य्योंमें कोई एक करना बहुत आसान मालूम होता है यद्यपि इस आसानीमें हानि अनिवार्य्य है। एक तो यह कि व्यवहार-शास्त्रियोंके अनुकूल और सब बातोंको छोड़कर युद्धकी सामग्रीको ही पूर्ण करनेमें अपनी सारी शक्ति लगा देना, दूसरे यह कि शान्तिवादियोंके अनुसार युद्धकी पाशविकता तथा अनीतिको समझकर स्वरक्षाके प्रयत्नोंको बुरा समझना। इस मामलेमें तो ऐसे कार्य्यकी आवश्यकता है जिसमें इस बड़े प्रश्नके दोनों भाग समाविष्ट हों अर्थात् इस मामलेमें राजनीतिक सुधारके लिए शिक्षाका प्रबन्ध करना तथा स्वरक्षाकी इतनी सामग्री रखना कि जबतक यह सुधार न हो जाय तबतक आक्रमणकी वर्त्तमान प्रवृत्तिका मुकाबला हो सके। इन दोनोंमें किसी एक भागपर सारी शक्ति लगा देना इस मामलेको बिलकुल असाध्य कर देना है।

यदि "व्यवहार-शास्त्रीका" अनुकरण करके सभी जातियाँ अपनी अपनी शक्तियोंको समर-सामग्री ही जुटानेमें लगा दें तो इसका क्या अनिवार्य्य परिणाम होगा?

एक विपक्षीने बड़ी कठिन समस्या समझकर मुझसे यह प्रश्न किया कि "तुम्हारी क्या यह धारणा है कि हमको अपने वैरीसे अधिक बलवान होना चाहिए, अथवा उससे कमज़ोर?"

इसपर मैंने यह उत्तर दिया कि "पिछली बार यह प्रश्न मुझसे जर्म्मनोंने बर्लिनमें पूँछा था। आपकी रायमें मुझे उनको क्या उत्तर देना चाहिए था?" यही, जिसका भाव यह होता, कि एक ही पक्षकी दृष्टिसे इस प्रश्नका निबटारा करना असंभवको संभव करना है। इसका फल होगा युद्ध, और युद्धसे निबटारा नहीं होगा, निदान फिर उसी चक्करको प्रारम्भ करना और उसीमें पड़ना होगा।

(Navy League) नौ-सेना-समितिकी प्रश्नोत्तरीमें यों है कि "स्वरक्षा उसे कहते हैं कि इतना बलवान हो जाओ कि वैरीको तुमपर आक्रमण करनेमें हानिका भय हो।" मिस्टर चर्चिल तो नौ-सेना-समितिसे भी एक कदम आगे बढ़कर कहते हैं कि युद्धको असंभव करनेका उपाय यही है कि विजयको अवश्यम्भावी कर दिया जाय।

नौ-सेना-समितिके सूत्रका प्रयोग व्यवहारिक राजनीतिमें तो किंचिन्मात्र संभव भी है—क्योंकि उभय पक्षकी स्थूल समानतासे

भी परस्पर आक्रमणमें हानिका भय* होगा। किन्तु मिस्टर चर्चिलके सिद्धान्तका प्रयोग व्यवहारिक राजनीतिमें असंभव है, क्योंकि उसका प्रयोग एक ही पक्ष कर सकता है और नौ-सेना-समितिके सिद्धान्तसे जिसे स्वरक्षा कहेंगे उस स्वरक्षाके अधिकारसे भी एक पक्ष वंचित रह जाता है। सबसे सीधी बात तो यह है कि नौ-सेना-समिति एकके मुकाबले दो जहाज़ मांगकर और मिस्टर चर्चिल अवश्यम्भावी विजयकी कामना करके, दोनोंके दोनों इस मामलेमें जर्म्मनीको स्वरक्षाधिकारसे वंचित करते हैं। और हमारी ही सी प्रवृत्तियोंसे प्रेरित कोई भी जाति जब इस तरह स्वरक्षाधिकारसे वंचित की जायगी तो क्या युद्धघोषणा करनेको उत्तेजित न होगी ? जब नौ-सेना-समिति यह कहती ही है कि किसी स्वाभिमानिनी जातिको अपनी रक्षाके विषयमें विदेशियोंकी भलमनसाहतपर निर्भर न करना चाहिए प्रत्युत अपने ही बलपर अवलम्बित रहना चाहिए, तो परोक्षभावसे वह जर्म्मनीसे यों कह रही है कि तुम यदि स्वाभिमानिनी जाति हो तो किसी न किसी तरह हमारे बराबर रहनेका प्रयत्न करो। जब मिस्टर चर्चिल एक कदम आगे बढ़कर कहते हैं कि प्रत्येक जातिका अधिकार है कि अपने आपको इतनी बलवती कर ले कि उसे अपने वैरियोंपर विजयी होना निश्चय हो जाय, तो उन्हें यह भी विदित होगा कि यदि जर्म्मनी उनके ही सिद्धान्तानुकूल चले तो उसका आवश्यक परिणाम युद्ध ही होगा।

इस भावी आपत्तिपर ही विचार करके मिस्टर चर्चिल कहते हैं कि जहां जर्म्मनीके लिए समुद्रपर पूर्णाधिकार प्राप्त करना व्यसनमात्र है वहां ब्रिटेनके लिए इस अधिकारकी रक्षा राष्ट्रीय जीवनके लिए आवश्यक है, और इसके लिए जर्म्मनीका प्रयत्न वहमसे ही है, उसके राष्ट्रकी वास्तविक आवश्यकताओंसे प्रवर्त्तित नहीं है, न तो राष्ट्रीय आवश्यकताओंसे आवृत किसी आवेगसे प्रेरित है। †

---

* जर्म्मन नौ-सेना-आईनकी भूमिकामें भी ब्रिटिश नौ-सेना-समितिकी प्रश्नोत्तरीके यही वाक्य लिखे जा सकते थे।

† १६ जनवरी सन् १८९७के स्पेक्टेटरमें यह बात दिखलायी गयी है कि यदि इंगलैंड युद्धघोषणा करे तो जर्म्मनीकी कैसी शोचनीय दशा होगी। इसी पत्रने, जो आज विरुद्ध जर्म्मन जलसेनाका अर्थ इंगलैंडपर भावी आक्रमण लगाकर कुढ़ता है उस समय यों लिखा था, "जर्म्मनीका जलव्यापार-प्रबन्ध बहुत

अगर यही बात सच्ची है तो मेलजोलसे इस मामलेको तय कर लेनेके पक्षमें—इस पुस्तकके उद्दिष्ट विषयके अर्थात् युरोपके राजनीतिक सुधारके पक्षमें—इससे अधिक पुष्ट दलील क्या हो सकती है।

मिस्टर चर्चिलके पक्षवालोंका यह कहना है कि जर्म्मनीकी ओरसे चढ़ाईका इतना डर है कि हमको अत्यन्त अधिक वा कमसे कम दूनी शक्तिकी आवश्यकता है। जर्म्मनी इतने जोखिममें पड़नेको तैयार है कि यदि हमारा जीतना अवश्यम्भावी न हो तो उसकी चढ़ाई अवश्य ही होगी। साथ ही साथ वह यह भी समझाते हैं कि इन बड़े बोझों और बड़े बड़े जोखिमोंका पैदा करनेवाला मनोवेग

विशाल एवं विस्तृत है। जर्म्मन पताका सब जगह फहराती है। किन्तु युद्ध छिड़नेपर जर्म्मनीके समस्त व्यापारी जहाज़ हमारे अधिकारमें हो जायँगे। संसारके समस्त समुद्रोंमें हमारे जहाज़ जर्म्मन जहाज़ोंको पकड़पर ज़ब्त कर लेंगे। युद्धघोषणाके पहले ही सप्ताहमें जहाज़ोंकी ज़ब्तीसे जर्म्मनीके करोड़ों रुपयेपर पानी फिर जायगा। इतना ही नहीं। हमारे उपनिवेशोंमें जर्म्मन व्यापारी कोठियां फैली हुई हैं और कठिन प्रतियोगितापर भी उनका व्यापार धूमधामसे चल रहा है।......हम उनसे क्रूरताका व्यवहार तो कभी न करेंगे किन्तु युद्धका परिणाम यही होगा कि उन्हें जो कुछ मिले उतनेपर ही कोठियां बेचकर जर्म्मनी चले जाना पड़ेगा। इस तरह जिस जगद्व्यापी व्यापारकी सृष्टिमें अनेक वर्षोंका परिश्रम लगा है उसे जर्म्मनी एक आनकी आनमें खो देगा।......फिर यही सोचो कि उसके बन्दरोंके बन्द हो जानेसे उसके व्यापारका क्या हाल होगा। हम्बर्गकी संसारके सबसे बड़े बन्दरोंमें गिनती है। जब उससे एक भी जहाज़ आने जानेका सम्बन्ध न रख सकेगा तो उसकी क्या दशा होगी? दीवारबन्दीका कायम रखना तो कठिन ज़रूर है किन्तु हम्बर्ग ऐसी जगह है कि यह क्रिया कठिन न होगी। सच पूछिए तो बाल्टिक वा उत्तरीय समुद्रपरके किसी जर्म्मन बन्दरकी चारों ओर दीवारबन्दी कर देनेमें बहुत कठिनाई न होगी।......जिस दिन उसकी ध्वजा सागरोंमेंसे गिरा दी जायगी, जिस दिन उसके बन्दरोंकी राह बन्द कर दी जायगी, उस दिन सोचना चाहिए कि जर्म्मनीकी क्या दशा होगी! संभव है कि उपनिवेशोंके निकल जानेसे उसे कुछ चिन्ता न हो क्योंकि वह तो बोझमात्र हैं, किन्तु समुद्रपारका व्यापार हाथसे निकल जाना जर्म्मनीके ऊपर तुरन्त कमसे कम डेढ़ करोड़ रुपयोंका दंड हो जायगा। साफ़ शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि जर्म्मनी चाहे जितनी चतुराई और बुद्धिमत्तासे युद्धका प्रबन्ध करे युद्धसे उसकी बहुत बड़ी हानि होगी और हमलोगोंकी कोई भी हानि नहीं होगी।" इतनेपर भी अंग्रेज़ जलसेनासचिवके मुखसे जर्म्मनोंको यह सुनना पड़ता है कि जर्म्मनीकी जलसेना अनावश्यक एवं व्यसनमात्र है!

एक वहम है, शौक ही शौक है और राष्ट्रको वस्तुतः इसकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है।

वस्तुतः यदि बात यही है तो युरोपमें शिक्षाके एक महान आन्दोलनकी आवश्यकता है और वह समय आ गया है कि साढ़े छः करोड़के लगभग मनुष्यको—जो धनाढ्य तो नहीं हैं किन्तु जिनके गाढ़े पसीनेकी कमाईसे यह चढ़ाऊपरी संभव है—यह मालूम हो जाय कि असल बातें क्या हैं। इस वहमके पीछे गये दस बरसोंमें फ्रेंचों और जर्म्मनों दोनोंका फ्रांसके दिये हुए क्षतिपूरणकी अपेक्षा कहीं अधिक लग गया। क्या मिस्टर चर्चिल ऐसी कल्पना करते हैं कि ये करोड़ों मनुष्य इस चढ़ाऊपरीको वहम वा शौकमात्र जानते वा समझते हैं? और यदि वे जानते होते तो जर्म्मन सरकारको क्या यह बाज़ी खेलते रहना सहज होता?

किन्तु गये दस बरसोंमें जो लोग इंगलैंडमें जभी तभी सेना-वृद्धिके लिए जी जानसे आन्दोलन मचाते रहे हैं वह ऐसा कभी नहीं समझते कि जर्म्मनी जो कुछ कर रहा है उसका वहम मात्र है। वे युरोपके लोकमतके अंश हैं इसलिए इस साधारण युरोपीय सिद्धान्तके अनुयायी हैं कि जर्म्मनीको फैलनेकी आवश्यकता है, अपनी बढ़ती हुई आबादीके लिए भोजन और जीविकाका उपाय ढूंढ़ना है, अतः वास्तविक राष्ट्रीय अड़चनोंसे लाचार हो उसे ऐसा करना पड़ता है। अगर बात यही है तो जब हम जर्म्मनीसे कहते हैं कि तुम इस झगड़ेको छोड़ दो तो हम उसे यह कहते हैं कि तुम जानबूझकर उन लाभोंसे भावी जर्म्मन सन्तानको वंचित रक्खो जिन्हें आजकलके जर्म्मनीकी शक्ति और साहससे तुम ले सकते, अर्थात् तुम होनहार जर्म्मन सन्ततिको धोखा दो। यदि हमारा साधारण सिद्धान्त सत्य है तो हम दूसरे शब्दोंमें जर्म्मनीको राष्ट्रीय आत्महत्या* कर लेनेका उपदेश दे रहे हैं।

---

* इस विषयमें अंग्रेज़ोंका वास्तविक विश्वास यह है—"जर्म्मनी ब्रिटेनपर आक्रमण क्यों करेगा? क्योंकि जर्म्मनी और ब्रिटेन व्यापारी और राजनीतिक स्पर्द्धी हैं, क्योंकि जर्म्मनी ब्रिटेनद्वारा शासित वर्त्तमान साम्राज्य, उपनिवेशोंकी तथा उसके व्यापारकी लालसा रखता है। यदि पंचायत वा सेनाको सीमित करनेकी पूछो तो इस प्रस्तावको जर्म्मनीकी दृष्टिसे देखनेके लिए कल्पनाको बहुत दूरतक ले जानेकी आवश्यकता नहीं है। यदि मैं जर्म्मन होता तो कहता कि 'ये टापूवाले

हम यह क्यों मान लें कि जर्म्मनी ऐसा ही करेगा? यह कैसे मान लिया जाय कि जर्म्मनी अपने राष्ट्रीय इष्टोंकी रक्षामें अपनी सन्तानकी रक्षामें कम ध्यान देगा और बड़े बड़े राष्ट्रीय मनोवर्गोंका हमारी अपेक्षा कम पक्षपाती होगा? क्या वे दिन बीत नहीं गये जब कि शिक्षित लोग भी चुपचाप मान लेते थे कि न तीन परदेसी न एक अंग्रेज़? इसे हम कितना ही भद्दा और मूर्खताका विचार क्यों न कहें, पर यही एक विचार है जिससे सेनावृद्धिवाली कूटनीतिका चलना संभव है।

यहांतक कि अमीराल फ़िशर भी लिखते हैं—

संसारकी शान्ति-व्यवस्थाकी रक्षाका सबसे उत्तम उपाय ब्रिटिश जलसेनाका आधिपत्य ही है।.........यदि तुम इस बातका देस परदेस सब जगह निश्चय करा दो कि तुम सदैव युद्धके लिए कमर कसे तैयार हो, तुम्हारा प्रत्येक वीर योद्धा सेनामें सबसे आगेकी व्यूहमें सदैव मारनेमें अगुआ होनेको प्रस्तुत है, तुम वैरीको पेटमें ही भोंक दोगे, गिराकर खूब लतियाओगे और जिनको पकड़ोगे तेलके जलते कड़ाहेमें भून डालोगे, उसकी स्त्री और बालकोंकी अनेक यातनाएं करोगे—तो और लोग अवश्य तुमसे बचकर रहेंगे, एवं तुमपर चढ़ाई न करेंगे।"

केवल इस डरसे ही कि ऐसा करनेसे कोई उनके पेटमें छुरी भोंक देगा इत्यादि, क्या अमीराल फ़िशर किसी कामको करनेसे रुक जायँगे? इस बातसे वे बड़ी घृणा करेंगे प्रत्युत संभव है कि यह जवाब दें कि इस धमकीसे तो और भी उस कामको ही करनेको उत्तेजित हो जायँगे। फिर अमीराल फ़िशर ऐसा क्यों माने लेते हैं कि उन्हींके हाथ साहसका इजारा है और जर्म्मन अमीराल उनकी सी नहीं करेगा? अभी क्या वह समय नहीं आया कि हम बालकों-के से विचार छोड़ दें कि संसारमें हमारे ही हाथों साहस और यत्नशीलताका इजारा लिख गया है और जिन बातोंसे हम न तो

बड़े चालाक हैं। इन्होंने पृथ्वीके सबसे उत्तम भागोंको चारों ओरसे घेर लिया है, पांच महाद्वीपोंमें इन्होंने किले और बन्दर या तो मोल लिये या छीन लिये, संसारके व्यापारमें ये ही अगुआ हैं, संसारका वैदेशिक व्यापार इनकी ही मुट्ठीमें है, अब ये ही प्रस्ताव करते हैं कि हमलोग सबके सब भाई भाईका बर्त्ताव करें, और अब हम परस्पर न तो लड़ें न किसीका स्वत्व हरण करें!"
(Robert Blatchford, "Germany and England," pp. 4-13.)

डरेंगे और न कभी अपने कामोंमें रुकेंगे उनसे ही हमारे वैरी डर वा रुक जायँगे ?

तिसपर भी इस मामलेमें हम मान लेते हैं कि या तो हमारी अपेक्षा जर्म्मन कम यत्नशील होंगे, अथवा इस झगड़ेमें पहले जर्म्मनोंकी ही हानि होगी, किन्तु एकके मुकाबले दो जहाज़का मतलब क्या निकला ? पाठकगण देखें कि लार्ड राबर्ट्सके समवर्गी शान्तभावसे सवाअरब रुपयोंके जलसेना-बजटकी चर्चा कर रहे हैं, कहते हैं कि संसारभरका लाभ होगा और भविष्यत्में सब तरहका लाभ होगा, किन्तु अभी निकटवर्त्ती भविष्यत्में लाभकी संभावना नहीं है।* यदि हम इतनी रकम आज दे सकते हैं, तो जर्म्मनी भी जो उद्योगमें हमारी अपेक्षा अधिक वेगसे बढ़ रहा है क्या न दे सकेगा ? किन्तु जर्म्मनी तबतक इस हद्तक पहुँच चुका रहेगा, उसी हिसाबसे हमको भी जलसेना बजटको ढाई अरबतक बढ़ाना पड़ेगा अर्थात् सेनाविभागका कुल बजट पौनेचार अरबके लगभग पहुँचेगा। जितने ही दिनोंतक यह चढ़ाऊपरी चलेगी हमारी दशा उतनी ही बिगड़ती जायगी, क्योंकि हम लोगोंने बढ़ती हुई वृद्धिसे अपना आगम आप रोक रक्खा है।

परिणाम झगड़ाके सिवाय कुछ नहीं है और उसे छेड़नेकी कूटनीति अपना सिर उठाये ही हुए है।

सर एडमंड काक्स एक अग्रणी अंग्रेज़ी मासिकमें [*Nineteenth Century*, Aprli, 1910.] यों लिखते हैं—

जहाज़ बनानेकी इस व्यर्थ निरन्तरकी चढ़ाऊपरीसे छुटकारा पानेका कोई उपाय भी है ? हां, है। वही उपाय है जिसे क्रामवेल, विलियम पिट, पामर्स्टन और डिस्राएलीने बहुत पहले ही किया होता। वही उपाय है, वही परिणाम है कि जर्म्मनीसे कहा जाय कि "जो कुछ तुम अबतक करते रहे हो वह मित्रताका काम नहीं था। तुम्हारे चिकने चुपड़े शब्द कोरे ही हैं। तुम्हें युद्धकी तय्यारियोंको सदैवके लिए बन्द ही कर देना पड़ेगा। यदि हमको मालूम होगा कि तुम ऐसा नहीं करते हो तो हम तुरन्त ही तुम्हारे सारे लड़ाऊ जहाज़ और बजड़े डुबा देंगे। तुमने जैसी परिस्थिति कर रक्खी है, हमको असह्य है। यदि तुमको हमसे

* "Facts and Fallacies." An answer to "Compulsory Service," by Field-Marshal Earl Roberts, V. C., K. G.

लड़नेकी इच्छा हो, यदि तुम युद्धके भूखे हो, तो युद्ध किया जायगा, किन्तु युद्धका समय निर्णीत करनेवाले हम होंगे, तुम न होगे, और वह समय यही होगा, आजका ही होगा।"

हमारी वर्त्तमान कूटनीति—अर्थात् युरोपके राजनीतिक सिद्धान्तके सुधारका प्रयत्न न करके अंधाधुंध युद्धसामग्री बढ़ाते ही जाना—अन्तको यही अनिवार्य्य परिणाम दिखाती है॥

तीसरा अध्याय

क्या राजनीतिक सुधार संभव है ?

विवेककी बातें माननेकी प्रवृत्ति मनुष्योंमें कम होती है, "इसलिए हम विवेककी बातें ही न करें"—क्या मनुष्योंके विचार नहीं बदलते ?

हम अबतक यह समझा चुके हैं कि—

१—चढ़ाई करनेकी कोई प्रवृत्ति होती है तभी बचावके उपायों-की आवश्यकता होती है ;

२—इसीलिए वह प्रवृत्ति ही बचावके प्रश्नका एक अंश है।

३—इस विषयमें उदाहृत युरोपीय जातियोंकी नाईं जब एक पक्ष दूसरे पक्षके बराबर ही बहुत कालतक युद्धसामग्री बढ़ाते जानेकी क्षमता रखता है तो हम सामग्रीमात्रसे इस उलझनको तनिक भी सुलझा नहीं सकते। हमको मूल उत्तेजक कारणपर अर्थात् आक्रमणकी प्रवृत्तिपर विचार करना चाहिए।

४—यदि प्रकृत बातोंको ठीक ठीक जांचनेपर ही प्रवृत्ति उत्पन्न होती है; यदि दूसरोंसे बलपूर्वक लाभ उठानेकी क्षमतापर ही राष्ट्र-की भलाई एवं अभ्युदय वस्तुतः निर्भर है तो युद्धसामग्री-वृद्धिकी वर्त्तमान स्थिति और युद्धसे ही उसका कम होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य्य परिणाम है।

५—किन्तु यदि यह विचार भ्रममूलक है, तो युरोपीय लोकमत जितना ही इस भ्रमको यथावत् पहचान लेगा उतनी ही इस उलझनके सुलझनेमें हमारी उन्नति समझी जानी चाहिए।

इस तरह अन्तको हम उन लोगोंकी बहसकी हद्तक पहुँचे जो परोक्ष वा अपरोक्ष भावसे इस विषयमें सुधारके आन्दोलनका विरोध करते हैं।

यह बात दिखायी जा चुकी है कि गत दो चार वर्षसे इसके विरोधी लोग अपनी विरोध-स्थितिको ऐसा बदलते रहे हैं जिससे कुछ अर्थविशेष निकलता है। पुराने राजनीतिक-मत-रक्षकोंकी

मूल प्रतिज्ञा यह थी कि जिस आर्थिक सिद्धान्तका स्थूल रूपसे यहां निरूपण हुआ है वह सिद्धान्त भूलमात्र है, फिर उनकी प्रतिज्ञा यह हो गयी कि सिद्धान्त तो स्वतः ठीक है किन्तु विषयसे असंगत है क्योंकि राष्ट्रोंमें जो परस्पर झगड़ा है उसका कारण स्वार्थ नहीं है, प्रत्युत आदर्श है। इसके उत्तरमें स्वभावतः यह प्रश्न उठा कि स्वार्थको छोड़ और कौन से आदर्श आजकलके उस बड़े झगड़ेके कारण हैं जिसे वर्त्तमान कालके झगड़ोंका नमूना समझना चाहिए —अर्थात् जर्म्मनी जो इंगलैंडपर आक्रमण करनेवाला है उसमें वह कौन से प्रवर्त्तक आदर्शपर प्रयत्न कर रहा है? इसलिए वह प्रतिज्ञा भी छोड़ दी गयी है। इसपर हमसे यह कहा गया कि मनुष्य समझबूझसे नहीं किन्तु मनके आवेगोंसे किसी कार्य्यमें प्रवृत्त हो जाता है। इसपर विरोधियोंसे यह प्रश्न हुआ कि यदि ऐसा ही है तो राजनीतिक महत्व, उसकी कूटनीतिक चालें और गुटें तथा मैत्री और सधीवदी बातोंमें असाधारण वेगसे जो परिवर्त्तन होता है—जिन सबमें यही प्रतीत होता है कि बड़ी गंभीरतासे सोच विचारकर और असत्य-मूलक होनेपर भी सूक्ष्म तर्कणाके द्वारा इस परिवर्त्तनको निर्णीत किया गया है—इसकी क्या व्याख्या है, और यह भी पूछा गया कि क्या अनुभवसे यह प्रकट नहीं होता कि यद्यपि पूर्वनिर्णीत क्रमसे कार्य्यसाधनमें चित्तकी उग्रताके अनुकूल ही शक्ति लगे, तथापि कार्य्यसाधनका क्रम और उसके उद्दिष्ट मार्गका निर्णय भिन्न रीतिसे होता है। अपने जन्मके वैरी ज्ञानदासको दूरसे अनुमान करके अभिमन्युसिंहके हृदयमें द्वेषाग्नि धधकने लगती है और उसकी हत्याका विचार करता है। जब निकट आता है तो देखता क्या है कि वह मनुष्य ज्ञानदास नहीं है किन्तु उसका शान्त और सीधे स्वभाववाला पड़ोसी दयाराम है। अभिमन्युसिंहके मनसे हत्याका संकल्प दूर हो जाता है। इससे उसका स्वभाव नहीं बदला प्रत्युत एक साधारण सी बातको समझ जानेसे मनोद्वेगका मार्ग बदल गया। इस मामलेमें भी हमारा यही उद्देश्य है कि हम यह दिखला दें कि लड़ाकी जातियां दयारामको ज्ञानदास समझ रही हैं।

अब विरोधियोंका अन्तिम उत्तर इस मताग्रहमें रहा कि यद्यपि वास्तविक घटनाओंके विषयमें तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है तथापि उसका उपपादन कभी नहीं हो सकता, तथा राजनीतिके

विवेकी युरोपके जिस राजनीतिक सुधारकी चर्चा करते हैं वह अनहोनी बात है; इसमें इतना बृहत् मत-परिवर्त्तन समाविष्ट है कि कई पीढ़ियोंकी शिक्षापर ही ऐसे परिवर्त्तनकी आशा की जा सकती है।

मान लो कि यह बात सच है। तो फिर ? क्या राजनीतिक मंडलीके मस्तिष्कमें अनुचित एवं भयानक विचारको बिना छेड़-छाड़ रहने देना और निठुरतासे सब बातोंसे विरक्त हो जाना उचित है ?

यह परिणाम कर्म्मनीति नहीं है, किन्तु "किस्मत वा अल्लाह-मियांकी मरज़ीके" भरोसे बैठे रहनेवालोंकी नीति है।

जो लोग पाश्चात्य संसारके आवेगों और परम्परागत भावोंके वशीभूत हैं उनमें ऐसा भाव संभव नहीं है। हमलोग इस तरह अपने आप सब काम नहीं होने देते, हम यह नहीं मानते कि जब राजनीतिमें विवेकसे काम नहीं लिया जाता तो हम राजनीतिक मामलोंमें विवेकवाद न करें। राज्यनेताओंका समय इन बातोंके वादानुवादमें लग जाता है। हमारा साहित्य, हमारे सामयिक पत्र, इन बातोंसे घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। साधारण मनुष्यके विचार एवं उनकी बातचीत इसी विषयकी होती है। विरोधी कितना ही कहें कि मनुष्य विवेकसे काम नहीं करते, किन्तु मनुष्य तो विवेक ही छांटते हैं। और ज्यों ज्यों इस रीतिसे समझ बढ़ती जाती है त्यों त्यों व्यवहारमें भी उन्नति होती जाती है।

यह सच है कि युद्ध जहां कहीं होता है वहां विवेकके निष्फल हो जानेसे ही होता है। लोग जो कहा करते हैं कि जब परस्पर समझबूझ नहीं सकते तो झगड़ा होता है, यह बात ठीक ही है। किन्तु, क्या इसलिए समझबूझके निबटारेकी अवहेला करनी चाहिए ? प्रत्युत, क्या यह बात नहीं है कि इस कारणसे ही हमको चाहिए कि शारीरिक बलप्रयोगके बदले विवेककी शक्ति अधिकाधिक लगानेकी योग्यता प्राप्त करें ?

इस वादानुवादमें जितने मार्गसे हम चलते हैं, लाचार हो सबसे एक ही अनिवार्य्य प्राप्य स्थानको क्या हम नहीं पहुँचते ? हम किसी तरहपर चल पड़ें, जो कुछ मनसूबा रखते हों, उसे जितना चाहें विकट करें, जितना चाहें भिन्न करें, परिणाम वही

एक ही होता है—कि इस विषयमें ज्यों ज्यों मनुष्यके विचार न्याय्य होते जाते हैं त्यों त्यों वह उन्नति करता जाता है। मनुष्य अपने मन और स्वभावपर ज्यों ज्यों विजय पाता जाता है त्यों त्यों बढ़ता जाता है। इस स्थलसे फिर हम असार जल्पनाओंके उसी क्षेत्रमें पहुँच जाते हैं जिसे लोग नहीं मानते। उदाहरणके लिए *Spectator* स्पेक्टेटरको ही लीजिए—

जहांतक आर्थिक सिद्धान्तका प्रश्न है वहांतक जो हमारी पूछिये तो हम तो मिस्टर एंजेलके अनुगामी ही हैं।......यदि जातियां सम्पूर्ण बुद्धिमती होतीं और पक्के आर्थिक सिद्धान्तोंको मानतीं तो यह अवश्य समझतीं कि विनिमयमें ही शक्तियोंका संयोग है और अपने सहकारियोंसे जलना वा द्वेष करना बड़ी मूर्खता है।......मनुष्य तो जंगली, रक्तके प्यासे प्राणी हैं और जब उनके शरीरमें रक्त उबलने लगेगा तब किसी शब्द वा इशारेपर ही, अथवा मिस्टर एंजेलके अनुसार किसी भ्रमपर ही, लड़ जायँगे।

सामयिक पत्रोंकी आलोचनाके दूसरे पक्षमें मिस्टर ब्लचफ़ोर्ड सरीखोंकी लेखनीसे ठीक ऐसी ही आलोचना निकलती है। आप कहते हैं—

संभव है कि मिस्टर एंजेलकी यह धारणा ठीक हो कि आजकलके युद्धमें उभयपक्षको कोई लाभ नहीं होता। मेरा ऐसा विश्वास नहीं है, पर उनकी धारणा ठीक ही होगी। किन्तु यदि वे यह समझें कि हमारे इस सिद्धान्तसे युरोपीय युद्ध रुक जायँगे तो यह उनकी बड़ी भूल है। युरोपीय युद्धोंको रोकनेके लिए इस सिद्धान्तकी सत्यतासे ही काम न चलेगा, इसके लिए युद्धके नेताओं, कूटनीतिज्ञों, धनकुवेरों और युरोपके काम करनेवालोंको इस सिद्धान्तका विश्वास होना आवश्यक है।......जबतक राष्ट्रोंके शासक यह विश्वास करते हैं कि युद्ध उपयोगी है, जबतक उनका विश्वास है कि हमको शक्ति है तबतक युद्ध बन्द न होगा।...... जबतक इन लोगोंको निश्चय न हो जायगा कि युद्धसे कुछ भी लाभ नहीं है तबतक युद्ध चलता ही रहेगा।

इन कारणोंसे मिस्टर ब्लचफ़ोर्डका यह वाद है कि युद्धकी निरर्थकताके उपपादनसे कोई लाभ नहीं है।

मिस्टर ब्लचफ़ोर्डके मुखसे एक काल्पनिक अनुमान मैं वाद-विवादके लिए नहीं कहला रहा हूँ। यह अनुमान वस्तुतः उनका ही है। जिस लेखका अंश मैंने उद्धृत किया है उसका उद्देश्य यही है

कि ऐसी पुस्तकोंकी निरर्थकता दिखलायी जाय। वह एक तरहसे इस पुस्तकके किसी पिछले संस्करणका उत्तर था। और अन्य समालोचकोंकी नाईं उनको यह अवश्य मालूम होगा कि इस ग्रन्थका यह आशय नहीं है कि युद्ध असंभव है—[मैं इस बातपर ज़ोर देकर बराबर कहता आया हूँ कि इस विषयमें हमारी अनभिज्ञता युद्धको संभव ही नहीं किन्तु अत्यन्त संभाव्य कर देती है]—किन्तु यह आशय है कि युद्ध निरर्थक है। अब हम यह सुनते हैं कि उसकी निरर्थकताका उपपादन ही निरर्थक है!

मैंने इनके और अन्य विपक्षियोंके वादोंका यों विस्तार किया है—

युद्धके नेता और कूटनीतिज्ञ अबतक पुराने असत्य मतपर आरूढ़ हैं, अतएव हमें उन मतोंसे छेड़ छाड़ न करनी चाहिए एवं उनपर वाद विवाद हो तो हमें रोकना चाहिए।

जातियां सत्यको नहीं पहचानतीं, अतएव उन्हें पहचनवानेके कामको हमें कोई महत्त्व न देना चाहिए।

यह सत्य युरोपीय जातियोंके सुखोपजीवनपर गभीर प्रभाव डालते हैं, अतएव हमें इन सत्योंके यथेष्ट अध्ययनको नियमपूर्वक प्रोत्साहित न करना चाहिए।

यदि सर्वसाधारणको वे अवगत होते तो व्यवहारमें यह परिणाम होता कि इस बातमें हमारी प्रायः सभी कठिनाइयां दूर हो जातीं, इसलिए जो कोई उन्हें अवगत करानेका यत्न करता है वह भलामानस भाववादी है, कोरा सिद्धान्ती है, इत्यादि, इत्यादि।

"बात सत्य होनेसे ही प्रभाव नहीं पड़ता प्रत्युत सत्योंके विषयमें जैसा लोकमत होता है वैसा प्रभाव पड़ता है"।* इसलिए लोकमतको बदलनेका प्रयत्न न करें।

---

* इस पुस्तकके प्रथम संस्करणपर वादानुवाद करते हुए सर एडवर्ड ग्रेने कहा "इस पुस्तकका विषय सत्य ही क्यों न हो किन्तु जबतक जातियां उसके सत्यको निश्चय न कर लें और उनके लिए यह साधारण बात न हो जाय तबतक उनके मनमें और व्यवहारमें यह प्रवर्त्तक नहीं हो सकता।" [Argentine Centenary Banquet, May 20, 1910.]

इन सत्योंका प्रभाव कूटनीतिपर पड़े, जातियोंके व्यवहारमें ये सत्य संचालक हों, इसका उपाय यही है कि ये मनुष्योंके मनपर अपना प्रभाव डालें । इसलिए इनपर वादानुवाद व्यर्थ है।

जातियोंके विषयमें हमारे जो असत्य विचार हैं उनसे ही सारे झगड़े पैदा होते हैं । इसलिए विचारसे कुछ नहीं होता, विचार कल्पना मात्र हैं ।

इस मामलेमें लोकविचार एवं अन्तर्दृष्टि अस्पष्ट और भ्रमपूर्ण है जिससे मनोद्वेग और अविवेकसे काम होनेका डर बना रहता है, 'इसलिए अन्तर्दृष्टिको स्पष्ट और शुद्ध बनानेका हम यत्न न करें।

अविद्यासे सम्मिलित होकर कोरे मनोद्वेग और अविवेकका साम्राज्य बलवत्तम हो जाता है—(जैसे मुहम्मदी धर्म्मज्वर, चीनी बाक्सरोंका उपद्रव)—और विचारके सर्वदेशीय अभ्युदयसे ही दबता है, (जैसे धार्मिक विचारके गभीर और शुद्ध होते ही धर्म्मसम्बन्धी निष्ठुरता और भयानक क्रूरता और द्वेषका एकदम मिटजाना) । इसलिए शान्तिरक्षाका सर्वोत्तम उपाय यह है कि राजनीतिक विचारोंकी उन्नतिकी ओर ध्यान न दिया जाय ।

विचारकी उन्नतिसे धर्म्मभाव ऐसी पूर्णरीतिसे सुधर गया है कि एक मतकी व्यवहारनीतिको दूसरेके सम्बन्धमें निर्णीत कर देता है । इसलिए उस देशभक्तिके भावको जो एक राजनीतिक पक्षके व्यवहारको दूसरेके प्रति निर्णीत कर देता है विचार-की उन्नति कभी न बदलेगी ।

सब प्रश्नोंका सार यह है, कि मेरे प्रतिपक्षियोंके वादानुवादका परिणाम क्या निकलता है ? यह कि दुनियां ऐसी कुंठित बुद्धि एवं मूढ़ है कि सत्य बातें कितनी ही स्पष्ट, कितनी ही अखंडनीय हों, हमारे युगमें सीखी न जायँगी ।

यद्यपि मैं अपने प्रतिपक्षियोंकी अवहेला वा अवमानना नहीं करना चाहता तथापि मुझे इस बातका आश्चर्य्य होता है कि उन्हें यह कभी नहीं सूझती कि उनका ऐसा भाव लोकदृष्टिमें वस्तुतः

बड़ा विशाल अहंकार प्रतीत होगा। "हम" जो पत्रोंमें और समालोचकोंमें लिखते हैं इन बातोंको समझते हैं; "हम" विवेक और बुद्धिके अनुकूल आचरण कर सकते हैं किन्तु साधारण मर्त्यलोकी 'हज़ारों बरसतक' इन सत्य बातोंको नहीं समझेंगे। मुझसे कहा जाता है कि सम्पादक और समालोचक जो इस पुस्तकको पढ़ते हैं सो तो उसके सिद्धान्तोंके अनुयायी ही हो चुके हैं; "वे" अवश्य समझ सकते हैं, किन्तु यह कि कोरे कूटनीतिज्ञ और राज्यनेता भी जो राज्यों और जातियोंके कर्त्ता धर्त्ता हैं, समझ सकेंगे—यह कल्पना नितान्त असंगत और विपरीत है!

ऐसा सोचना कैसा ही किसीको स्तुत्य हो किन्तु मैं स्वयं इस कथनकी गंभीरताको कभी समझ न सका। मुझे तो सदैव ठीक इसका उलटा ही प्रतीत होता है—कि जो मुझे स्पष्ट है वह मेरे पार्श्ववर्त्तीको भी शीघ्र ही स्पष्ट हो जायगा। सबकी तरह मुझे भी अपनी योग्यताका अहंकार है किन्तु मुझे यह निश्चय है कि अपने काममें फँसे हुए व्यवहारी मनुष्यको जो सीधी सादी बातें स्वतः दिखती हैं "वह साधारण जनसमुदायकी दृष्टिसे अनन्त कालतक छिपी नहीं रह सकतीं। इस बातका विश्वास रखना चाहिए कि जैसे "हम" यह बातें समझ सकते हैं, वैसे ही कोरे कूटनीतिज्ञ और राज्यनेता, एवं संसारके साधारण कारबारी भी समझ सकते हैं।

इसके सिवाय यह भी विचारणीय है कि जो कुछ हम सामयिक-पत्रों वा पुस्तकोंमें लिखते हैं यदि उसका प्रभाव मनुष्योंके विवेकपर वा व्यवहारपर नहीं पड़ता तो हमारे लिखनेसे लाभ क्या है?

हमारा ऐसा विश्वास है ही नहीं कि मनुष्योंके विचारको बदलना वा बनाना असंभव है। यदि ऐसी बात होती तो हम सबको चुपचाप रहना पड़ता और धार्म्मिक तथा राजनीतिक साहित्यकी हत्या हो जाती। "लोकमत" मनुष्योंसे अलग कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ सुनते हैं पढ़ते हैं अथवा संगति बातचीत और नित्यके कामधामसे जो विचार सूझते हैं उनसे ही "लोकमतकी" सृष्टि होती है।

इसलिए यदि यह सत्य भी हो कि मेरे प्रतिपक्षियोंके कथनानुसार राजनीतिक मतके सुधारका मार्ग कठिनसे कठिन हो तब भी उन कठिनाइयोंसे हमारे व्यवहारमें हमारे यत्नमें अन्तर नहीं पड़ सकता। जितना ही ये कठिनाइयोंके रूपको भयंकर दिखाते हैं उतना ही हमारे प्रयत्नकी आवश्यकताको बढ़ा देते हैं।

परन्तु यह सत्य नहीं है कि हमारे उद्दिष्ट सुधारमें हज़ारों बरस लगेंगे। मैं इसपर टीका कर चुका हूं, तब भी एक पूर्वोक्त घटनाकी पाठकोंको याद दिलाता हूं। एक स्पेनीय चित्रकारने एक ऐसी घटनाको चित्रित किया जिसमें एक युरोपीय नगरमें राजन्यायालय है, बड़े बड़े रईस दरबारी तथा साधारण प्रजागण बड़े आनन्दसे तिहवार मना रहे हैं—किस बातका? किसी विधर्म्मी माताके कोषसे जन्म लेनेके अपराधमें एक सुन्दर बालक अग्निमें जलाया जायगा, इसी आंखोंको ठंढी करनेवाले दृश्यके आनन्दका!

उस दृश्यसे हमारे समयसे कितना अन्तर है? साधारणतः तीन बूढ़ोंका जीवन समझ लीजिए। जिस समय यह अत्याचार हुआ, नित्य ऐसी घटनाएं होती थीं और यह घटना उस समयके भाव और विचारका उदाहरणरूप है, किन्तु ऐसी घटनाके कितने कालके अनन्तर ऐसा अत्याचार होना असंभव हो गया? सौ बरससे भी कम। यह घटना १६८०में हुई किन्तु उस समयके बालकोंके बूढ़े होते होते संसारको यह निश्चय हो गया कि अब कभी कोई बालक जलाया न जायगा चाहे वैध न्यायालय कैसी ही व्यवस्था दे और युरोपके किसी नगरमें यह न होगा कि ऐसे रोमांचकारी दृश्यपर राजा रईस प्रजा सभी तिहवारका आनन्द मनाएँ।

या जो लोग मानवी प्रकृतिको स्थायी, और सुधारके लिए हज़ारों बरसका दीर्घ काल बताते हैं, क्या वास्तवमें यह कहेंगे कि ऐसा दृश्य फिर दुहराया जायगा? तब तो हमारी धार्म्मिक उदारता भूल है। प्रोटेस्टंटोंको ऐसे अत्याचारोंका भय है और उनको साम्प्रदायिक लड़ाइयोंका पुराना सामान—सूली, फांसी, तप्तलोहमय-कन्या, शिकंजा आदि—अपने बचावमात्रके लिए रखना चाहिए।

स्पेक्टेटरका कहना है कि "मनुष्य तो जंगली, रक्तके प्यासे प्राणी हैं, जब उनके शरीरमें रक्त उबलने लगेगा" जब उनकी देशभक्तिपर धक्का लगेगा, "तब वे किसी शब्द वा इशारेपर ही लड़ जायँगे।" अभी कलकी ही बात है जब कभी साम्प्रदायिक झगड़ा पड़ता था तब उनकी ऐसी ही दशा होती थी। राजनीतिका साम्प्रदायिक धर्म्म देशभक्ति है। साम्प्रदायिक विचारोंके एक बड़े भारी इतिहासकार लेकीने भी कहा है कि "देशभक्ति और सम्प्रदाय मनुष्योंके बड़े बड़े समुदायोंके संचालक होते आये हैं और इन्हीं दोनों शक्तियोंके विलग विलग विकार तथा परस्पर प्रभावसे मनुष्योंका मानसिक इतिहास बनता है"। *

जिस व्यापक उन्नतिने साम्प्रदायिक धर्म्मोंका सुधार किया, क्या वह देशभक्तिको अछूती छोड़ देगी? साम्प्रदायिक मत मतान्तरोंके विकट विषयमें जिस विवेक और दयाशीलताने प्रवेश कर लिया है क्या वही राजनीतिमें प्रवेश न करेगी? साम्प्रदायिक उदारताके प्रश्नमें हमारे वर्त्तमान प्रश्नकी कठिनाइयोंकी अपेक्षा कहीं विशाल और अपरिमित कठिनाइयां थीं। आजकी नाईं तब भी वास्तविक निःस्वार्थतासे प्राचीन शैलीकी रक्षा की गयी। उस समय उसका नाम धर्म्मप्रेम था अब उसका ही नाम देशभक्ति है। उस समयके बड़ेसे बड़े साम्प्रदायिक अत्याचारी निस्सन्देह वैसे ही सच्चे, वैसे ही अनन्यभक्त थे जैसे आज प्रशाके युंकर, फ्रांसके राष्ट्रभक्त और अंग्रेज़ सैनिकपक्षके हैं। आजकी तरह तब भी शान्ति और रक्षाकी वृद्धिको लोग धर्म्मका नाश भयानक अधःपतन तथा समाजको उच्छृंखल और निर्मूल करनेका हेतु समझते थे। आजकी तरह तब भी पुरानी व्यवस्थाकी रक्षा हथियारोंसे तथा शारीरिक बलप्रयोगसे की जाती थी। उस समय प्रोटेस्टंटोंपर भयानक गुप्त मंडलियों और गुप्त परामर्शका संदेह करके, केवल अपने सामाजिक और राजनीतिक रक्षाके लिए नहीं वरन् अपनी समझमें लाखों जन्म लेनेवाले मनुष्योंकी आत्माके त्राणके लिए कथलिक लोग धर्म्म-विचार-मंडलीद्वारा अपनी रक्षा और प्रोटेस्टंटोंपर अत्याचार करते थे। तब भी कथलिकको रक्षाके यह हथियार छोड़ देने पड़े और अन्तको कथलिक और प्रोटेस्टंट दोनों सम्प्रदाय

* Lecky, "History of the Progress of Rationalism in Europe."

समझ गये कि बन्दीगृहों, यातनाओं और जीता जलादेनेके भांति भांतिके कलायुक्त उपायोंकी अपेक्षा एक अस्पृश्य पदार्थद्वारा—मनुष्योंके सद्विचारद्वारा—शान्ति और जीवनकी रक्षा कहीं अधिक हो सकती है। उसी तरह देशभक्त भी अन्तको यह समझ जावँगे कि लड़ाऊ जहाज़ोंकी अपेक्षा यह कहीं अधिक अच्छा होगा कि हम और हमारे होनहार वैरी यह निश्चय कर लें कि विजय और सैनिक आधिपत्यमें आर्थिक या मानसिक कोई भी लाभ नहीं हो सकता।

मैंने जिस सौ बरसमें युरोपीयन विचारोंमें ऐसा परिवर्त्तन दिखाया है—परिवर्त्तन भी कैसा कुछ कि युरोपीय विचारोंमें ज़मीन आसमानका फ़रक़ पड़ गया, ऐसा महान विकास कि मनुष्योंका मन और स्वभाव प्रत्यक्ष बदलता दिखता था—उस सौ बरसमें समाचार-पत्रोंका तो नाम नहीं था, पुस्तकोंका भी प्रायः अभाव ही था। पुस्तकें ऐसी अलभ्य थीं कि *माद्रिदसे लंडनतकके पहुँचनेमें एक पीढ़ी लग जाती थी, भाफके बलसे छपाईका जन्म ही नहीं हुआ था, रेल तार आदि हज़ारों बातें जिनके बलसे इंगलैंडमें अंग्रेज़ राज्य-नेताके मुखसे रातके निकले शब्द सवेरा होते होते साठ लाख जर्म्मन पढ़ सकते हैं, जिनके बलसे आज दस महीनेमें उतने विचार संसारमें फैल जाते हैं जितने पहले सौ बरसमें नहीं फैल सकते थे—उस समय इन सब साधक यन्त्रोंकी सृष्टि ही नहीं हुई थी।

जब कामकी गति ऐसी मन्द थी उस समय भी युरोपमें सांप्रदायिक मामलोंमें लोकमत बदलनेके लिए दो एक पीढ़ियां पर्य्याप्त थीं। आजकल जब सब कामोंकी गति ऐसी वेगवती हो गयी है तो राजनीतिक मामलोंमें उसी लोकमतको एकाध पीढ़ीमें बदल देना क्यों असंभव समझा जाता है? क्या मनुष्यको धार्म्मिक मतकी अपेक्षा राजनीतिक मतको छोड़नेमें प्रवृत्ति कम होती है? सब कोई जानता है कि बात यह नहीं है। युरोपके प्रत्येक देशमें हम देखते हैं कि राजनीतिक सम्प्रदाय जिन कूटनीतियोंका दस बरस पहले जी छोड़कर विरोध करते थे, अब उनका ही प्रचार करते हैं अथवा कमसे कम चुपचाप उन्हें मान लेते हैं। क्या प्रमाणोंसे यह प्रकट होता है कि जो राजनीतिक पक्ष हमारा विषय है वह नवीन

* या कलकत्तेसे इलाहाबादतक। माद्रिद स्पेनकी राजधानी है।

विचारोंके प्रभाव और पहुँचसे दूर है, वा और विचारोंकी अपेक्षा विशेष रीतिसे स्थायी और वृद्धिशीलतासे रहित है?

चाहे कोई यह समझ ले कि मुझे अभिमान है किन्तु इस विषयपर और घटनाओंकी अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव डालनेवाली एक घटना पाठकोंके संमुख निवेदन किये बिना नहीं रह सकता।

आज कोई पन्द्रह बरस हुए होंगे कि पहले पहल मुझे यह बात सूझी कि हमारी सभ्य दुनियांकी कुछ आर्थिक शक्तियां ऐसी हैं जो सम्पूर्ण प्रत्यक्ष हैं, कल पुर्ज़ोंकी नाईं काम करती हैं, जिनका प्रभाव सर्राफ़ा और बंककी दरोंपर पड़ता है और संसारकी समस्त आर्थिक राजधानियोंमें बंकका ही कारबार प्रधान है। इन्हीं आर्थिक शक्तियोंके प्रभावसे मनुष्यके विचारपर ऐसे तत्त्वका दबाव पड़ेगा जो यद्यपि प्राचीन कालसे किसी न किसी अंशमें मनुष्यके कार्य्योंमें विद्यमान रहा है तथापि उसका कोई दूरगामी प्रभाव नहीं पड़ा था। जो प्रकृत घटनाएँ इसमें सम्मिलित हैं क्या उनकी सत्यतामें भी सन्देह है? मेरा काम ऐसा था कि सौभाग्यवश मुझे इस विषयपर जगन्मान्य प्रमाणरूप राज्यनेताओं तथा धनकुबेरोंसे पूर्णतया वादानुवाद करनेका अवसर मिला। इस विषयमें सन्देहको लेशमात्र स्थान नहीं था। क्या उपयुक्त समय आ गया है कि इस विषयको लोकमतके सामने स्पष्ट किया जाय? संसारकी वास्तविक अवस्थासे क्या राजनीतिक इतने अशिक्षित हैं, वर्त्तमान राजनीतिके झंझटोंमें इतने फँसे हुए हैं, कि अपने दक़ियानूसी विचारोंको छोड़ नहीं सकते? क्या वे और उनके सवर्गी व्यवहारातीत शब्दावलीके मंत्रके ऐसे वशीभूत हो गये हैं कि नया मत नहीं ग्रहण कर सकते? इसकी परीक्षा व्यवहारमें ही हो सकती है। एक छोटी सी पुस्तकमें मूल तत्त्वोंकी संक्षिप्त व्याख्या अप्रसिद्ध लेखकके नामसे, किसी विज्ञापन आदिके बिना ही प्रकाशित कर दी गयी। सब तरहसे विचार करनेसे यही स्पष्ट होता है कि उसका फल आश्चर्य्यजनक हुआ और जो लोग यह कहा करते हैं कि राजनीतिक विवेकके प्रचारका विरोध व्यापक है इस कथनकी उससे लेशमात्र पुष्टि नहीं हुई। ऐसे लोगोंने मुझे प्रोत्साहित किया जिनसे स्वप्नमें भी आशा नहीं थी। ऐसे राजनीतिक जिनका स्वार्थ सैनिक पक्षमें ही था,

प्रसिद्ध प्रसिद्ध कट्टर देशके पक्षपाती, तथा सिपाहीतक प्रोत्साहक हुए। इसका बड़ा संस्करण अंग्रेज़ी, जर्म्मन, फरासीसी, डच, डेनिश, स्वीडिश, स्पेनिश, इटालियन, रूसी, जापानी, फ़ारसी तथा हिन्दुस्तानी भाषाओंमें निकला और कहीं भी सामयिक पत्रोंने इसकी अवहेला नहीं की। उदार प्रवृत्तिके पत्रोंने सब जगह इसका स्वागत किया है। विरोधी प्रवृत्तिके पत्रोंने जितना कम विरोध किया है उतनी आशा नहीं की जाती थी।*

इस पुस्तकके परीक्षकोंका मूलाधार जो राजनीतिक विवेकका व्यापक विरोध है उसके अस्तित्वका प्रमाण क्या उपर्य्युक्त अनुभवसे मिलता है? उसपर ध्यान दिलानेसे जो मेरा उद्देश्य है वह स्पष्ट है। यदि एक अकेले अप्रसिद्ध धनहीन, अवकाशहीन व्यक्तिके प्रयत्नसे इतना संभव है, तो उपयुक्त धन तथा कार्य्यकर्त्ताओंसे सुव्यवस्थित संस्थाद्वारा क्या नहीं हो सकता? (Augustine Birrel) अगस्त्यायन विरलने कहीं कहा है कि "कुछ मत तो ऐसे हैं कि देखनेको कितने पुष्ट और दृढ़ दीवारके समान सीधे खड़े हैं

---

* मैं ज़रा भी नहीं चाहता कि पाठक यह समझने लगें कि जिन सत्योंकी मैंने यहां व्याख्या की है उन्हें मैं अपना "आविष्कार" समझता हूं, मानों यह काम पहले किसीने किया ही नहीं। सच पूछो तो विचारमें ऐसी कुछ बात नहीं है कि किसने पहले विचार किया, किसने पीछे। जातियोंके अन्योन्याश्रयकी व्याख्या तीन सहस्र वर्ष पहलेके विद्वानोंने कर रक्खी है। फ्रांसके शान्ति-सम्प्रदायवाले, (Passy) पस्सी, (Follin) फ्रोलिन, (Yves Guyot) इवस गयट, (de Molinari) डि मौलिनारी तथा (Estournelles de Constant) इष्टावरनेल्स डि कांस्टंट प्रभृतिने इस विषयमें बहुत स्तुत्य काम किया है, किन्तु जहांतक मुझे मालूम है उनमें किसीने सैनिक शक्तिके आर्थिक-निरर्थकता-तत्वको लेकर विस्तारपूर्वक आर्थिक-राजनीतिके कट्टर मतकी परीक्षा नहीं की है और युरोपीय शासन-शास्त्रकी नित्यकी समस्याओंपर इस तत्वका प्रयोग नहीं किया है। जिन प्रश्नोंपर मैंने यहां विचार किया ठीक वैसे ही विचार यदि किसीने किये भी हों तो मुझे ज्ञात नहीं है। मेरा विश्वास है कि इससे शान्तिप्रचारके जो काम पहले हुए और उत्तम रीतिसे हुए उनके यथोचित प्रशंसावादमें किसी तरहकी बाधा न पड़ेगी। यथा ऐसे सुलेखकोंमें (Jian de Bloch) येन डि ब्लाककी पुस्तक यद्यपि इससे भिन्न विषयपर है तथापि जिस योग्यतासे लिखी गयी और उसमें संख्याओंका जैसा प्रचुर प्रमाण दिया गया है, इस ग्रंथमें वैसी कोई बात नहीं है। (J. Novikow) जे० नविकोका ग्रंथ मेरी समझमें सर्वोत्तम है, उसकी चर्चा मैं कर ही चुका हूं।

किन्तु वास्तवमें बिलकुल खोखले हैं। एक धक्का लगा नहीं कि मिट्टीमें मिले। फिर धक्का दिया क्यों नहीं जाता ?"

इस मामलेमें मत-परिवर्त्तनका कार्य्य यदि स्पष्टतः थोड़ा हुआ है तो उसका कारण यही है कि प्रयत्न भी अपेक्षानुसार कम किया गया है। हममें जहां लाखों ऐसे हैं जो अपनी सारी शक्ति उस राष्ट्रीय रक्षामें लगानेको कमर बांधे तय्यार हैं जो केवल अल्पका-लिक है किन्तु प्रत्यक्ष दिखता है—अर्थात् रणपोत-निर्माण तथा सेनावृद्धिके आन्दोलन—वहां हममें केवल दर्जनों ही ऐसे निकलेंगे जो उतने ही उत्साहसे राष्ट्र-रक्षाके उस विभागमें अपनी शक्तियों-को लगावेंगे, जिससे ही वास्तविक रक्षा तथा निरन्तर रक्षा संभव है किन्तु जिसके उपाय अदृश्य हैं, अर्थात् विचारका विवेकयुक्त किया जाना।

एक बिलकुल ठीक और सच्ची बात कही गयी है। वर्त्तमान सामाजिक वा सभा-सम्बन्धी अर्थमें नेता वा शासक है ही क्या? वह एक ऐसा पुरुष है जिसका पद इसी बातपर आश्रित है कि वह अपने पक्षके लोकमतका निचोड़ ही अपना मत बनावे। इसलिए जबतक वह यह निश्चय नहीं कर लेता कि हमारा पक्ष अमुक बातको मान लेगा तबतक वह किसी बातको अपनी ओर से नहीं कहता—अर्थात् जबतक वह यह न समझ ले कि जो मैं कह रहा हूं वह मेरे पक्षके बहुसंख्यक सर्वसाधारणके मतानुकूल होगा, तबतक वह कोई बात अपनी ओरसे नहीं छेड़ता। दैवयोगसे एक बार इस पुस्तकके विषयपर ही एक फ्रेंच प्रजातंत्रीसे बातचीत आयी। उसने जो कहा उसका आशय यह था। "इस विचारमें यद्यपि मैं तुम्हारा अनुगामी हूं तथापि मेरा कुछ बस नहीं है। अभी मेरा पक्ष यह मत माननेको तैयार नहीं है, ऐसी दशामें यदि मैं इस मतका पक्ष पोषण करने लगूं तो फल यह होगा कि मेरे हाथसे नेतृत्व निकल जायगा और ऐसे पुरुषके हाथमें चला जायगा जो नये विचारोंको कम आश्रय देता है, अतः ऐसे विचारोंसे प्रचारकी संभावना बढ़नेके वदले और भी घट जायगी। यदि मैंने इस विचारको ग्रहण न भी किया होता तब भी मुझे मतानुयायी बनानेमें कोई लाभ न होता। पक्षके जनसाधारणको आप मतानुयायी बनाइये तो नेताओंको अनुयायी बनानेकी आवश्यकता ही न रहेगी।

प्रजातंत्र हो वा न हो, सभी सरकारोंकी स्थिति यही है। कथलिक और प्रोटेस्टंट राज्योंकी परस्पर संधिसे अथवा कथलिक और प्रोटेस्टंट जन समुदायोंके परस्पर सुलह कर लेनेसे धर्म्म-स्वातंत्र्यका झगड़ा नहीं मिटा। ऐसी बात तो संभव ही न थी, क्योंकि पिछले कालमें न तो कोई राज्य सम्पूर्ण कथलिक ही रहा न प्रोटेस्टंट ही। हम जो धर्म्मके नामसे होनेवाले अत्याचारोंसे आज बचे हुए हैं, उसका एकमात्र कारण यही है कि इस बातको समस्त जनसमुदायने अच्छी तरह समझ लिया कि धार्म्मिक विषयोंमें ज़बरदस्ती करना वृथा है। राजनीतिक विवेकके प्रचारमें भी इसी तरह उन्नति होगी।

वर्त्तमान दशाकी अपेक्षा अधिक अच्छी दशा लानेके लिए ऐसा कोई राजमार्ग नहीं है। यह बात तो तय मालूम होती है कि जिस

उन्नतिको हममें प्रत्येक व्यक्तिने कष्टपूर्वक विचार करके प्राप्त नहीं किया है वह हमारे लिए स्थायी नहीं हो सकती।

विद्वन्मंडलियोंमें बैठकर शान्तिपक्षमें घोषणा कर देना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिमें अत्यन्त सुगम और सुखसाध्य है। किन्तु राज्य-शासकोंपर देशभरका दायित्व है, अतः उनका परम धर्म यही है कि अपने अधीनोंका भला जिस बातमें समझें उसको सबसे आगे रक्खें तथा जिन बातोंको अबतक सर्वोपकार एवं स्वार्थत्यागपर अवलम्बित जानते हैं उनकी अवहेला करें। राज्यशासक लोग "स्वार्थ-त्यागकी" प्रवृत्तिपर तो विचार कर ही नहीं सकते। वह अपने अधीनोंकी स्वार्थरक्षाके लिए बनाये गये, न कि उसके त्यागके लिए।

यह संभव नहीं है कि जिस प्रजासे अधिकार मिलते हैं उसकी ही राजनीतिक मतकी अपेक्षा शासक लोग अधिक ऊंचे आदर्शों और कल्पनाओंपर अपनी साधारण कूटनीतिको अवलम्बित करके कार्य्यसम्पादन करें। यह सच है कि साधारण मनुष्य कहनेको तो शान्तिके आदर्शको तुरन्त ही मान जायगा, पर उसी तरह मान जायगा जैसे कुछ धार्म्मिक आदर्शोंको मान जाता है—जैसे भविष्यत्को ईश्वरपर छोड़कर निश्चिंत हो रहना, नश्वर जीवनके लिए धन न संचित करना, इत्यादि। किन्तु इन बातोंको नित्यके व्यवहारमें लानेकी उसे लेशमात्र कल्पना न होगी, प्रत्युत यह समझमें ही न आएगा कि यह आदर्श व्यवहारमें भी किसी तरह पथप्रदर्शक हो सकते हैं। शान्तिसभाओंमें वह उत्साहपूर्वक ताली बजाएगा और प्रार्थनापत्रोंपर हस्ताक्षर करेगा क्योंकि उसे विश्वास है कि शान्ति बहुत उत्तम बात है और जिस दिन मनुष्यका स्वभाव बदला उसी दिन पुलीसकी नाईं सेना भी न रह जायगी।

अमेरिकाके राष्ट्रपति टाफ़्ट और इंगलैंडके सर एडवर्ड ग्रेके बीच अन्तर्राष्ट्रीय पंचायतके विषयमें इंगलैंडमें जैसा शान्तिपक्षमें उत्साहका समुद्र उमड़ पड़ा था ऐसा बहुधा हुआ करता है और इन आन्दोलनोंमें साधारण विषयी मनुष्यके उत्साहकी सचाई, शुद्धता और चित्तैकाग्रतापर लेशमात्र शंका किये बिना ही इस भावको पूर्णतया समझा जा सकता है। परन्तु जिस बातपर ज़ोर देना आवश्यक है, जिसे जितना दुहराइए उतना ही थोड़ा है, वह यह है कि इन आन्दोलनोंमें कितना ही उत्साह, कितनी ही सचाई हो, इनसे

युरोपमें समर-सामग्री-वर्द्धिनी कूटनीतिवाले अविवेककी जड़ नहीं कट सकती। जिन बातोंसे शान्तिका प्रतिपादन होता है उनके एक अंशपर—भाव और सदाचारपर—ही ये आन्दोलन चलते हैं। और जबतक इन अंशोंमें अपरिमित शक्ति है तबतक अपनी क्रियामें अनिश्चित और प्रमादात्मक हैं, और ज्यों हो यह उत्साह घटा, तालियोंका शब्द मिट गया, स्वभावतः उस भावकी प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई, और फिर नित्यकी सांसारिक बातोंने सांसारिक झगड़ोंने आ दबाया—अपने स्वार्थकी वृद्धि, हाटोंका हाथमें करना, परराष्ट्रोंकी अपेक्षा स्वराष्ट्रके लिए अधिक लाभकी सोचना, भविष्यत्‌के लिए बन्दोबस्त करना, अपने पयत्नोंकी अच्छी व्यवस्था करना—इन सबमें फिर वही सदैवकी आदर्श-और-आवश्यकताके बीच बीच चलनेवाली शक्तिका नियम चलने लगा। आर्थिक वा व्यापारिक दृष्टिसे युद्धका क्या फल हो सकता है, इस प्रश्नपर जैसी धारणा सम्प्रति है यदि वैसी ही धारणा बनी रही तो साधारण मनुष्य यह नहीं समझेगा कि हमारा भावी शत्रु शान्तिके आदर्शके अनकूल व्यवहार करेगा। अपने पक्षसे तो एक प्रकारसे उसका यह समझना ठीक ही होता है। मैं यह बात अटकलसे वा यों ही मोटी रीतिसे नहीं कहता, वरन् बहुत सूक्ष्म रीतिसे परीक्षा और निरीक्षाद्वारा पूर्ण निश्चय करके कहता हूँ कि अपने अन्तरात्मामें वह शक्तिके आदर्शको यों समझता है कि इस आदर्शको व्यवहारमें लानेका रूप यही है कि केवल इसी कल्पनापर—कि हमारा भावी वैरी वा प्रतियोगी सद्‌व्यवहार करेगा और हमपर आक्रमण करनेकी नीचता न करेगा—हम अपनी रक्षाके उपायोंको निर्बल और सामग्रीको कम कर दें।

उसको शान्तिका आदर्श ऐसा ही जँचता है जैसे कोई कहे कि तुम अपने द्वारपर ताला न लगाओ, क्योंकि यह समझना कि लोग तुम्हारी चीज़ें उड़ा ले जायँगे, मनुष्यके स्वभावको बड़ी नीच दृष्टिसे देखना है।

औपनिवेशिक शक्तिके रूपमें जैसी उसकी राष्ट्रीय स्थिति है उसे वह अच्छी तरह जानता है कि जो कुछ छीनने योग्य है उसे छीननेको उद्यत रहनेसे एवं स्वयं बलप्रयोग करनेसे वह स्थिति प्राप्त हुई है, तिसपर भी उसे यह विश्वास दिलाया जाता है कि जो तुमने पिछले

कालमें किया है वह व्यवहार विदेशी तुमसे न करेंगे। यह बात उसके गलेके नीचे नहीं उतरती।

जब वह धर्म्मकी धुनमें रहता है तब तो शान्तिके विषयमें सुनता भी है, किन्तु साधारण दशामें इस विचारसे वह झुँझला उठता है। जब उसके स्वदेशी उसे ऐसा काम करनेको कहते हैं जो विदेशियों-से नहीं कराते, तो उसे अन्याय प्रतीत होता है। जब उसे कहा जाता है कि जिस लाभको बलपूर्वक प्राप्त किया गया है उसे एक कापुरुष आदर्शके लिए परित्याग कर दो तो यह उसे पौरुषहीनता जँचेगी।

देशभक्त यह समझता है कि शान्तिवादीकी तरह मेरी नीयत भी रत्ती भर बुरी नहीं है, और यह कि शान्तिवादकी अपेक्षा देश-भक्ति अवश्य ही उत्तम आदर्श है। शान्तिवादी और वास्तविक-राजनीतिवादीमें जो भेद है वह आचार-सम्बन्धी नहीं किन्तु विचार सम्बन्धी है और शान्तिवादी कभी कभी जो अपनेको अधिक शुद्ध आचारवाला समझ लेता है इससे ही उसके परम प्रिय उद्देश्यको अत्यन्त हानि पहुँचती है। जबतक शान्तिवादी यह न दिखा सके कि सैनिक बलके प्रयोगसे आर्थिक सुविधा नहीं मिलती तबतक साधारण मनुष्य साधारण समयमें यही विश्वास करता रहेगा कि सैन्यवादीका आचारपक्ष उतना ही दृढ़ है जितना शान्तिवादीका।

यह सुझाना कुछ भद्दा सा अवश्य लगेगा कि अबतक शान्त्या-न्दोलनकी प्रवर्त्तिनी शक्तिको ही आकाशमें चढ़ा देनेसे उसकी सफलतामें कभी कभी बाधा पड़ी है। किन्तु ऐसा दृश्य मानवी अभ्युदयमें कुछ अनोखा नहीं है। धार्म्मिक युद्ध और अत्याचारकी दुनियामें भी हमारी दुनियांकी तरह नेक नीयती थी। सच पूछिये तो उत्तम ही उद्देश्योंसे जिन लोगोंने निरपराध मनुष्योंको जलाया उनकी अनेक यातनाएं कीं, उन्हें बन्दीगृहमें डाल दिया और सब तरहसे मनुष्यके सुविचारका गला घोंटा—यह सारा अत्याचार उनके अनिरुद्ध उत्साहका फल था, किन्तु यह उत्साह ही उनकी उन्नतिके मार्गका अवरोधक हुआ।

अच्छी नीयत हो जानेसे तो नहीं, किन्तु बड़े परिश्रमसे दिमाग़ लगाकर मनुष्योंके सोचनेसे तथा अपनी पैनी बुद्धिके प्रयोगसे अन्तको उन्नतिका द्वार खुल गया।

एक तो यह कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें ऊंचेही उद्देश्यकी,

सदाचारके उच्च भावकी ही आवश्यकता है, दूसरे यह कि समस्याएं किसी न किसी अद्भुत रीतिसे विना क्रमपूर्वक तथा परिश्रमसे दिमाग़ लड़ाये ही अपने आप समझमें आ जायँगी—यह दोनों बातें जबतक हम माने बैठे हैं तबतक हमारी उन्नति नहीं हो सकती।

मानवी जीवनमें सद्भाव, दया एवं हृदयकी द्रवणशीलता बड़ी अनमोल वस्तुएं हैं, पर यही संसारमें अत्यन्त गिरी हुई जातियोंमें भी पायी जाती हैं। क्योंकि कट्टर परिश्रम और कट्टर विचारका योग उनके इन गुणोंमें नहीं पाया जाता। उन्नतिका वास्तविक मूल्य यही है। यदि यह मूल्य हम न देंगे, उन्नति भी कौड़ीभर न करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धमें "मैत्री"की क्या स्थिति है, इसपर दो एक बातें कहनी हैं। जहां कहीं सभ्य मनुष्योंका परस्पर प्रत्यक्ष संसर्ग होता है वहां थोड़ी बहुत भलमनसाहत और विनय अत्यन्त आवश्यक है; विना इसके सुव्यवस्थित समाज टुकड़े टुकड़े हो जायगा। किन्तु इन अनमोल गुणोंसे आप ही आप वास्तविक झगड़ोंका निबटारा आजतक हुआ ही नहीं। इतनी बात तो अवश्य हो जाती है कि इन्हें दूसरे सहायक कारण मिल जाते हैं। जब विनय और भलमनसाहतसे अंग्रेज़ अंग्रेज़का परस्पर झगड़ा नहीं मिटता तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि इनके द्वारा अंग्रेज़ों और जर्म्मनोंके राजनीतिक झगड़ोंका निबटारा हो सकता है? कोई राजपुरुष यदि जानबूझकर गंभीर भावसे यह कहे कि बीमाबिलपर जो लायड जार्ज और उनके विरोधियोंमें झगड़ा है वह साथ बैठकर चा पी लेनेसे ही निबट जायगा, पार्लिमेंटमें हौस-आफ़्-लार्ड्सपर, कर-बाहुल्यपर, मताभिलाषिणियोंपर, आक्सफ़र्डमें यूनानी भाषाके अपरिहार्य्य होनेपर, वैज्ञानिक प्रयोगोंमें जीते जी पशुओंकी चीड़फाड़पर—निदान ऐसे ऐसे सैकड़ों प्रश्नोंपर जो विरोधी पक्षके हैं—वह यदि साथ बैठकर भोजन कर लें तो झगड़े मिट जायँगे—यदि ऐसा कोई राजपुरुष गंभीर भावसे कहे तो हम उसे क्या कहेंगे? क्या यह मूर्खता नहीं है?

तब भी मैं विना यह कहे नहीं रह सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नोंपर विचार करनेवाला एक दलका दल हमें यह विश्वास दिलाना चाहता है कि अधिकाधिक एंग्लो-जर्म्मन-सम्मिलन, सहभोजन

तथा पादरियोंका समागम होनेसे सारे अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े मिट जायँगे। इसमें सन्देह नहीं कि वादानुवादकी सुगमताके लिए तथा स्पर्द्धोत्पादक कूटनीतियों सुलझानेकी दृष्टिसे यह बात अत्यन्त उपयोगी हैं, परन्तु इनकी उपयोगिताकी सीमा बस यहांतक है। यदि इनसे विवेक-वृद्धि न हो, यदि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंकी प्रवृत्ति और अनेक कारणोंको विना यथावत् समझे ही विपक्षियोंका सम्मिलन समाप्त हुआ, तो सम्मिलन बिलकुल निरर्थक ही रहा।

सबसे मित्रभाव रखनेसे ही संसारका काम नहीं निकलता। अन्तर्राष्ट्रीय ज्योनार-मात्रसे अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिकी उलझन सुलझ नहीं सकती। यदि संसारके बड़े बड़े प्रश्न चाय और जलपानमें निबट जाया करें तो संसारमें रहना कठिन हो जाय।

अन्य अन्तर्राष्ट्रीय बन्धनोंपर विचार न करके जो यह समझ लिया जाता है कि केवल "मैत्री और प्रेमकी" वृद्धिसे ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिमें परिवर्त्तन हो जायगा—इस कल्पनाका खंडन यद्यपि न रुचेगा तथापि खंडन न होना अत्यन्त हानिकारक है। यह बात बड़े महत्त्वकी है, क्योंकि यह सब प्रयत्न यद्यपि नेकनीयतीसे किये जाते हैं तथापि गाड़ीके आगे काठका काम करते हैं, बिलकुल उलटे हैं, और किसी पक्षमें भी स्थायी न रहनेवाले भावको प्रवर्त्तक कारण बनाते हैं, क्योंकि स्वभावतः यह भाव अधिकांश बनावटी ही हो सकता है। चार छः करोड़ मनुष्यके लिए, जिनमें अनेक भिन्न भिन्न प्रकृतिके खोटे, खरे, भले, बुरे, निकम्मे सब तरहके लोग हैं जिन्हें न कभी देखा है और न देखेंगे उनसे नित्यकी साधारण दशामें किसी विशेष प्रकारका प्रेमभाव होना मानसिक रीतिसे असंभव है। इतनी बड़ी जातिसे इतने बड़े वर्गसे वास्तविक प्रेमभाव हो नहीं सकता। यदि ऐसा संभव हो तो संसारके किसी भागसे हम सच्चा प्रेम कर सकेंगे! मैं दिखा चुका हूं कि हममें अपने देशके ही जनसमुदायसे कोई विशेष प्रेमभाव नहीं है। लायड जार्जके (Servant tax) सेवावृत्ति-करके पक्षपातियों और विरोधियोंमें, रेलवेके हड़तालियों और कम्पनियोंमें, मताभिलाषिणियों और उनके विरोधियोंमें, इसी प्रकार अनेक श्रेणियोंमें परस्पर जैसा व्यवहार है, प्रत्यक्ष ही है। देशभक्तिसे इससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं। देशभक्त तो प्रायः ऐसे लोग होते हैं जिन्हें अपने

देशवासियोंके बहुत बड़े जनसाधारणसे हृदयसे घृणा हुआ करती है। यदि इसका कोई प्रमाण चाहे तो मिस्टर (Leo Maxse) लिओ मक्सी-रचित विविध विचित्र नामों और पदवियोंको प्रतिमास पढ़ ले अथवा अपने साम्राज्य तथा राज्यके विषयमें सार्व-जर्म्मन ही जो कहते हैं पढ़ ले और मेरी बातका विश्वास करे। एक जर्म्मन समाचारपत्र तो बड़ी रुचिसे अपने राजपुरुषोंको "अंग्रेज़ोंसे तलब पानेवाले गुंडे" कहता है।

अपने ही लोगोंसे जो प्रेमभाव हम नहीं रख सकते, वही प्रेम-भाव हम विदेशियोंसे रक्खें, इस बातकी फिर हमसे क्यों आशा की जाती है? और प्रेमभाव रखना ही नहीं बल्कि आजकलके राज-नीतिक मतानुसार उस प्रेमभावके लिए हमसे बड़े बड़े स्वार्थ-त्यागकी आशा की जाती है!

यह कहना अनावश्यक है कि जहांतक सत्यभाव उन्नतिका कारण है वहांतक उसे मैं तनिक भी बुरा नहीं कहता। सद्भाव और उत्साह दैवी प्रकृति है, दैवी प्रवृत्ति है। विना इसके कोई बड़ा काम नहीं हो सकता। तब भी बुद्धिमान लोग ऐसे भावका आदर नहीं करते जो मानसिक तथा आचारविषयक संयमसे रहित है। कभी कभी संसारके भारीसे भारी गंभीरसे गंभीर भाव वा मान-सिक उद्वेगका प्रयोग खोटेसे खोटे उद्देश्यके लिए हुआ है, भौतिक जगतमें भी भाफ, बारूद, बिजली आदिकी शक्तियां यदि संयम नियमसे काममें लायी जायँ तो अत्यन्त उपयोगी काम कर सकती हैं, तथैव विना संयम नियमके इन्हीं शक्तियोंसे महा भयानक और असीम हानिकारक दुर्घटनाएं हो सकती हैं।

यह भी कहना ठीक नहीं है कि इस विषयको अधिक स्पष्ट समझ लेना मानवी महासमुदायकी साधारण बुद्धिके बाहर है। और न यही कहना ठीक है कि स्पष्ट विचारका होना टेढ़ी और विकट तर्कणाओंके समझने तथा साहूकारी और अर्थशास्त्रके विषम विषयोंपर शुद्ध विचार होनेपर निर्भर है। क्योंकि, विचारकी एक दशामें जो बातें कठिन और अस्पष्ट प्रतीत होती हैं, वही दो ही एक टेढ़ी बातोंको सीधी कर देनेपर बिलकुल साफ़ समझमें आने लगती हैं। दो एक पीढ़ी पहलेके विवेकी जादू टोना आदि अंध-विश्वासोंके उखाड़नेमें जब तनमनसे लगे थे, तब वह भी यही

सोचते रहे होंगे कि इन अंधविश्वासोंको उठा देनेमें "हज़ारों बरस" लगेंगे।

लेकीने दरसाया है कि अठारहवीं शताब्दीमें युरोपके सैकड़ों विचारपति—जो अशिक्षित गँवार नहीं प्रत्युत उत्तम श्रेणीके शिक्षित लोग थे और साक्षीपर सूक्ष्म विचार करनेमें निष्णात थे —जादू टोनेके अपराधपर नित्य सैकड़ोंको फांसी दिलाते थे। सूक्ष्म विचारवाले शिक्षित लोग भी तबतक जादूपर विश्वास करते थे। उसे झूठ सिद्ध करनेको भौतिक प्रकृतिकी प्रक्रियाओं और शक्तियोंसे बड़ी अभिज्ञताकी आवश्यकता थी और साधारणतः यही समझा जाता था कि इक्के दुक्के बुद्धिमानोंको छोड़ इस विश्वासका राज्य मानव महासमुदायपर अनिश्चित कालतक बना रहेगा।

हुआ क्या? बुद्धिमानोंके जिस साक्षीपर, जिस विचारपर हज़ारों दीन अभागे अठारहवीं शताब्दीमें अपने जीवनसे हाथ धो बैठे, उस साक्षी और विचारको आजके स्कूलके लड़के घृणाकी दृष्टिसे देखते और हँसीमें उड़ा देते हैं। क्या स्कूलके लड़कोंको इससे उन विचारपतियोंकी अपेक्षा अधिक विद्वान् और प्रखर-बुद्धिवाले होना आवश्यक है? उन विचारपतियोंको जादू टोनेकी विद्या बहुत कुछ मालूम रही होगी, उसके साहित्यसे वह अवश्य अधिक परिचित थे और उसके पक्षमें जितनी तर्कणाएं थीं उनसे भली भांति अभिज्ञ थे और यदि उन्नीसवीं शताब्दीके स्कूली लड़कोंसे उनसे इस विषयमें बहस होती तो लड़कोंको बेतरह हरा देते। परन्तु बात इतनी ही है कि दो एक अत्यावश्यक बातें स्कूली लड़कोंके विचारमें बिलकुल स्पष्ट हैं, सीधी हैं, टेढ़ी नहीं हैं कि दृष्टि-विपर्य्यय हो।

आजकलका नवीन विचारवाला जब साफ़ यह देखता है कि छोटे से राज्यका नागरिक वैसा ही सुखी है जैसे बड़े भारी राज्यका नागरिक, तो दूसरोंके देश हर लेनेकी वाहियात चढ़ाऊपरी—जो स्टेंगेलों और महानोंके विजय और राज्यविस्तारके विद्वत्तापूर्ण सूक्ष्म सिद्धान्तोंका अथवा आधुनिक राजनीतिज्ञके मतानुसार विजयकी महान उपयोगिताका रूप धारण करती है—उसके निकट असाधारण भ्रम और अत्यन्त मूर्खता जँचती है। यह बात तनिक भी टेढ़ी या कठिन नहीं है, पर इससे ही इस सत्यका भी उदय

होता है कि आधुनिक शासन केवल प्रबन्धकी बात है और जिस तरह मंचेस्टरको मिला लेनेसे लंडनका कोई लाभ नहीं है उसी तरह और जातियोंको मिला लेनेसे किसी जातिविशेषका लाभ नहीं है। आगेके स्कूली लड़कोंके निकट यह बातें ऐसी स्पष्ट होंगी कि इनकी सिद्धिके लिए प्रमाणकी आवश्यकता न होगी। जैसे एक बुढ़ियाका समुद्रमें तूफ़ान उठा देना असंभव है इसके सिद्ध करनेको प्रमाण-की आवश्यकता नहीं है, उसी तरह यह बातें भी स्वतःसिद्ध एवं प्रत्यक्ष समझी जायँगी।

इसमें सन्देह नहीं कि इस उन्नतिपर प्रभाव डालनेवाले अनेक कारण अप्रत्यक्ष होंगे। ज्यों ज्यों और और क्षेत्रोंमें हमारी शिक्षा अधिकाधिक विवेकपूर्ण होती जायगी त्यों त्यों इस विषयका समझना भी आसान होता जायगा। हमारी सभ्यताके प्रत्यक्ष कारणोंसे वर्त्तमान जगतकी एकता एवं अन्योन्याश्रय ज्यों ज्यों स्पष्ट होता जायगा—जैसा कि यह दिनपर दिन अधिक स्पष्ट हो ही रहा है—त्यों त्यों बेमेल विभागोंमें उन अन्योन्याश्रित उद्योगों-को बांटनेका प्रयत्न व्यर्थ होता जायगा। सभ्यताका अर्थ मनुष्योंमें सहकारिता भी है और मनुष्योंकी सहकारितामें जितनी उन्नति होगी उससे अन्तर्राष्ट्रीय-सम्बन्ध-क्षेत्रमें काम करनेवालोंको बड़ी सहायता मिलेगी। परन्तु यह मैं फिर फिर कहूँगा कि संसारका काम अपने आप नहीं हो जाता; मनुष्य ही करते हैं। विचारमें अपने आप उन्नति नहीं होती; मनुष्य स्वयं विचारमें उन्नति करते हैं। समझ बूझकर प्रयत्न करनेमें जितनी कुशलता आएगी उससे ही उन्नति और वृद्धि हो सकेगी।

हमको यह गौरव प्राप्त है कि भूत कालसे इंगलैंड राजनीतिक विचारोंमें, और उनके व्यवहारमें, अगुआ होता आया है। उसका साम्राज्य स्वतंत्र राज्योंका समूह है और समस्त युरोपीय राज्योंके भावी परस्पर सम्बन्धका अग्र-निरूपण है। जब पांच राष्ट्रोंने परस्पर शस्त्रप्रयोग बन्द कर दिया और बिना शारीरिक युद्धके ही परस्पर सम्बन्धको निश्चित कर लेते हैं तो वैसो ही सभ्यताके पचास और राष्ट्र भी उतना ही क्यों नहीं कर सकते?

यदि इंगलैंड अपने उपनिवेशोंको बलपूर्वक दबा नहीं सकता तो और कोई कभी नहीं दबा सकेगा। जिन जातियोंपर हमारा

"स्वत्व" है उनपर ही जब हम शक्तिका प्रयोग सफलतापूर्वक नहीं कर सकते तो औरोंपर तो और भी नहीं कर सकते। जब इन बातोंका समस्त जातियोंको निश्चय हो जायगा, समस्त संसार ब्रिटिश-साम्राज्याभ्युदयसे जो वास्तविक शिक्षा मिलती है उसे सीख जायगा, तो इतना ही होगा कि युद्धपोतोंसे इस साम्राज्यकी जितनी रक्षा संभव है उससे अधिक सुरक्षित हो जायगा, वरन् मनुष्य जातिके लिए इतना उपयोगी इतने अपरिमित महत्त्वका काम यह साम्राज्य कर लेगा जिसकी तुलनामें "मानव-जातिभरका सैनिक नेतृत्त्व"—जिस नेपोलियनके से व्यर्थ परिश्रमकी स्वप्नवत् कल्पना साम्राज्यवादियोंका एक वर्ग हमारे विषयमें करता दिखता है—ठहर नहीं सकता।

इस विषयमें अंग्रेज़ोंके अनुभव और अंग्रेज़ोंके व्यवहारको ही संसार मार्गदर्शक समझेगा और उसका ही भरोसा करेगा। इस पुस्तककी यह धारणा है कि ब्रिटिश साम्राज्यमें जिस सिद्धान्तका प्रभुत्त्व और प्रचार है उसी सिद्धान्तके समस्त युरोपीय समाजमें प्रचलित हो जानेमें ही अन्तर्राष्ट्रीय समस्याकी पूर्त्ति है। उसका प्रचार सेनाद्वारा संभव नहीं है। बड़े बड़े सैनिक राष्ट्रोंका अंग्रेज़ों-से पराजित होना असंभव है और यदि संभव भी होता तो उस सिद्धान्तका जिसपर सारा साम्राज्य ठहरा हुआ है साथ ही साथ ध्वस्त हो जाना अनिवार्य्य था। बलपूर्वक बढ़न्तीके दिन गये। अब वृद्धि होगी तो विचारसे, और नहीं तो होगी नहीं।

जातियोंमें स्वतंत्र मानवी सहकारिताके ये सिद्धान्त एक तरहसे अंग्रेज़ोंके द्वारा ही प्रतिपादित और विवर्द्धित हुए हैं, इसलिए इंगलैंडपर ही अगुआ बननेका दायित्त्व है। जिस इंगलैंडने इन सिद्धान्तोंका प्रचार अपनी ही उत्पन्न की हुई जातियोंमें किया है, यदि वही अगुआ न होगा तो क्या हम और किसीसे आशा कर सकते हैं? यदि इंगलैंडको ही अपने सिद्धान्तोंपर विश्वास नहीं है तो किसको हो सकता है?

इंगलैंडमें ही आधुनिक अर्थशास्त्रकी उत्पत्ति हुई। अब इंगलैंड-के ही विचार और व्यवहारसे एक और विज्ञानकी उत्पत्ति होनी चाहिए जिसका नाम "अन्तर्राष्ट्रीय शासन-नीति" हो और जिसमें मानवी समुदायोंके परस्पर राजनीतिक सम्बन्धोंपर यथेष्ट विचार हो। उसका प्रारंभ हो चुका है और जो लोग उसकी वृद्धि और

विस्तार करनेकी मानसिक योग्यता रखते हैं उनके द्वारा उसके ठीक ठीक क्रम-बद्ध होनेकी बड़ी आवश्यकता है।

अंग्रेज़ जातिकी व्यवहार-कुशला एवं निश्चयात्मिका बुद्धिने मानवजातिकी उन्नतिमें बड़ी सहायता दी है और यदि इस काममें भी उसी तरह उन्नतिका कारण हो तो कुछ असंगत नहीं है।

दो तीन अंग्रेज़ोंकी ही कोशिशोंसे ऐसा निःस्वार्थ श्रम ऐसा व्यवहार साध्य और विवेकपूर्ण आन्दोलन हुआ कि अंतको गुलामी बन्द ही हो गयी। ऐसे ही उद्योग और योग्यतासे और ऐसे ही विवेकपूर्ण उपायोंसे यदि अंग्रेज़ोंके संमुख यह विषय रक्खा जाय तो मुझे विश्वास है कि वह केवल इस परिश्रम और उद्योगका विशेषतः आदर ही न करेंगे वरन् इस बड़े आचारनीतिक एवं शास्त्रीय आन्दोलनमें अपने परम्परागत स्वभावसे अवश्य अगुआ बन जायँगे। मनुष्यकी स्वतंत्रता और पार्लिमेंटवाली शासनरीतिमें जो वह अगुआ रहे हैं, तो इसमें भी अगुआ होना योग्य ही है। यदि ऐसा उद्योग न हुआ यदि अंग्रेज़ोंका मन न उभड़ा, तो हम किस बातकी आशा करेंगे? हममें अबतक थोड़ा बहुत जंगली और दक़ियानूसी विचारोंके प्रति पक्षपात बना हुआ है, हम अबतक पुराने अर्थहीन शब्दोंका व्यवहार करते आये हैं और अबतक हममें वह अद्भुत आलस्य बना हुआ है जिससे पुराने विचार छोड़ देना हमें नहीं भाता। जिसपर भी हमने धर्म्मपक्षमें जंगली विचार पक्षपात आदिको छोड़ दिया। क्या हम अनन्त कालतक उन्हीं अर्थहीन शब्दोंके, उसी पक्षपात और दक़ियानूसी विचारोंके दास बने रहेंगे और राजनीतिक और आर्थिक पक्षमें वही अनर्थ बराबर होने देंगे जो पहले धर्म्मपक्षमें होते थे? खीष्ट्रीय संसारमें पहली बारह शताब्दियोंमें जैसे असंख्य सज्जन लड़ मरे, रक्तका समुद्र बहाया क़ारूँका ख़ज़ाना बरबाद कर दिया, और सो भी अंततः वाहियात असंभव बातके लिए; उसी तरह क्या हम भी लड़ते रहें, रक्तपात करते रहें और वह भी ऐसे उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिए कि जब पूरा होगा तो हमें रत्तीभर लाभ न होगा प्रत्युत वस्तुतः-उपादेय तथा सतत-प्रयत्न-योग्य उद्देश्योंका निरन्तर गला घोंटने और रक्तपात करनेका कलंक संसारकी सभ्य जातियोंके माथे लगेगा?

इति

ग्रंथकार-परिचय

इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिके विचारोंमें महान परिवर्त्तन करनेवाला राल्फ़ नारमन एंजेल लेन १८७४ ई०में इंगलैंडमें पैदा हुआ था, फ्रांसमें शिक्षा पायी और अपनी युवावस्थामें ही अमेरिकाके पश्चिमी राज्योंमें कुतूहलमात्रसे चला गया। वहांकी कौंसिलोंमें मेम्बरी चाहनेवाले किसी सज्जनके यहां लेखकके कामपर नियुक्त हुआ। उस समय राष्ट्रपति क्लीवलैंड संयुक्तराज्योंको वनोज्वलाके झगड़ोंमें ब्रिटेनके विरुद्ध उत्तेजित कर रहा था, जिससे वहांके किसान इंगलैंडपर चढ़ाई करनेके लिए शस्त्र मोल ले रहे थे कि ब्रिटेनका सर्वनाश कर डालें। बहुतेरे इसे असंभव तो जानते थे पर मिस्टर लेनको यह बात सूझी कि राजनीतिके समझनेमें सर्व-साधारणमें अवश्य कोई भ्रम फैला होगा जो दो चार मील दलदल ले लेनेके अपराधमें यह किसान अपने गाहक इंगलैंडका (और तदर्थ अपना) सर्वनाश करनेपर उतारू हैं। जिस समय मिस्टर लेन पैरिस लौटे, ड्रेफ़सके मामलेकी हलचल पड़ी हुई थी और राजपुरुषोंसे लेकर जनसाधारणतकका विश्वास था कि युरोपभर फ्रांसको मिटा देनेपर कमर बांधे हुए है और इंगलैंड इनमें अगुआ है और करोड़ों रुपये ड्रेफ़सको छुड़ाने और राज्यको उलटानेके लिए वैरी लोग फ्रांसमें भेज रहे हैं। मिस्टर लेनको फिर यही समझमें आया कि ऐसी असंभव बातपर करोड़ों प्राणियोंका विश्वास हो जाना अवश्य किसी मौलिक भ्रमसे होगा। उस समय इस भ्रमोच्छेदनपर नैतिक दृष्टिसे मिस्टर एंजेलने "Patriotism Under Three Flags" नामक पुस्तक लिखी परन्तु इनकी किसीने न सुनी।

दस वर्षतक इन्होंने फिर परिश्रम किया, इस विषयके अनुशीलनमें अनेक विषयों और वादोंका संग्रह करते रहे, महाजनों और राजपुरुषोंसे बहस की और अन्तको १९१०में एक छोटी सी पुस्तक "Europe's Optical Illusion" लिखी, और प्रसिद्ध सम्पादकों और राजनीतिकोंके पास भेजी। कई सप्ताहतक किसीने इसकी सुधि न ली। मिस्टर लेन आजकल पैरिससे निकलनेवाले एक अंग्रेज़ी समाचारपत्रका प्रबन्ध करते हैं जिसका अंग्रेज़ी बोलने-

वाली दुनियामें विस्तृत प्रचार है। इन्होंने यह दूसरी पुस्तक भी अपने ही ख़र्च से छपवायी थी। यदि इन्हें इस व्यय और परिश्रमके व्यर्थ जानेपर पछतावा होने लगा हो तो क्या आश्चर्य्य है। किन्तु एक दिन बड़े अचंभेकी बात हो गयी। यह पुस्तक शान्तिमूर्त्ति राजेश्वर एडवर्ड सप्तमने देख पायी और पढ़कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। परराष्ट्र-सचिव सर एडवर्ड ग्रेने अपनी वक्तृतामें इसकी चर्चा की। लार्ड हालडेनने जर्म्मन राजदूतसे इसकी प्रशंसा की। इटलीके राजाने इसे पढ़ा। सम्राट एडवर्डके एक बड़े मित्रने इसकी सैकड़ों प्रतियां युरोपके बड़े बड़े राजपुरुषों और शासकोंमें वितरण की। एकाएकी नार्मन एंजेलके* पास चिट्ठियोंके ढेर लग गये। आशाभग्न लेखकके हृदयकी मुरझाती कली खिल गयी। सभ्य संसारकी समस्त भाषाओंमें, पार्लिमेंटोंसे, कौंसिलोंसे, राज-प्रसादोंसे, धुरन्धर राजनीतिकोंके दफ़्तरोंसे इतने पत्र आने लगे [और आजतक उनका तार नहीं टूटा है] कि लेखकोंको समयपर उत्तर देना असंभव हो गया।

ग्रन्थकारने उस पुस्तकका फिरसे संशोधन और परिवर्द्धन करके "The Great Illusion"के नामसे प्रकाशित किया। राजनीतिकोंमें इसके विरोधी युद्धवादियोंकी समालोचनाओं और परीक्षाओंपर बराबर विचार करके नार्मन एंजेलने इसके प्रत्येक संस्करणमें परिवर्द्धन किये हैं। दो वर्षके भीतर इसके अंग्रेज़ीमें बारह संस्करण निकल चुके थे और बीस भाषाओंमें अनुवाद हो चुका था। अबतक नवीन संस्करण बराबर निकलते जाते हैं। संसारके नामी सामयिक पत्रों तथा राजपुरुषोंने इसकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है और इसको डारविनके "Origin of Species"के समान विचारमें परिवर्त्तन करनेवाला बतलाया है। यह ग्रंथ १९१२के अगस्तवाले संस्करणका अनुवाद है।

[अंग्रेज़ीकी पुस्तक "The Great Illusion"के दाम दो रुपये हैं और मिस्टर एफ़. टी. ब्रुक्स, (F. T. Brooks) व्यासाश्रम पुस्तकालय, मैलापुर, मद्राससे मिल सकती है।]

अनुवादक

---

* ग्रन्थकारका यह अधूरा नाम है। इसी अप्रसिद्ध अधूरे नामसे इस ग्रंथका प्रकाश हुआ किन्तु आज यह अधूरा ही नाम ऐसा प्रसिद्ध हो गया है कि पूरा नाम कम लोग जानते हैं।

वर्णक्रम सूची और टिप्पणियां

हुई है और तबसे आजतक जानकारी बहुत कुछ बढ़ गयी है।]

दक्षिण अफ्रिकामें बोअर-युद्धका कारण सोनेकी खानोंका समझा जाना—९९; वहां युद्ध होनेपर व्यापारकी दशा १००।

अमेरिका—साधारण बोलचालमें **अमेरिका** कहनेसे United States संयुक्तराज्योंसे अभिप्राय होता है। किन्तु अमेरिका पश्चिमी गोलार्धके समस्त प्रधान भूभाग और महाद्वीपका नाम है जिसके अन्तर्गत उत्तरीय, मध्य और दक्षिण अमेरिका तीनों हैं। इस महाद्वीपसे युरोपके लोग पन्द्रहवीं सदीतक अनभिज्ञ थे। १४९२में कोलंबसने भारतके धोखेसे इसका पता लगाया। अमेरिकाको इससे ही नयी दुनिया भी कहते हैं। नयी दुनियाकी पूरी आबादी केवल तेरह करोड़के लगभग है!

उत्तरीय अमेरिकामें ग्रीनलैंड-द्वीप, कनाड़ा, संयुक्तराज्य और मेक्सिको है, पूरी आबादी नव करोड़के लगभग है।

कनाडा—[सबसे बड़ा ब्रिटिश उपनिवेश है जो क्षेत्रफलमें युरोपसे कम नहीं है। राजधानी ओटवा है। इसके प्रसिद्ध नगर मान्ट्रील, वनकूवर आदि हैं। फ्रेंचोंने १६०८में इसे बसाया, किन्तु १७६३में ब्रिटेनको दे दिया। राजव्यवस्था पार्लिमेंटकी है जो ओटवामें बैठती है। इतने बड़े भूभागकी आबादी केवल साठ लाखके लगभग है।]

-में अंग्रेज़ सौदागर २७; -से इंगलैंडका व्यापार ४८; -को यदि जर्मनी ले ले तो? ८७-८८; किसकी मिल्कियत है? ९०-९१; -की युद्धसंख्या, २०३-६।

दक्षिण अमेरिका—[विशेषकर इसी भूभागपर स्पेनियोंने सोलहवीं सदीमें अधिकार जमाया। आजकल द० अ०के प्रायः समस्त भूभागमें स्पेनियों और पुर्त्तगालियोंके प्रजातंत्र फैले हुए हैं। ब्रेज़िल, वनोज्व्वला, कलम्बिया, इक्वेडोर, पेरू, बोलीविया, चिली, अर्जेंटिना, पराग्वे, उरूग्वे, प्रजातंत्र हैं। राज्यव्यवस्था सबमें एक सी है। केवल गियाना ही युरोपीय राज्योंके अधिकारमें है।]

-की माली वृद्धि ९०-१, २१७-८; -और उ० अमेरिकाकी एकतापर ब्रिटेनका भाव १३०; -के स्वतंत्र राज्योंमें

है जहां लंडनवाले जी बहलाने जाया करते हैं।

एशिया-मैनर—[एशियाका पश्चिम-भाग, तुर्क-साम्राज्यान्तर्गत, भूमध्य-सागर और काले समुद्रके बीचमें स्थित, प्राचीन देश।] —में जर्म्मन स्वार्थकी रक्षा और उससे ब्रिटेनका लाभ ११८—९।

कथलिक और प्रोटेस्टंट—१८४।

कलम्बिया—Columbia संयुक्तराज्योंमें एक प्रदेश और नगर।

कष्टारिका—Costa Rica मध्य अमेरिकाके दक्षिणमें प्रजातंत्र।

काक्स—की उक्ति ३००।

काबडन—(*Cobden*) [१८०४—१८६५] मुक्तद्वार व्यापारका महोपदेशक और प्रसिद्ध अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ था। इंगलैंडने अपने यहांकी कृषिकी वृद्धिके लिए कई सौ बरससे संरक्षण नीतिका अवलम्बन करके बाहरके अनाजपर इतना कर लगा रक्खा था कि इंगलैंडनिवासियोंको महँगा पड़ता था। परिणाम यह हुआ कि वर्द्धमान जनसंख्याके लिए अन्न अपर्य्याप्त हो गया और गरीब लोग भूखों मरने लगे। अनाजके इस आईनके विरुद्ध जो सभा थी १८३२में काबडन इसका ज़बरदस्त मेम्बर बन गया और इसकी सहकारितासे १८४६में महसूल कम हो गया। इसके मरनेके चार बरस पीछे यह आईन बिलकुल उठा दिया गया। उसका कहना मुख्यतः मुक्तद्वारके विषयमें यह था कि संसारको वाणिज्यमें मुक्तद्वार होना चाहिए। एक देशसे सस्ता माल लेकर दूसरेमें महँगा बेचकर जो लाभ हो उसपर ही व्यापारको अवलम्बित करना चाहिए। किसी राज्यकी ओरसे हस्तक्षेप अनुचित है।

कायवान—तामसका पत्र २०४।

कार्लैल—[१७९५—१८८१] अंग्रेज़ी साहित्यमें उन्नीसवीं शताब्दीका एक बड़ा प्रसिद्ध लेखक।

कालिफ़ोर्निया—शान्त महासागरके तटपर उ० अमेरिकामें एक देश है जो अब संयुक्त राज्योंके अन्तर्गत है। सबसे प्रसिद्ध नगर सानफ्रांसिस्को है। १८४६तक इसका राजनीतिक सम्बन्ध मेक्सिकोसे था। उसी साल संयुक्तराज्योंकी सरकारने इसे बलपूर्वक अपनेमें मिला लिया। १८४९की संधिसे मेक्सिकोने स्वीकार कर लिया।

कूटनीति—युरोपीय सरकारोंकी —में महान परिवर्त्तन १३५—६।

कोटसे—इस मामलेमें बारकोंमें रहनेवाले सैनिकोंमें अस्वाभाविक तथा पाशविक महाघृणित दुराचारका उद्घाटन हुआ है। उसपर टैम्सकी उक्ति २२२।

जिन जिन बंकों वा व्यक्तियोंके पास दिवालियेकी हुंडी वा कागज हुआ रद्दी हो गया। इस तरह सारा साहूकारा परस्पर गुथा हुआ है और भरसक संकटमें परस्पर सहायता करके दिवाला नहीं निकलने देते। किसी भारी बंकका दिवाला निकलनेपर रुपयेके बाज़ारमें बड़ी हलचल मच जाती है। यह डर समा जाता है कि जिन बंकोंसे सम्बन्ध था उनका भी दिवाला न निकल जाय। इस डरसे लोग अपनी जमा धड़ाधड़ निकालने लगते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि बहुतेरोंके टाट उलट जाते हैं और रुपयेके बाज़ारमें हाहाकार मच जाता है, हज़ारों तबाह हो जाते हैं। रुपयेवाले यह नहीं समझ सकते कि रुपया कहां रक्खें, कहां लगावें जहां न डूबे। अतः अपने ही पास रहने देते हैं। इस तरह बड़े बड़े कारबार रुपयेकी कमीसे चौपट हो जाते हैं। इसीको "बंक-संकट" कहते हैं। धन-संकट यद्यपि अनेक रूप धारण करता है तथापि हर तरहपर साखके दुरुपयोगसे ही होता है। यह दुरुपयोग स्थूलतः दो प्रकारसे होता है। एक तो साहूकारोंकी भूलसे जो बिना काफ़ी ज़मानतके भारी भारी ऋण दे देते हैं, जो वसूल नहीं हो सकता [जैसे स्पीशी-बंकका मोतीपर ऋण देना] दूसरी व्यापारियोंकी भूलसे जो बिना विचारे फाटकेमें रकम लगाते और बेमांग माल इकट्ठा कर लेते हैं, फिर स्टाक उठा नहीं सकते; जैसे आजकल कपड़ोंके बाज़ारकी दशा हो रही है [जनवरी, १४]। पहली श्रेणीके धन-संकट उन्नीसवीं सदीमें १८४७,-५७ और -६६में इंगलैंडमें हुए और दोनों श्रेणीके १८५७ और -६०में निउयार्कमें हुए तथा १८६०में द्वितीय श्रेणीका इंगलैंडमें हुआ किन्तु साहूकारोंने एवं सरकारने बचा लिया। (जर्म्मनी) येनामें और (निउयार्क) वालस्ट्रीटमें यही धनसंकट हुए जिसमें और देशोंने सहायता की। धन-संकटके डरसे ही जर्म्मनीको युद्ध रोकना पड़ा (देखो १३१-४)। हमारे देशमें भी इस साल पीपूल्स-बंकके टूटते ही धड़ाधड़ दस बारह बंकोंके दिवाले निकल गये। यद्यपि सट्टेके कारबारसे धन-संकट उत्पन्न होता है तथापि यह प्रत्यक्ष है कि फाटकेवाले देश अधिक कारबार करते हैं और धनसम्पन्न होते हैं।

मकडूगल—२६८-७१।

मखवल्ली—११, ३३।

मनीला—फ़िलिपाइन द्वीपोंकी राजधानी।

मेम्बर था । इंगलैंडके राजा प्रथम चार्ल्सने अपने मनसे जहाजसे यात्रा करनेवालोंपर कर लगाया । पार्लिमेंट उस समय ऐसी बलहीन थी कि इन बातोंको रोक नहीं सकती थी । यद्यपि यह कर अत्यन्त कम था तथापि केवल इस अनीतिका विरोध करनेके लिए हम्पडेनने देनेसे इनकार किया, बल्कि अपना अमेरिकाका जाना रोक दिया । कौंसिलने दूसरे साल उसके जानेके विरुद्ध आज्ञा दी । हम्पडेन और चार और मेम्बरोंको राजा चार्ल्सने स्वयं पार्लिमेंटमें पकड़कर बन्दी करना चाहा था । ऐसे ही अनेक उद्धत आचरणोंसे चार्ल्स अपनी प्रजाके हाथ मारा गया । [देखो पृ० १६०]

हम्बर्ग—[जर्म्मनीमें उत्तर समुद्रका सबसे प्रसिद्ध बन्दर ।] —यदि ब्रिटेन ले ले तो क्या हो ? ४८–६ ।

हरिसेन—जर्म्मनीकी सैनिक वृद्धिसे क्या होगा ? २०–२१ -के सिद्धान्तोंमें भूल है २२–२६ ।

हरेरो—अफ्रिकाकी एक असभ्य परन्तु लड़ाकी जाति ।

हालैंड—चढ़ाई होनेपर आर्थिक रीतिसे सुरक्षित है, ३४–५; यदि जर्म्मनी मिला ले ? ३६ ।

हेगकी पंचायत— -की असफलताके कारण ३१५ । (देखो युरोपका संक्षिप्त इतिहास पृ० ३६–७ ।)

हैंडमन— -की उक्ति २६८ ।

हैम्पडेन—देखो हम्पडेन ।

शुद्धिपत्र

	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
(अनु०)	३	१८	सहायताकी	सहायता की
"	६	२०	रोम	रोमन
"	१४	१	कुस्तुन्तुनियांमें	कुस्तुन्तुनियां
"	२८	१७	मिलें	मिले
"	३३	१५	ठरहते	ठहरते
"	३६	(पृ० हेडिंग)	रूसकी	रूमकी
"	"	२१	१८६०	१८६८
"	"	२४	पदूघति	पद्धति
"	४३	२७	कभी	कमी
"	।	२८	वत्तमान	वर्त्तमान
(भारी भ्रम)	८	२४	श्रेयष्कर	श्रेयस्कर
"	१४	१४	in the	of the
"	१६	१६	एशियाका	एशियाके
"	"	२४	लिया	लिये
"	४१	११	विशेषके	विशेषको
"	७१	१६	रुपयेका...दिया	रुपयेकी...दी
"	७२	७	आबादीका	आवादीकी
"	१०१	६	चार	पौनेचार
"	१४३	३३	अपने	["अपने" इस शब्दसे नया पारा प्रारंभ हुआ।]
"	१६०	५	बढ़ाती रही	बढ़ाता रहा
"	१७०	२१	साधारण,	साधारण

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
(भा. भ.) १८८	१३	लेकी	लेकी
" "	१८	प्रक्रिया	प्रतिक्रिया
" २३२	३०	फल...युद्धके	फैल...युद्धकी
" २६०	१७	झठे	झूठे
" २६१	(पृ० हेडिंग)	राष्ट्रकी व्यक्तिसे उपमा	बचावका चढ़ाईसे सम्बन्ध
" ३००	२१	Aprli	April
" ३२८	२८	...Brooks)	...Brooks),

[इनके अतिरिक्त अनुस्वार वा मात्राओंके टूटनेकी भी अनेक भूलें हो सकती हैं जिन्हें चतुर पाठक कृपया स्वयं सुधार लें और यदि सूचना दें तो शुद्धिपत्र-विशेष भी छप सकेगा जिसके लिए वे धन्यवादके पात्र होंगे।]